समयसार वैभव

मूल प्रणेता

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य

प्रस्तवन-आशीर्वचन

सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य श्री मुनि विद्यानन्दजी महाराज

भूमिका

सिद्धांताचार्य श्री ब्र. पं. जगन्मोहनलालजी जैन शास्त्री
कटनी, हाल-कुंडलपुर (दमोह) म. प्र.

भावानुवादक : संपादक

नाथूराम डोंगरीय जैन न्यायतीर्थ शास्त्री

लेखक :

अध्यात्म रहस्य

प्रकाशक :

जैन साहित्य प्रकाशन
७०, एम.टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

प्रकाशक—
जैन साहित्य प्रकाशन
७०, एम.टी. क्लाथ मार्केट इन्दौर, म.प्र.-४५२००२

प्रथम संस्करण सन् १९७० (केवल पद्यानुवाद) १००० प्रति
द्वितीय संस्करण ,, ,, २००१ प्रति
तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित प्रस्तुत संस्करण २००१ प्रति
(मूल एवं भावार्थ सहित) १९९१

न्योछावर २१) रु. लागत मात्र

नोट:—न्योछावर से प्राप्त राशि से सर्वोपयोगी 'जैनधर्म' ग्रंथ का संवर्धित सप्तम संस्करण प्रकाशित होगा।

मुद्रक
नई दुनिया प्रिंटरी केशर बाग रोड, इन्दौर (म.प्र.)

समयसार ग्रंथ के मूल प्रणेता

परम पूज्य मांगलिक विभूति आचार्य प्रवर आध्यात्मिक संत
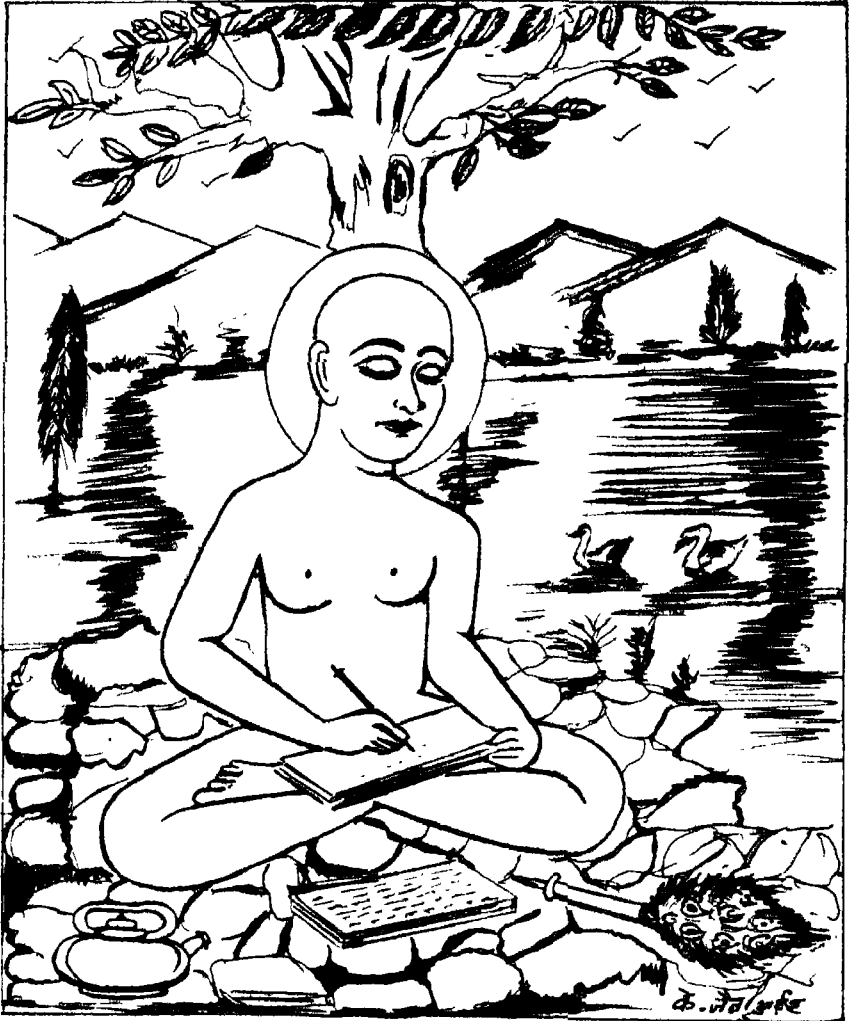
श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य

(ग्रंथ लेखन में तल्लीन)

प्रकाशकीय

आध्यात्मिक श्रमण परम्परा के अद्वितीय रत्न भगवत्कुंदकुंदाचार्य संबंधित द्विसहस्राब्दि समारोह संपन्न करने के पावन प्रसंग पर जैन जगत में "समयसार-वैभव" का यह तृतीय संवर्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मूल ग्रंथ की सरस कविता के माध्यम से सरल सुबोध हृदयग्राही भाषा में यह टीका समाज के वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं. नाथूरामजी डोंगरीय न्यायतीर्थ शास्त्री ने करीब दो-ढाई दशक पूर्व की थी।

हर्ष है कि विद्वान् लेखक ने अपने निरन्तर प्रयास द्वारा सरल भाषा में अब भावार्थ भी लिखकर तथा मूलगाथाओं का भी इसमें समावेश कर ग्रंथ को जन-जन के लिये उपयोगी बना दिया है। अनेक दशकों से समाज में चल रही निश्चय व्यवहार की खींचतान के बीच इसका प्रणयन एवं प्रकाशन समाज हित में कितना उपयोगी है—इसका आभास समागत शीर्षस्थ विद्वज्जनों के हार्दिक उद्गारों से—जो यहाँ अन्यत्र प्रकाशित हैं—सहज हो जाता है। मूल ग्रंथकार के अभिप्रायों को सुरक्षित रखते हुए इसमें जिनवाणी के प्राण अनेकांत वा स्याद्वाद का भरपूर उपयोग कर निश्चय-व्यवहार का संतुलन रखते हुए विषय का बोध गम्य विवेचन किया गया है—ताकि उभयनयों से विषय समझ कर पाठक किसी ऐकांतिक भ्रम में न पड़ें—इस ग्रंथ की यह विशेषता है।

ग्रंथकार ने जीवादि नव पदार्थों का विश्लेषण करते हुए इसमें अकर्तावाद की वृहद् व्याख्या तर्क पूर्ण ढंग से की है। इससे सर्वसंप्रभुता सम्पन्न स्वतंत्र आत्मा की प्रतिष्ठा के साथ ही अनीश्वरत्व की कल्पना साकार होती है। अकर्तावाद जैन धर्म का मर्मस्थल-प्राण है। आत्मोत्थान के लिये हमें किसी बाह्य शक्ति पर निर्भर न रहकर अपनी अनंत शक्तियों के ज्ञानपूर्वक दृढ़ता के साथ पुरुषार्थ करना होगा।

हमें पूर्ण आशा है कि पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर जिज्ञासु भाव से किया गया इस ग्रंथ का स्वाध्याय अध्यात्म को समझने में बहुत सहायक होगा। आत्मकल्याण का यह प्रवेश द्वार है।

सुहृद्वर पं. नाथूराम जी डोंगरीय ने अनेक ग्रंथों की रचना एवं भावानुवाद किये हैं—जो समादृत हुए हैं। उनका यह प्रयास सविशेष श्लाघनीय है और इसके लिये वे साधुवाद के पात्र हैं।

विनीत

धन्यकुमार जैन (सवाई सिंघई)

७-१२-६०

महावीर कीर्ति स्तंभ

नेहरूपार्क कटनी (म.प्र.)-४८३५०१

प्रकाशन संयोजन

सवाई सिंघई धन्यकुमार जैन

(अध्यक्ष दि. जैन परवार महासभा एवं पूर्व अध्यक्ष दि. जैन संघ मथुरा)
महावीर कीर्ति स्तंभ, नेहरूपार्क कटनी, म.प्र. ४८३५०१

प्रकाशचंद टोंग्या (कर सलाहकार)

कार्याध्यक्ष–विश्व जैन मिशन, १ जूना पीठा, इन्दौर

सौभाग्यमल जैन गोधा–

अध्यक्ष–जबरचंद फूलचंद गोधा चेरिटेबल फंड शक्कर बाजार, इन्दौर

सुन्दरलाल जैन 'भायजी'

संचालक–सुन्दरलाल मूलचंद टोवेकोनिष्ट (प्रा. लि)
'स्वस्तिक' ३६/२, न्यू पलासिया, इन्दौर

छोटेलाल जैन

जे.के. गार्मेंट्स मूलचंद मार्केट राजवाड़ा, इन्दौर

गुलाबचन्द्र जैन 'मुंशी'

(पूर्व मंत्री–दि. जैन परवार समाज इन्दौर)
१०३/३ तिलकनगर, इन्दौर

वीरेन्द्रकुमार सुरेन्द्रकुमार डोंगरीय जैन

संचालक–जैन साहित्य प्रकाशन
७०, एम.टी. क्लाथ मार्केट, इंदौर-४५२००२

परमपूज्य राष्ट्रसंत
सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य प्रवर
श्रीमद् दि. मुनि श्री विद्यानंदजी महाराज !

श्रद्धेय !

(१)

भारतभूषण संत शिरोमणि व्रत तप संयमशील प्रधान– ।
भारतीय संस्कृति के अनुपम श्रमणरत्न विज्ञान निधान ।

(२)

दुखी विश्व को दिया जिन्होंने महावीर का शुभ संदेश ।
नाम शेष हो जाये जिससे प्राणिमात्र के दुख संक्लेश ।

(३)

'समयसार-वैभव' अवलोकन कर पावन जिन सूत्र प्रमाण ।
समयसार का हार्द प्रकट कर की सहर्ष आशीष प्रदान ।

(४)

उन आचार्य प्रवर मुनिश्री का आभारी हूँ मैं अत्यन्त ।
श्रीमद् 'विद्यानंद' नाम से विश्व विदित जो भारत संत ।

(५)

चिर जीवे वाणी जिनेन्द्र की अनेकांत है जिसका प्राण ।
स्याद्वाद गर्भित श्रुतगंगे भगवति करहु विश्व कल्याण ।

विनीत : नाथूराम डोंगरीय जैन

प्रस्तवन-आशीर्वचन !

सच्चे सुख का सागर : "समयसार वैभव"

(परमपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री मुनि विद्यानन्दजी)

आचार्य कुन्दकुन्द आत्मधर्म के प्रतिष्ठापक सन्त थे। उन्होंने स्वसमय की अनुभूति के अमृत को "समयसार" के स्वर्णघट में संजोकर आत्मकल्याण के जिज्ञासुओं के समक्ष एक संजीवनी प्रस्तुत की है। समयसार मोक्ष स्वरूप है, यह स्वपरिणति है। इसी स्वपरिणति की उपलब्धि हेतु समयसार की विभिन्न व्याख्याओं का सद्-प्रयत्न है। किन्तु शब्दों की नाव पर जब अर्थों का स्वामी नाविक होता है, वह निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की पतवारों का यथा–अवसर प्रयोग करता है, तब साधना के पार साध्य के किनारे उसके चरण चूमते हैं। दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं। मोक्ष-मार्ग में दोनों का अवलम्बन है। पदार्थ अथवा आत्मबोध में दोनों ही यथारीति ग्राह्य हैं। केवल निश्चय अथवा केवल व्यवहार का दुराग्रह कोरा मिथ्यात्व है। जब स्वात्मोपलब्धि हो जाती है, तब दोनों स्वतः छूट जाते हैं। वहाँ पूर्ण ज्ञानज्योति ही अपने विशाल वैभव में दमकती है। आत्म-ज्ञान का यही वैभव "समयसार वैभव" में झलका है। उससे समस्त लोक आत्म-कल्याण की भावना से आलोकित हो, यही भावना है।

आत्म वैभव का जीवन्त वर्णन करने वाला ग्रन्थ समयसार है। संसार-भ्रमण का कारण आत्म-स्वरूप का अज्ञान है, आत्म-शक्ति से अपरिचय है, आत्म-गुणों से परांगमुखता है। मोह के पिंजरे में पदार्थो के ममकार के तोते का निवास है। समयसार में इन सबको पर-समय कहा गया है। विभिन्न दृष्टियों में उलझना, आत्म-स्वरूप को व्याख्यानों-विवेचनों से सुलझाने का प्रयत्न करना, द्रव्यात्मक एवं गुणात्मक पर्यायों पर पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना, अविद्या में डूबे रहना आदि सब पर-समय हैं। इन सभी पर-समयों से अपने परिणमन को लौटा लेना और शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाना सामायिक है। वही सार है, वही समयसार है। स्व-समय के सुख की स्वीकृति है।

सम्पूर्ण विश्व सुख की खोज में लगा हुआ है। किन्तु वह सुख क्या है और कहाँ है, इसकी पहिचान नहीं हो पा रही है। क्या वैभव-विलास में सुख है ? अथवा इष्ट एवं अनुकूल पदार्थों व परिस्थितियों में ? क्या मनचाही वस्तुओं में सुख है ? अथवा इष्ट और प्यारे प्रियजनों और मित्रों में ? अन्ततः उत्तर नकारात्मक ही मिलता है। वैभव आदि में सुख होता तो भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर,

आदि महापुरुष, ज्ञानीजन क्यों अपने राजपाट को छोड़ते ? वस्तुओं के संग्रह में सुख होता तो आज विश्व के विकसित और धनी देश क्यों कचरे में अपनी करोड़ों की वस्तुओं को फेंकते ? दुनिया के सन्त-महापुरुष क्यों संसार को छोड़कर कठोर तपस्या का जीवन जीते, यदि उन्हें गृहस्थी के जीवन में सुख का अनुभव हुआ होता ? अतः पर-पदार्थ, पर-समयों में सुख नहीं है, यह अनुभूति समयसार ने जो सैकड़ों वर्ष पूर्व दी थी, उसे आज के युग ने प्रमाणित कर दिया है। अतः तपस्वियों की यह अनुभूति स्वीकारने योग्य है कि त्याग से शान्ति मिलेगी—"त्यागात् शान्तिः"। वैराग्य से ही अभय प्राप्त होगा। अतः पर-पदार्थों से ममकार का त्याग, पर-समयों से निवृत्ति ही सच्चे सुख का मार्ग है। शुद्ध आत्मा में ही शाश्वत सुख का निवास है। वही शुद्ध स्वरूप का दर्शन समयसार का प्रतिपाद्य है। अतः यदि परम आनन्द, सुख, ज्ञान की अनुभूति की जिज्ञासा है तो स्वभाव में स्थित होकर अपने को जानो, अपने को देखो, अपने से प्रेम करो। यही ज्ञानी होने का सार है। यही मुनियों का निर्वाण है—

परमट्ठो खलु समयो सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥

—समयसार, गा. १५१

"समयसारवैभव" में इसे यों कहा गया है—

वीतराग शुद्धात्म तत्व ही
समयसार है ज्ञान-स्वरूप।
मुनि ज्ञानी केवलि कहलाता,
वही शुद्ध चैतन्य अनूप॥
चित्स्वभाव संस्थित योगीजन
स्वानुभूति का कर रसपान।
नित्य निरंजन निर्विकार बन
पाते पद निर्वाण महान॥

धर्मानुरागी, साहित्य सेवी श्री पं. नाथूरामजी डोंगरीय, न्यायतीर्थ द्वारा प्रस्तुत यह "समयसार वैभव" निर्मल आत्मा के वैभव को प्रकट करने वाला ग्रन्थ बने और इसके माध्यम से समयसार का अनेकान्तमयी चिन्तन प्राणी-कल्याण का हेतु बने यही मंगल भावना है। पं. जी की गाथानुसारी पद्य रचना समयसार के हृदय को खोलने वाली है, जिज्ञासु पाठक इसका अनुभव करेंगे। शुभाशीर्वाद सहित।

बारामती (महाराष्ट्र) —आचार्य विद्यानन्द मुनि
दिनांक १८-६-६०

शुभाशीर्वाद !

परमपूज्य आचार्य मुनि श्री सन्मतिसागरजी महाराज

'समयसार-वैभव' का अवलोकन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अध्यात्म की आड़ लेकर मिथ्यात्व का पोषण करने वालों के लिये यह एक अनूठा ज्ञानतेज होगा। इसमें स्याद्वाद द्वारा आर्हत् मत का पोषण किया गया है। ग्रंथकार ने निश्चय और और व्यवहार दोनों नयों को स्वीकार किया है। जो परमभाव को देखने वाले हैं उनके द्वारा शुद्ध तत्व को कथन करने वाला शुद्ध नय जानने योग्य है और जो अभी अपरमभाव (साधक दशा) में स्थित हैं उनके लिये व्यवहार नय का उपदेश कार्यकारी है। यह बात समयसार में ही श्री कुंदकुंदाचार्य ने स्पष्ट कर दी है। अगर आर्हत् मत का प्रवर्त्तन करना है तो दोनों नयों को मत छोड़ो।

यही सब उदाहरण देते हुए इस ग्रंथ में स्थल-स्थल पर समझाया है। समयसार विषयक परम्परा का अनुसरण इस सदी की आदि में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री आदिसागरजी (अंकलीकर) ने तदुपरांत आचार्य शांतिसागरजी ने किया था। आज भी उसी परम्परा का निर्वाह किया जा रहा है और आगे भी किया जाता रहेगा।

पं. श्री नाथूरामजी डोंगरीय न्यायतीर्थ शास्त्री द्वारा सीमित, सरल, हितकारी भाषा में इस ग्रंथ में जो प्रतिपादन किया गया है—इसे पढ़कर सर्वभव्य प्राणी ज्ञान प्राप्त कर यथार्थ आत्मदर्शी बनेंगे—ऐसी आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है। इस कृति के प्रकाशन के लिये उनको मेरा शुभाशीर्वाद है।

रक्षाबंधन, कृष्णपुरा इन्दौर १९९० — आचार्य सन्मति सागर

पूज्य बालाचार्य श्री १०८ मुनि योगीन्द्रसागरजी महाराज

गाय के चारों स्तनों से ही स्वादिष्ट दूध की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार चारों अनुयोगों में आत्म कल्याण की व्याख्या है। उन्हीं चार अनुयोगों में समयसार जो कि द्रव्यानुयोग का ग्रंथ है—उसकी हिन्दी टीका और पद्यानुवाद पं. नाथूरामजी डोंगरीय शास्त्री ने किया है—जो कि अपने आप में एक अलौकिक अनुवाद है। हमारी पं. नाथूरामजी को यही आशीष है कि वे इसी प्रकार सर्वजनोपयोगी शास्त्रों का अनुवाद करें ताकि सर्वसाधारण लोग उसका लाभ लेवें।

इन्हीं सद्भावनाओं के साथ—

माधो वसतिका, इन्दौर
दि. १५-११-८८

बालाचार्य
योगीन्द्र मुनि 'योगी'

Karmayogi
H. H. Charukeerti Swamiji
दि. ३१-१-१९९०

Shri Jain math
Shrvan Belagola

धर्मानुरागी आदरणीय श्री नाथूरामजी डोंगरीय जैन,

आपके द्वारा रचित हिन्दी साहित्य (समयसारादि ग्रंथों) को पढ़कर खुशी हुई। ये रचनाएँ समाज के लिये अनुकूल होंगी। आपकी सज्जनता एवं साहित्यसेवा अविस्मरणीय रहेगी। आगे भी साहित्य सेवा करने की शक्ति मिले यही शुभकामना है। इति.

S/d
श्री चारुकीर्ति स्वामीजी

श्रावक शिरोमणि जैनधर्म भूषण श्री साहू श्रेयांसप्रसादजी

आपने आचार्य कुंदकुंद द्विसहस्राब्दि समारोह के प्रसंग पर "समयसार-वैभव" के व्यापक प्रचार प्रसार के बारे में लिखा। पत्र के साथ आपने 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय संदर्शिका' ग्रंथ की प्रति भेजी, उसके लिए भी धन्यवाद ! मैं इसका अवश्य अध्ययन करूँगा।

आप साहित्य के द्वारा समाज व धर्म की जो सेवा कर रहे हैं, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। आपके यशस्वी जीवन की कामना करता हूँ।

"निर्मल" नरीमन प्वाइंट बम्बई — आपका
दिनांक ७ मार्च, १९८९ — **श्रेयांसप्रसाद जैन**

श्री साहू अशोककुमारजी जैन (अध्यक्ष दि. जैन महासमिति)

समयसार पर अनेक टीकाएँ और टिप्पणियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, आपका प्रयास निश्चय ही सुन्दर और महत्वपूर्ण है।

साहू जैन, ७ बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली — आपका
१२-५-१९९० — **अशोककुमार जैन**

श्री बाबूलालजी पाटोदी (प्रधानमंत्री दि. जैन महासमिति)

परम मंगलविभूति श्रीमद्‌भगवत्कुंदकुंद देव,विरचित 'समयसार' का पं नाथूरामजी डोंगरीय द्वारा किया गया हिन्दी काव्य के रूप में भावानुवाद 'समयसार-वैभव' बहुत समय पूर्व पढ़ा था। वही अब मूल गाथाओं के साथ सरल हिन्दी गद्य के माध्यम से भावार्थ लिखकर प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें निश्चय व्यवहार दोनों नयों की समन्वय नीति को अपनाकर किया गया विषय का संतुलित विवेचन होने से अनेकांतात्मक जैन अध्यात्म को यथार्थ रूप में समझना सर्वसाधारण को आसान हो जायगा।

अनेकान्त जैन दर्शन का प्राण है—जिसकी कुछ प्रवचनकारों द्वारा उपेक्षा एवं जाने अनजाने अवहेलना किये जाने के कारण समाज में एकांत मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इससे समाज में अनावश्यक विवादों के जन्म लेने के कारण क्षोभ का वातावरण भी बना है। आशा है कि पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर जिज्ञासु भाव से किया गया इस ग्रंथ का स्वाध्याय उपरोक्त विवादों के शमन एवं भ्रमों के निवारण में पूर्णतया समर्थ तथा सहायक सिद्ध होगा।

इंदौर
१७-१२-९० — **बाबूलाल पाटोदी**

भूमिका

सिद्धांताचार्य ब्रह्मचारी
श्री पं. जगन्मोहनलाल जी, शास्त्री

यह आनंद का विषय है कि 'समयसार वैभव' की यह तृतीय आवृत्ति प्रकाशित होने जा रही है। इसे समयसार का युग कहा जाता है। इसमें श्री पं. नाथूरामजी डोंगरीय द्वारा किया गया ग्रंथ का यह पद्यमयी भावानुवाद समाज के स्वाध्याय प्रेमियों द्वारा कितना समादृत हुआ है—इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण यह तृतीय आवृत्ति है। समाज के विद्वान् मनीषियों एवं पत्र पत्रिकाओं ने भी इसकी उपयोगिता एवं गूढ़ विषय की निश्चय व्यवहार से समन्वयी भाव पूर्वक की गई रचना की मुक्त कंठ से सराहना की है।

पिछली आवृत्ति में मैंने इसकी भूमिका लिखी थी—जिसमें श्री भगवत्कुंदकुंदाचार्य द्वारा प्रणीत मूल ग्रंथ समयसार के ६ अध्यायों का सार रूप संक्षेप वर्णन किया ही है, किन्तु प्रस्तुत आवृत्ति कुछ अन्य महत्वपूर्ण विशेषताओं को लिये हुए है। इसमें विद्वान् लेखक ने पाठकों के अनुरोधवश मूलगाथाएँ, उनका अर्थ और यत्र तत्र भावार्थ भी राष्ट्र भाषा में लिख कर विषय को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिससे मूलग्रंथ का भाव समझने में पाठकों को कठिनाई न हो। वैसे गद्य पद्यमयी काव्य कवियों ने भी श्रेष्ठ माना है। इस दृष्टि से रचना का महत्व और भी बढ़ गया है।

इसमें यदि एक गाथा का भाव एक बार में पूर्णतया स्पष्ट नहीं हुआ तो उसका अर्थ अनेक पद्यों एवं गद्य में लिखकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थलों पर विद्वान् लेखक ने दृष्टांतों द्वारा तो विषय को स्पष्ट किया ही है, साथ ही स्वयं प्रश्नों को उठा कर उनका समाधान करते हुए जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं को भी पूर्ण किया है—ताकि तद्विषयक भ्रमों का भी निवारण हो जावे।

आचार्यों ने 'वस्तु स्वभावो धर्मः' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। अतः आत्म स्वभाव ही आत्म धर्म है। धर्म का मूल आत्मदर्शन या स्वभाव संवेदन स्वरूप सम्यग्दर्शन है। इसके बिना ज्ञान को अज्ञान कहा है। जिसे यह पता नहीं कि—मैं कौन हूँ; मेरा स्वरूप क्या है, व उद्देश्य भी क्या है? तथा सुख क्या है; दुख क्या है, इन दोनों के कारण क्या हैं; मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना है—वह जीव न तो धर्मात्मा बन सकता—और न आत्म कल्याण ही कर सकता। वस्तुतः आत्मदृष्टा ही—सम्यग्दृष्टि है। जब कोई सम्यग्दृष्टि योगी अपनी विकल्परहित समाधि में शुद्धात्मा का अनुभव करता है तब उसे एकमात्र आत्म दर्शन ही होता है जिसे

अमृतचन्द्राचार्य ने–'भाति न द्वैतमेव' शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। कहा जा सकता है कि यह तो वेदांतियों की तरह अद्वैतवाद हुआ। दोनों में क्या अंतर है? समाधान यह है कि वेदान्ती सब पदार्थों को स्वीकार कर भी उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं मानता; किन्तु ब्रह्म (आत्मा) की सत्ता में ही इनको समाहित करता है? उनका सिद्धांत इस श्लोक में निबद्ध है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन्।
आरामं तस्य पश्यंति न तद् पश्यति कश्चन्।

भावार्थ—ब्रह्म (आत्मा) ही एक अद्वितीय तत्व है। उससे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है। लोग उसके इन (पर्यायों) अंशों को देखते हैं पर उसे कोई नहीं देखता।

यदि जैन प्रक्रिया को देखें तो उसका अद्वैत आत्मा तो एकत्व विभक्त है अर्थात् आत्मा तो स्वयं एक (अद्वैत) है किन्तु वह स्वभिन्न सम्पूर्ण जगत से विभक्त (भिन्न) है। जैन-प्रक्रिया में पर के अस्तित्व का निषेध नहीं है; किन्तु संपूर्ण पर जड़चेतन पदार्थों से भिन्न आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकृत है। अतः वह एक (अद्वैत) दूसरों से भिन्न सत्तात्मक वस्तु है। विभक्त शब्द ही अन्य द्रव्यों की आत्मभिन्न सत्ता को स्वीकार करता है। जैन सिद्धांत आत्म सत्ता में नाना सत्ताएँ नहीं मानता; किन्तु पर पदार्थों की सत्ता आत्मा की सत्ता से भिन्न है–ऐसा स्वीकार करता है। अतः वेदांत के अद्वैत और समयसार में वर्णित आत्मा के अद्वैत में सर्वथा भेद है। दोनों एक रूप नहीं हैं।

समयसार में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनमें अनेक पाठक संशय में पड़ जाते हैं। उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। उनमें अनेक स्थलों का स्पष्टीकरण लेखक ने यथा स्थान किया है। उनमें से कुछ का संक्षेप में दिग्दर्शन निम्न प्रकार है:—

(१) प्रथम जीवाजीवाधिकार में जैसे पर्याप्त-अपर्याप्त, द्वीन्द्रियादि, कर्मोदय जन्य पर्यायों को जीव नहीं कहा। इसी प्रकार गुण स्थानों को भी शुद्ध चैतन्य से भिन्न अचेतन कहा। यहाँ यह शंका होती है कि गुणस्थानों में सयोग केवली (अरहंत) परमात्मा भी हैं, तो क्या वे अचेतन हैं?

समाधान यह है कि मोह और योग ये दो कारण गुणस्थानों के दर्शाये गये हैं। इनमें प्रारंभ के १० गुणस्थान तो मोह के अंशांश उदय रूप हैं। ११वाँ उपशम व १२वाँ क्षय रूप है। १३वाँ १४वाँ घातिया कर्मों के क्षय रूप हैं तथा चार अघातियों के उदयरूप भी हैं। इन सब अवस्थाओं में वे योग रूप प्रत्यय को प्राप्त हैं। तथा अघातियों के उदय रूप अवस्था को भी प्राप्त हैं। शेष अवस्था में कर्म की किसी भी अवस्था का संबंध चल रहा है। यह गुण स्थान आत्मा के परम पारिणामिक भाव स्वरूप विशुद्ध चैतन्य से भिन्न है। जो शुद्ध चैतन्य नहीं है वह उसकी दृष्टि में अचेतन है। किन्तु व्यवहार से सभी गुणस्थान चेतन (जीव) के ही हैं।

रागादि भावों को भी इसी दृष्टि से अचेतन लिखा तथा उन्हें जड़ श्रेणी में डाला है। यद्यपि रागादि पुद्गलोपादान नहीं हैं—जीवोपादान हैं; परन्तु उनको यहाँ निमित्त भूत कर्म की अपेक्षा तथा शुद्ध चैतन्य से सर्वथा भिन्न होने की अपेक्षा (इन दो हेतुओं से) पुद्गल से गिनाया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि उन रागादि में रूप रस गंध स्पर्शादि गुण हैं—अतः वे पुद्गल द्रव्य हैं। मात्र शुद्ध निश्चय से जीव स्वभाव को देखें तो शुद्ध चैतन्य से भिन्न होने से अचेतन कहे गये हैं। इस प्रकार विषय को समझकर उक्त प्रसंग का परिज्ञान करना चाहिए।

(२) व्यवहार नय अभूतार्थ और निश्चय नय भूतार्थ है। इस कथन को लेकर भी विसंवाद होता है। भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ और अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ कहने से व्यवहार असत्यार्थ (झूठा) है तबमार्गणा, गुणस्थान, जीव समासादि संसारी जीव का सब वर्णन असत्यार्थ माना जायगा और इनके प्रतिपादक करणानुयोग के सभी शास्त्र भी मिथ्या ठहरेंगे।

समाधान यह है कि भूत शब्द के अर्थों में अनेकता है। "भूतं हितं सत्यञ्च" अर्थात् हितार्थ भी भूतार्थ है और सत्यार्थ भी भूतार्थ है। यहाँ निश्चय का विषय शुद्धात्मा का परिज्ञान और परिग्रहण जीव के हित में है। कारण यह जीव का त्रिकालस्वरूप है जबकि व्यवहार नय से कथित सब पर्यायाश्रित होने से नाशवान् है। उसमें ओत-प्रोत जो विशुद्ध आत्मा उसका दर्शन ही उपादेय है— आत्मार्थ है। संसारी जीव की पर्यायें कर्मनिमित्तिक पर्यायें हैं। वे छोड़नी हैं, अनुपादेय है अतः इनको अहितार्थ होने से अभूतार्थ कहा है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो व्यवहार स्वाश्रित परनिरपेक्ष शुद्ध पदार्थ को विषय नहीं करता अतः वह असत्यार्थ अभूतार्थ अयथार्थ व अपरमार्थ है। जिस कर्म के संबंध से जीव की संसारी अवस्थाएँ हैं वे सब शुद्ध जीव की सत्ता से भिन्न हैं अतः सत्ता से युक्त सत्यार्थ और जीव की सत्ता से भिन्न होने से असत्यार्थ हैं। न वे परमार्थ हैं और न यथार्थ हैं। परम अर्थ तो शुद्ध चैतन्य है। देहादि व रागादि परम अर्थ रूप शुद्ध जीव से भिन्न होने से अपरमार्थ हैं इसलिये इनको असत्यार्थ कहा गया है। यथा—जैसा, अर्थ—पदार्थ, वैसा न कहने का नाम अयथार्थ है।

एक तीसरी दृष्टि से विचार कीजिये—निश्चय व्यवहार का लक्षण निम्न प्रकार भी है—'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः" अर्थात् स्वाश्रित वस्तु का कथन निश्चय नय है और पराश्रित कथन अर्थात् उसी वस्तु का (जीव का) पराश्रित (देहाश्रित या कर्माश्रित) वर्णन व्यवहार है।

जीव मोक्ष प्राप्त करना-छूटना चाहता है तब यह स्वयं सिद्ध है कि देहादि नोकर्म और कर्म जन्य अवस्थाएं उसके लिये हेय हैं। फलतः उनके (देहादि के) आश्रित वर्णन करने वाला व्यवहार भी निश्चय दृष्टि में हेय है।

तथापि जब तक उक्त परमार्थ को पूर्णतया नहीं समझा जाता है तब तक निश्चय के विषय भूत परमार्थ की प्राप्ति के लिये व्यवहार का आश्रय लेना भी आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि निश्चय का विषय भूत शुद्धात्मा सर्वथा उपादेय है और व्यवहार का विषय अवस्था विशेष में (प्राथमिक अवस्था में) परमार्थ को समझने के लिये कथंचित् उपादेय है। वही निश्चय तत्व की दृष्टि प्राप्त होने पर हेय है।

(३) पुण्य पापाधिकार में दोनों बंध की दृष्टि से समान हैं। तथापि—पाप सर्वथा हेय है। पुण्य यदि आत्म विशुद्धि में साधन बना लिया जाय तो वह परम्परा परमार्थ का साधक माना जाता है। पर है वह साक्षात बंध रूप ही।

कुछ परिग्रही परिग्रह को अपने पुण्य का फल मानकर उन्मत्त हो जाते हैं। उन्हें पता नहीं कि उस पुण्य फल को रत होकर भोगने में पाप का ही बंध है। यदि पुण्योदय से मानव पर्याय, जैनधर्म, सुबुद्धि, निरोगतादि पाई है तो उसका उपयोग विषय भोगों को त्याग कर आत्मशुद्धि हेतु धर्माराधन में करो—यही उसका सदुपयोग है, अन्यथा दुरुपयोग करने में तो पाप बंध का हेतु ही सिद्ध होगा।

पुण्य मोक्ष का कारण है—यह मान्यता गलत है। भगवान् अरहंत तेरहवें गुण स्थान को प्राप्त होकर भी सातिशय पुण्योदय के कारण तब तक मुक्ति को प्राप्त नहीं होते जब तक कि वे उन पुण्य प्रकृतियों की निर्जरा नहीं कर देते। इसलिये पुण्य विषयक यथार्थ स्थिति समझना योग्य है।

(४) "सम्यक्त्वी के भोग निर्जरा हेतु हैं।" यह वाक्य एक हिंदी कविता में आया है और वह समयसार की गाथा १९३–१९४ के आधार पर है। पर वहाँ भोग का अर्थ इंद्रिय-विषय भोग न होकर कर्मदण्ड (कर्म फल) का भोग है। सम्यक्त्वी पुण्योदय के भोगों को कर्म दण्ड मान कर उसे मोक्ष प्राप्ति में बाधक ही मानता है, जब तक कोई कर्मफल भोगों में मग्न रहेगा, मोक्ष उससे दूर ही रहेगा।

पूजाओं में भजनों में, जकड़ी में, स्तुतियों में, छहढाला व अन्य ग्रंथों में भी पुण्य-पाप को आत्मा के लिये संसार का कारण माना व दर्शाया है।

(५) सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि) का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। अपार जिनागम का पठन-पाठन करने वाला गृहस्थ हो या साधु; किंतु सम्यग्दर्शन के बिना वह अज्ञानी ही माना जायगा—ज्ञानी नहीं। सम्यग्दृष्टि उदयागत कर्मदण्ड को चूँकि सम भावों से भोगता है—कर्मोदय में तन्मय होकर उसमें रस नहीं लेता अतः उसके भोग (कर्म के भोग) निर्जरा के हेतु होते हैं जब कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुण्य फल में राग और पाप फल में द्वेष कर संक्लेश भावों के द्वारा नवीन कर्म का बंध कर लेता है। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि मोक्ष के सुखों का बाधक होने से संसार के सुख के कारण वैभव व उसके कारण पुण्य बंध की इच्छा नहीं करता। वह तो बंधन मुक्त होना चाहता है। गाथा २०९-२१० में (निर्जराधिकार में) स्पष्ट निर्देश है। वह

सब विषय लेखक ने अपने दोनों प्रकार के (गद्य पद्य) अनुवादों में बहुत स्पष्ट किया है।

(६) ग्रंथ में जितना महत्व सम्यक्त्व का दर्शाया है उससे अधिक सम्यक्त्व पूर्वक चारित्र का प्रतिपादित है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि को वस्तु तत्व की यथार्थता ज्ञात है; किन्तु यदि वह तदनुसार आचरण नहीं करेगा तो बंधन से मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिये केवल सम्यक्त्व की महिमा जानकर अपने को सम्यक्त्वी मानने वाले को मोक्षमार्गी नहीं माना जा सकता। न ही मात्र शास्त्र पठन-पाठन की विशेषता से सम्यग्ज्ञानी माना और न मिथ्यादृष्टि एवं अभव्य को केवल महाव्रितता के प.लन से सम्यक्चारित्री माना है। गा. २७३)) सम्यक् रत्नत्रय की एकता ही मोक्ष की साधक है।

(७) ग्रंथ में सम्यग्दृष्टि को आस्रव बंध नहीं होता—संवर पूर्वक निर्जरा कही गई है। यह कथन पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही लागू होता है। उससे निचली अवस्था में चतुर्थ गुण स्थान तक के सभी जीव यद्यपि सम्यग्दृष्टि हैं और उन्हें संवर निर्जरा भी होती है परन्तु जिसके जितनी-जितनी कषायों व मोह का अभाव है उसके उतनी ही परिणामों की विशुद्धि है उसी से आंशिक संवर निर्जरा भी है और जितने अंशों में जिसके जितनी कषायें हैं उसके उसी मात्रा में बंध भी होता है। अतः आगम द्वारा वस्तु स्वरूप एव कथन की गहराई को समझना और तदनुसार श्रद्धान करना उचित है। अन्यथा भ्रम में पड़ जाने से अपना अहित ही होगा।

मुक्ति मार्ग में पथिक को सम्यग्दर्शन होना आवश्यक है और सम्यक्चारित्र भी। पर इनका जिनको अहंकार है उनको न सम्यक्त्व है और न चारित्र है। अतः मिथ्या अहंकार अकल्याणकारक है।

(८) इस ग्रंथ में एक प्रकरण (गाथा ३०६-३०७) प्रतिक्रमण के संबंध में आया है—जहां प्रतिक्रमण को विष कुंभ एवं अप्रतिक्रमण को अमृतकुंभ कहा है। इसे देख कर एक बार ऐसा लगता है कि यह कथन सिद्धांत के विपरीत है। प्रतिक्रमण तो मुनियों को करना ही चाहिए। मुनि धर्म प्रतिपादक सभी ग्रंथों में मुनि के षड्आवश्यक कर्मों में इसकी गणना है। तब यहां उसे विष कुंभ क्यों लिखा? प्रतिक्रमण न करने वाले साधु का मुनिधर्म सदोष माना गया है जब कि यहां अप्रतिक्रमण को अमृतकुंभ लिखा है।

इसका समाधान यह है कि अप्रतिकमण दो अवस्थाओं में होता है। (१) प्रथम दोष करे और प्रतिक्रमण न करे, इस सदोष अवस्था में अप्रतिक्रमण तो विष कुंभ ही है। किन्तु (२) दूसरा अप्रतिक्रमण वह है जहां मुनि कोई दोष ही नहीं करे। जिसने दोष ही नहीं किया वह मुनि निर्दोष है, वह प्रतिक्रमण क्यों और किसका करेगा? दोषों का ही तो प्रतिक्रमण होता है। निर्दोष वर्तन करने वाला साधु प्रतिक्रमण नहीं करता। यह दूसरे प्रकार का अप्रतिक्रमण तो सचमुच अमृत

कुंभ है। इसका विस्तृत विवेचन श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीका के काव्य १८८ में भली भाँति किया है सो वहाँ से जाना जा सकता है।

समयसार एक सर्वोच्च कोटि का आध्यात्मिक ग्रंथ है। आत्मा के उत्थान के लिये आध्यात्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन करना अत्यन्त आवश्यक है। आज इनके अध्ययन के अभाव में उनका रहस्य छिपा हुआ है। इस संदर्भ में सैद्धांतिक रहस्य समझने के लिये नयों का ज्ञान होना भी अनिवार्य है, क्योंकि जैन शास्त्रों में विषय का प्रतिपादन किसी नय की मुख्यता एवं अन्य नयों की गौणता से किया गया है। कौन सी बात किस नय की मुख्यता से कही गई है—इस बात को नयज्ञान के अभाव में न समझ पाने के कारण पाठक भ्रमित हो जाते हैं।

अनेक सुज्ञ पाठकों को अन्य अनुयोगों से अध्यात्म-विषयक वर्णन (द्रव्यानुयोग) विपरीत सा लगता है। इसका कारण यह है कि अन्य अनुयोगों में अध्यात्म का वर्णन गौण है और कर्मों के उदय से होने वाली जीवों की विविध अवस्थाओं का कथन मुख्य है। अतः वे व्यवहार नय की मुख्यता से लिखे गये हैं। जबकि अध्यात्म ग्रंथों में निश्चय नय की दृष्टि प्रधान कथन है, अतः व्यवहार नय के कथन प्रधान ग्रंथों को इनमें अभूतार्थ भी कहा गया है।

अतः यदि नय विवक्षा को समझ कर सभी ग्रंथ पढ़े जावें तो परस्पर कोई विरोध नहीं है। अन्य अनुयोग जीव की संसारी दशा का ही तो वर्णन करते हैं। इसी अभिप्राय से कि जीव इन्हें समझकर इनसे विरक्त हो और आत्मकल्याण करने में प्रवृत्त हों। अध्यात्म शास्त्र उन्हीं संसारी अवस्थाओं को एवं उनके नयों को हेय बताकर ऊपर उठने की बात कहते हैं व आत्मकल्याण करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार सभी अनुयोगों के शास्त्र अपनी अपनी दृष्टि से आत्मोद्धार करने की प्रेरणा देने के कारण उपादेय है। अनुयोगों के उद्देश्य को समझ कर आत्महित के लिये सभी अनुयोगों का अध्ययन उपादेय है। केवल पक्षपात करते हुए दूसरों को उपदेश देने के लिये किसी भी अनुयोग का अध्ययन उपादेय नहीं है। जैसा कि आज एकांत ग्रहण कर हो रहा है।

इस ग्रंथ में आचार्य श्री ने जिस विषय का प्रतिपादन किया है उसका रहस्य खोलने का विद्वान् लेखक ने पद्य एवं गद्य दोनों में करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। यह उनका कार्य अभिनंदनीय है।

दि. जैन महावीराश्रम
कुंडलपुर, (दमोह) म.प्र.
दि. २४-७-८७

— जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

विनयाञ्जलि !

तुम्हारा अभिनंदन शतबार !
श्रावक रत्न 'जगन्मोहन' विद्यावारिधि साकार !

(१)

श्रद्धा ज्ञान चरणरत पावन–
जिन श्रुत का कर नित आराधन
मानवजीवन सफल बनाया
व्रत संयम स्वीकार ।

(२)

समयसार-सागर मंथन कर
वर अध्यात्म कलश अमृत भर
ज्ञान पिपासा शमन हेतु
वर दिया दिव्य उपहार ।

(३)

गह एकांत भ्रमित थे बहुजन
दूर किये उनके मिथ्याभ्रम
कर निश्चय व्यवहार
समन्वय स्याद्वाद के द्वार ।

(४)

देश धर्म एवं समाज हित
सेवा की अनवरत अपरिमित,
प्रतिफल की कुछ चाह न की पर
किये अमित उपकार ।

(५)

हैं कृतज्ञ हम तव विद्वद्वर !
दृष्टि निपात न कर त्रुटियों पर
विनयाञ्जलि स्वरूप यह प्रिय वर
भेंट करे स्वीकार !

विनयावनत

नाथूराम डोंगरीय जैन

जनवरी–१९९१

समयसार-वैभव

भावानुवादक
श्री पं. नाथूराम डोंगरीय 'अवनीन्द्र'
जन्म : 11 जनवरी 1911
मुंगावली (गुना, म.प्र.)
शिक्षा : विशारद, शास्त्री, न्यायतीर्थ
पता : 549, सुदामानगर,
इन्दौर-452002

"पंडित नाथूराम डोंगरीय समाज के सुपरिचित विद्वानों एवं साहित्यकारों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपकी कविताएँ एवं लेख अनेक जैन एवं जैनेतर पत्रों में छपते रहते हैं जो विषय एवं भाषा की दृष्टि से पठनीय है।

आजीविकार्थ स्वतंत्र व्यवसाय करने से पूर्व कई धार्मिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं में अध्यापन कार्य करके डोंगरीय जी ने हजारों युवकों को जैनधर्म में संस्कारित किया।

पंडितजी द्वारा रचित ग्रंथ संपदा की एक लम्बी शृंखला है। 'भक्तामर' काव्यानुवाद एवं "जैनधर्म" आपकी बहुप्रशंसित काव्य कृतियाँ है। इन्दौर में श्री कानजी स्वामी के आगमन पर आपको नवीन सैद्धान्तिक चेतना प्राप्त हुई जिसके परिणामस्वरूप आपने 'समयसार-वैभव' एवं 'प्रवचनसार-सौरभ' जैसे गंभीर पद्यानुवाद समाज को दिये। आपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्रव्य संग्रह, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय जैसे महान् ग्रंथो के बड़े भावपूर्ण काव्य रूपान्तर भी किये हैं। 'रक्षाबन्धन' 'वीर प्रतिभा' अध्यात्म रहस्य गोम्मटेश स्तवन आदि सत्रह-अठारह आपकी अन्य प्रकाशित पुस्तके है। 'प्रकाश' पाक्षिक पत्र एवं कई ग्रंथों का आपने सफल संपादन किया है।

निःसंदेह पंडित नाथूराम डोंगरीय का जीवन समाज एवं साहित्य की कर्मठ सेवा का पर्याय रहा है जो आज भी जारी है।"

—संपादक "आधुनिक जैन कवि : चेतना के स्वर" कोटा से साभार

संकलयिता— गुलाबचंद जैन 'मुंशी'

पृ. 122/आधुनिक जैन कवि

संपादकीय

भौतिक विज्ञान के नित नये आविष्कारों से चमत्कृत इस युग में कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानव उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सुख शांति को अब प्राप्त करने ही वाला है और कभी ऐसा जान पड़ता है कि वह उन्मत्त होकर अपने काले कारनामों द्वारा अपनी और दुनिया की भी सुख शांति को नष्ट-भ्रष्ट कर पतन के गहन गव्हर में पड़ रहा है। आगे क्या होगा ? इसका उत्तर भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है। किन्तु यह सुनिश्चित है कि जड़ पदार्थों एवं उनके भोगोपभोग में सुख पाने की कल्पना निरा भ्रमपूर्ण होने से जड़ पदार्थों में सुख पाने के भ्रमजाल में फंसा हुआ मानव अनेक प्रयत्न करने पर भी कभी सुखी नहीं बन सकता और न अपने कुकृत्यों द्वारा विश्व में ही शांति स्थापित कर सकता।

इस संदर्भ में तत्वदर्शी आप्त पुरुषों ने बिना किसी संप्रदाय, पंथ, जाति या वर्ण आदि तथा कथित भेदभाव के प्राणीमात्र के हित को सामने रख कर सदा से ही उच्च स्वर में घोषणा की है कि सुखशांति की खोज हम भौतिक जड़ पदार्थों में न कर अपने आपमें करें—अपनी ओर देखें, जानें और अपने स्वरूप में ही रमण करें, क्योंकि शांति और आनंद अपनी आत्मा का ही गुण है अतः वह अपनी आत्मा में ही प्राप्त होगा। हम और हमारी आत्मा क्या है और क्या नहीं है ? हमारा शरीर एवं अन्य पदार्थों से क्या संबंध है ? हमारे दुःखों का मूल कारण क्या है और कैसे हम इन दुखों से मुक्त होकर सुखी बन सकते हैं। इन प्रश्नों और समस्याओं का समाधान भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सभी वीतराग आप्त पुरुषों ने तथा इनका अनुसरण करने वाले संतों ने स्वयं आत्मशांति प्राप्त करते हुए धर्मोपदेश द्वारा न केवल समय-समय पर किया, प्रत्युत् अध्यात्म ग्रन्थों की रचना कर सदा के लिये उन उपदेशों को स्थायित्व भी प्रदान किया। जो उनकी अनुपस्थिति में आज भी हमें मार्गदर्शन देने में पूर्ण समर्थ है।

जैनाचार्यों में परमपूज्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य एक मांगलिक विभूति के रूप में प्रतिष्ठित हैं एवं उनकी ग्रन्थ सम्पदाएँ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से जैन साहित्य ही नहीं विश्व साहित्य की भी अनूपम निधियां हैं। इनमें समय प्राभृत (समयसार) तो आत्म जिज्ञासुओं को अनमोल रत्न के समान है। समयसार में आचार्य श्री ने शुद्ध द्रव्यार्थिक (शुद्धनिश्चय) नय की प्रधानता में आत्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन कराये हैं। साथ ही पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय को गौण करते हुए यथास्थान आत्मा की शुद्धाशुद्ध पर्यायों का भी दिग्दर्शन कराते हुए आत्मा का अनेकान्तात्मक स्वरूप दर्शाया है। इसके अतिरिक्त आत्मा की बंध दशा में होने वाली देव नर-नारकादिरूप संयोगी पर्यायों एवं रागद्वेषादि रूप विकार भावों को—जो कर्मोदय का निमित्त पाकर हुआ करते हैं—आत्मा के शुद्ध स्वरूप से भिन्न एवं हेय बता कर

अपने शुद्ध स्वरूप को भूले हुए जीवों को—जो अपनी अशुद्ध पर्यायों को ही सर्वथा आत्मा मान भ्रमित हैं—मिथ्यादृष्टि या पर समय भी निरूपित किया है। इसमें आचार्य श्री का मुख्य उद्देश्य जीवों को स्व-पर के भेद-विज्ञान द्वारा सम्यग्दृष्टि बना कर आत्म कल्याण करने का पथ प्रशस्त करना रहा है।

इस ग्रन्थ में वर्णित विषय को आचार्य श्री ने मंगलाचरण[1] में ही श्रुतकेवली कथित निरूपित किया है तथा अपने ज्ञानदाता गुरु का नाम श्रुतकेवली भद्रबाहु को बतलाते हुए उन्हीं का शिष्य होना भी स्वनिर्मित 'बोधपाहुड़' ग्रन्थ की ६१ व ६२वीं गाथाओं में स्वीकार किया[2] है। इससे ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय कपोलकल्पित न होकर आचार्य परम्परा से भगवान् महावीर के उपदेशों का ही सार होने से प्रामाणिक है—यह स्पष्ट हो जाता है और यह भी कि आ. कुन्दकुन्द, भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य होने से वे उन्हीं के समकालीन थे।[3]

ग्रन्थकर्ता का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्यवर्य श्री कुंदकुंद का जन्म आ. इन्द्रनंदि के श्रुतावतार एवं पुण्यास्रव कथाकोषादि ग्रंथों के अनुसार दक्षिण भारत (आंध्रप्रदेश) के अन्तर्गत कौण्डकुंडपुर में हुआ था जो आज कौण्डकुंडल नाम से स्थित है। इनकी माता का नाम श्रीमती और पिता का नाम श्री कर्मण्डु था। कहा जाता है कि इनका मूलनाम पद्मनंदि था; किंतु कौण्डकुंडपुर वासी होने से इनका कुंदकुंद नाम विख्यात हो गया। इन्होंने

---

१. वंदितु सव्व सिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
बोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणियं॥

अर्थात् मैं ध्रुव, अचल और अनुपम सिद्धगति (दशा) को प्राप्त सम्पूर्ण सिद्ध भगवन्तों की वंदना कर श्रुतकेवली कथित इस समय प्राभृत (समयसार) को कहता हूँ। —समयसार ।१।

२. सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणं कहियं।
सो तं कहियं णायं सीसेणय भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारसअंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमय गुरु भयवओ जयओ ॥६२॥

(अर्थात् जो जिनेन्द्र देव ने निरक्षरी भाषा (दिव्यध्वनि) में कहा वही शब्द विकार से द्वादशांग में गूंथा गया और वही भद्रबाहु के शिष्य ने (मैंने) उसी प्रकार जाना और इस ग्रन्थ में कहा।६१)

द्वादशांग के ज्ञाता और चौदह पूर्वों को विस्तार से प्रसारित करने वाले श्रुत केवली भगवान् भद्रबाहु मेरे ज्ञानदाता (गमक) गुरु जयवंत हों॥६२॥

३. श्रुतकेवली भद्रबाहु का समय सम्राट् चन्द्रगुप्त से जुड़ा है, जो अब से करीब २३०० वर्ष पूर्व सुनिश्चित हुआ है।

११ वर्ष की अल्पायु में ही मुनि दीक्षा ले ली थी और ६६ वर्ष की दीर्घायु पर्यंत ज्ञान ध्यान तप में लीन रहते हुए लोकोपकारिणी भावना से समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय नियमसार, रयणसार, मूलाचार, अष्टपाहुड़ बारह अनुप्रेक्षादि ग्रंथों की रचना की जो आज प्रकाशित होकर हमारी ज्ञानाराधना के केन्द्र बने हुए हैं। दश-भक्तियाँ भी इन्हीं की रचनाएँ हैं तथा परम्परा से यह भी जाना जाता है कि आचार्य श्री ने चौरासी पाहुड़ ग्रंथों तथा परिकर्म नामक एक महान ग्रंथ का निर्माण भी किया था, जिन्हें आज हम ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध नहीं कर पा रहे हैं। सुप्रसिद्ध कुरल काव्य भी इन्हीं आचार्य श्री की रचना मनीषियों द्वारा मानी जा रही है। उल्लिखित रचनाओं से आचार्य श्री की ज्ञान गरिमा का सहज ही आभास हो जाता है।

शिलालेखों से यह भी जाना जाता है कि तपश्चरण के प्रसाद से इन्हें चारण-ऋद्धि प्राप्त थी। जिससे ये पृथ्वी से चार अंगुल अधर विहार किया करते थे। आचार्य देवसेन ने अपने दर्शनसार ग्रंथ में लिखा है कि आचार्य श्री विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के समवशरण में गये थे और वहाँ उनके उपदेशों को श्रवण किया था। इसकी पुष्टि आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका में की है तथा श्रुत-सागर सूरि ने इसका समर्थन किया है।

आचार्य श्री के १ कुंदकुंद २ पद्मनंदि ३ एलाचार्य ४ वक्रग्रीव ५ गृद्धपिच्छ इन ५ नामों का उल्लेख भी श्रुतसागर सूरि द्वारा षट्प्राभृत की टीका में किया गया है और नंदिसंघ की पट्टावली में भी। किन्तु पद्मनंदि और कुंदकुंद ये दो नाम अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक माने गये हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द—

आधुनिक इतिहास मनीषियों ने समयसार रचयिता आचार्य कुन्द-कुन्द के जन्म समय का विभिन्न पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रन्थों की प्रशस्तियों द्वारा जो अनुसंधान किया है उसमें बड़ी विषमता और मतिभिन्नता है। कोई उन्हें ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ मानता है तो कोई ईसा पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में। यहाँ तक कि कुछ का मत है कि वे ईसा की तीसरी अथवा पाँचवी शताब्दी में हुए हैं। इसके सिवाय उनके गुरु के विषय में भी मतभिन्नता पाई जाती है—कोई आचार्य जिनचंद्र को उनका गुरु मानता है तो आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका में कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का उनको शिष्य होना लिखा है एवं उन्हें ही उनका गुरु भी माना है।

उल्लिखित सभी विवरण एवं मान्यताएँ १०वीं शताब्दी और उसके पश्चात् लिखी गई पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रन्थों की प्रशस्तियों पर आधारित हैं जो आचार्य श्री के जन्म समय से करीब एक हजार वर्ष पश्चात् किस आधार पर लिखी गई हैं, इसका कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जिसने जैसा पूर्वजों से सुना

और जाना होगा उसी के अनुसार उल्लेख किया, यही कारण है कि जो उनमें सुनिश्चितता और मतैक्य भी नहीं है जबकि स्वयं आ. कुन्द कुन्द ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपना न तो कोई विशेष परिचय दिया और न जन्म-समय-स्थान माता-पिता आदि का ही उल्लेख किया। केवल स्वरचित द्वादशानुप्रेक्षा में अपना नाम कुंद-कुंद लिखा है और बोधपाहुड़ ग्रन्थ में स्वयं को श्रुत केवली भद्रबाहु को अपना ज्ञानदाता (गमक) गुरु माना, तथा उन्हीं का शिष्य होना भी स्वीकार किया है—जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है।

तदनुसार आचार्यश्री का जन्म काल ईसा से ३०० वर्ष पूर्व होना स्वयं आचार्य श्री के शब्दों से ही सिद्ध है क्योंकि बोधपाहुड में आचार्य श्री ने अपना गुरु भद्रबाहु को मानते हुए उन्हीं की शिष्यता भी स्वीकार की है। श्रुतकेवली भद्रबाहु एवं उनके प्रधान शिष्य भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त का समय ऐतिहासिक दृष्टि से ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व होना सुनिश्चित हो चुका है। इस परिप्रेक्ष्य में आचार्य कुन्दकुन्द, जो समय-सारादि ग्रन्थों के रचयिता हैं अब से करीब २३ सौ वर्ष पूर्व हुए—सिद्ध होते हैं, न कि दो हजार वर्ष पूर्व-जैसी कि इतिहासकारों द्वारा कल्पनाएँ की गई हैं।

कहा जाता है कि २३ सौ वर्ष पूर्व तो अंगपूर्वों के पूर्ण ज्ञाता हुआ करते थे और ये उनके पूर्ण ज्ञाता नहीं थे। अतः इनको उस काल का आचार्य कैसे माना जावे? यह तर्क निर्मूल इसलिए है कि ऐसा कोई नियम नहीं है जो श्रुत केवली या अंगपूर्वों के पाठियों के समय सभी मुनि श्रुतकेवली या अंगपूर्वों के पूर्णतया पाठी बन ही जावें—उस समय गुरु उपदेश से जिसको अपने क्षयोपशम के अनुसार जितना ज्ञान प्राप्त हुआ वह उतने ही ज्ञान का अधिकारी बना। आ. कुन्दकुन्द को अपने गुरु श्रुतकेवली द्वारा जितना ज्ञान प्राप्त हो सका उसका सदुपयोग कर भव्यजीवों के कल्याण हेतु उन्होंने समयसारादि ग्रन्थों की रचना भी की। पट्टावलियों में इनके नाम के उल्लेख न होने का कारण इनके अंगपूर्वों का पूर्णज्ञानी न होना भी हो सकता है।

फिर बोधपाहुड़ ग्रन्थ के अतिरिक्त आ. श्री कुन्द कुन्द ने इसी समयसार ग्रन्थ के मंगलाचरण में भी ग्रन्थ के विषय को श्रुतकेवली भणित कहकर अपना गुरु श्रुत-केवली भद्रबाहु होने की ही पुष्टि की है। उसमें शंका करने की कोई गुंजाइश प्रतीत नहीं होती। यदि इनके कोई दूसरे (जिनचन्द्राचार्य आदि) गुरु होते तो वे अपने ग्रन्थ में गुरु के रूप में उनके ही नाम का उल्लेख अवश्य करते और उन्हीं का स्वयं को शिष्य भी दर्शाते। अपने वास्तविक गुरु का नाम छिपाने एवं उन्हीं की शिष्यता स्वीकार न करने की कुन्दकुन्द जैसे महान आचार्य त्रुटि करें यह संभव नहीं जान पड़ता। जबकि अपने गुरु का नाम छिपाना महान अपराध है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्व. श्री पं. नाथूराम जी 'प्रेमी' ने जैन हितैषी पत्र में बहुत समय पूर्व तक एक दूसरे कुन्द-कुन्दाचार्य की कथा 'ज्ञान प्रबोध' नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखी थी—जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—"मालवा

देश के बारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था, उसके राज्य में कुन्द श्रेष्ठी नाम का एक वणिक रहता था जिसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था, इनके एक पुत्र था जिसका नाम कुन्दकुन्द था । एक दिन यह बालक मित्रों के साथ खेलता हुआ नगर के उद्यान में जा पहुँचा । वहाँ मुनिराज जिनचन्द्राचार्य नर-नारियों को उपदेश दे रहे थे । कुन्दकुन्द ने भी उपदेश सुना जिससे प्रभावित होकर उसनेबालपने में ही मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली और वह भी जिनचन्द्राचार्य का शिष्य बन गया । आ. जिनचन्द्र ने ३४ वर्ष की आयु में कुन्द-कुन्द मुनि को आचार्य पद प्रदान किया— कुछ समय पश्चात गिरनार पर्वत पर इनका श्वेताम्बरों से शास्त्रार्थ हुआ जिसमें इन्होंने विजय प्राप्त की । आदि ।"

इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि ये दूसरे कुन्दकुन्द आचार्य थे जिनके गुरु श्री जिनचन्द्राचार्य थे । ये मालवा प्रान्त में जन्में थे और इनके माता-पिता दक्षिण भारत में जन्में समयसारादि ग्रन्थों के रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न थे । मालवा में जन्में कुन्दकुन्द द्वितीय भद्रबाहु आ. के समकालीन हुए प्रतीत होते हैं जो दक्षिण भारत में जन्में कुन्दकुन्दाचार्य से ३०० वर्षों के अन्तराल से हुए जान पड़ते हैं । कुन्दकुन्द नाम की समानता होने से एक हजार वर्ष पश्चात कुन्दकुन्द विषयक लिखी गई प्रशस्तियों, शिलालेखों व पट्टावलियों के लेखकों को दोनों कुन्दकुन्दाचार्यों को एक व्यक्ति मान लेने का भ्रम हुआ प्रतीत होता है । और इसीलिए उनके विषय में जन्मकाल तथा गुरु-शिष्य संबंधी वार्ताएँ भी गड़बड़ा गई प्रतीत होती हैं । इसी कारण उनमें बड़ी विषमता और मतभिन्नता भी पाई जाती है ।

यह भी तो संभव है कि पट्टावलियों आदि के लेखकों को स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा लिखित बोधपाहुड़ की वे अन्तिम गाथाएँ देखने में न आई हों जिनमें उन्होंने स्वयं को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य और उन्हें ही अपना ज्ञानदाता गुरु स्वीकार किया है । चूँकि कुन्दकुन्द स्वामी की रचनाएँ प्रायः दशवीं शताब्दी तक ग्रन्थभंडारों में एक दो प्रतियाँ होने के कारण उनसे जनता अपरिचित रही होंगी किन्तु जब आचार्य अमृतचन्द ने दशवीं शताब्दी में उन्हें देखकर टीकाएँ लिखी तभी वे प्रकाश में आई ।

यह सर्वविदित है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय उत्तर भारत में १२ वर्ष का अकाल पड़ा था तब वे अपने प्रधान शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को मनि के रूप में दीक्षित कर संघसहित दक्षिण भारत में विहार कर गये थे । और श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर उन्होंने अन्त में समाधि ले ली थी । इनके दक्षिण भारत में विहार करते समय ही संभवतः कोण्डकुण्डपुर में जन्में कुन्दकुन्द ने इन्हें अपना ज्ञानदाता गुरु, बनाकर इनकी शिष्यता स्वीकार की होगी तब ही बोधपाहुड़ ग्रन्थ में आचार्य श्री ने, श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गुरु माना और उनका ही स्वयं को शिष्य होना भी घोषित किया जो वस्तुतः प्रामाणिक प्रतीत होता है ।

जैन सिद्धान्त और समयसार

भगवान् महावीर के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक (द्रव्य, गुण और पर्यायात्मक) है। इसीलिये 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' ग्रन्थ में श्रीमदमृतचन्द्राचार्य ने ग्रन्थ के मंगलाचरण में अनेकांत को जिनवाणी का प्राण के समान मान उसकी वंदना की है और उसे संपूर्ण नयों की क्रीड़ा भूमि दर्शाते हुए एकांतवादियों को जन्मांध पुरुष की उपमा देकर हाथी की पूंछ को ही हाथी मान लेने के समान समस्त एकांतवादों को मिथ्या घोषित कर अनेकांत को वस्तु विषयक समस्त अंत-र्विरोधों को शमन करने वाला भी दर्शाया है।

अतः समस्त जिनागम में आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विषय एकांतवाद से रहित है। यत: किसी भी शब्द में वस्तु के पूर्ण स्वरूप को एक साथ प्रकट कर देने की शक्ति नहीं है, अत: इसका वर्णन क्रमश: किसी एक अंश को मुख्य तथा शेष अंशों (धर्मों-गुणों-पर्यायों) को गौण करते हुए ही किया जा सकता है। जब एक अंश (धर्म) की मुख्यता से कथन किया जाता है तब शेष का निषेध नहीं होना चाहिए शेष अंशों का निषेध करना और प्रतिपाद्य एक अंश को ही पूर्ण-वस्तु या पूर्ण सत्य मान लेना और उसी का आग्रह करना ही एकांतवाद और मिथ्यात्व है।

प्रमाण और नय

स्वरूप से अनेकान्तात्मक (द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक) या सामान्य विशेषात्मक वस्तु के सर्वांगीण ज्ञान को प्रमाण कहते हैं तथा वस्तु के एकांगी (एकांशी) ज्ञान को नय कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद हैं। बिना इन्द्रिया और मन की सहायता के आत्मिक शक्ति से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और इन्द्रियों व मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहा गया है। नय के भी दा भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक जा परिणमनशील द्रव्य की पर्यायों को गौण कर अभेद रूप में एक अखंड द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और पर्याय की मुख्यता से जो वस्तु को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। तात्पर्य यह कि एक ही वस्तु को नयों द्वारा द्रव्य और पर्याय रूप में जानकारी प्राप्त की जाती है जैसा कि वस्तु का स्वरूप है।

आगम ग्रन्थों में जिन्हें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के नाम से कहा गया है। उन्हीं नयों को समयसार व अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक नय को निश्चय तथा पर्यायार्थिक नय को व्यवहार के नाम से व्यवहृत किया गया है। अतः द्रव्य पर्याय सापेक्ष होता है (बिना पर्याय के द्रव्य नहीं रहता) और पर्याय द्रव्य सापेक्ष होती हैं (बिना द्रव्य के पर्यायें नहीं होती) अत: इनको ग्रहण करने

या जताने वाले नय भी परस्पर में सापेक्ष रहकर ही श्रुतज्ञान प्रमाण के सत्यांश माने गये हैं—जैसा कि स्वामी समन्त भद्र ने कहा है—

"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत" अर्थात् यदि अन्य नय निरपेक्ष कोई नय है तो वह मिथ्या है। और अन्य नय सापेक्ष वही नय कार्यकारी होने से सम्यक् है।

आचार्य श्री ने प्रस्तुत समयसार ग्रंथ में निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहकर यह जतला दिया है कि प्रायः सब संसार भूतार्थ (मूलवस्तु) के बोध से विमुख होकर अभूतार्थ दृष्टि (पर्याय विमूढ़) बना हुआ है (भूतार्थ शब्द दो शब्दों के योग से निष्पन्न होता है।—भूत—अर्थ। इनमें भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं—द्रव्य, सत्य, हित, जीव, प्रेतयोनि, मूलतत्व, अतीतकाल आदि। इसी प्रकार अर्थ शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है-प्रयोजन, अभिप्राय, धन, हेतु, विषय आदि। इस ग्रन्थ में भूतार्थ शब्द का प्रयोग निश्चय नय के विशेषण के रूप में किस अभिप्राय से किया गया है? इस पर गंभीरता से विचार करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि भूत-द्रव्य है प्रयोजन जिसका वह भूतार्थ निश्चय नय है और अभूत पर्याय है प्रयोजन जिसका वह अभूतार्थ (व्यवहार) नय है। यतः द्रव्य ध्रुवरूप में सदा स्थिर रहता है (जीव जीव के रूप में सदा बना रहता है) अतः वह निश्चय नय का विषय है। निश्—चय अर्थात् "चयान्निष्क्रांतोऽइति निश्चयः" जिसका चय-नाश न हो वह निश्चय। इसके सिवाय पर्यायें सदा ही अभूत पूर्व होकर नई-नई उत्पन्न होती हैं। अतः वे अभूतपूर्व उत्पाद व्ययात्मक पर्यायें हैं विषय जिसका वह अभूतार्थ व्यवहार नय है। 'व्यवहरणं' व्यवहारः' अर्थात् वस्तु की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति स्वरूप परिवर्तन का होना व्यवहार है। यह व्यवहार ही है विषय जिसका वह व्यवहार नय है। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष रहकर श्रुत प्रमाण के अंश हैं।

इस संसार में आत्मा बहुरूपिये की भाँति मनुष्य देव नारकी आदि अनेक रूपों (संयोगी पर्यायों) को धारण करता हुआ रागादि भावरूप परिणमन कर परिभ्रमण करता चला आ रहा है और इन्हीं संयोगी पर्ययों में आत्म भ्रान्तिवश अपने शुद्ध चित् स्वरूप (ज्ञायक भाव) को अनदेखा कर संयोगी पर्यायदृष्टि बना हुआ दुखी हो रहा है अतः उसे अपने शुद्ध ज्ञानमयी चित् स्वरूप का ज्ञान कराने के उद्देश्य से आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ की रचना की है। जबकि अन्य आगम ग्रन्थों गोम्मटसारादि तथा धवल महाधवल जयधवलादि) में जीव के ही शुभाशुभ भावों एवं देवनारकादि संयोगी पर्यायों का व्यवहार नय प्रधान कथन कर आत्मा का ही बोध कराया है। दोनों नय परस्पर सापेक्ष रह कर एक ही वस्तु का द्रव्य और पर्याय के द्वारा उसका यथार्थ ज्ञान कराते हैं इसलिये वे श्रुतज्ञान के अंग हैं।

जैसे बहुरूपिया जब स्त्री वेश धारण कर आवे तब उसे स्त्री ही मान लेने वाला या सिपाही (सैनिक) के वेश में आने पर उसे सिपाही ही मान लेने वाला भ्रम में है। तथा बहुरूपया भी यदि स्त्री वेश धारण कर स्वयं को स्त्री ही मान ले तो वह भी भ्रमित ही कहलावेगा--उसी प्रकार यह जीव भी अपने ज्ञानानंद मयी शुद्ध चित् स्वरूप को भुलाकर स्वयं को क्रोधी मानी या देव नारकी आदि मानकर भ्रमित हो रहा है। अतः इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (भूतार्थनिश्चय से) आत्मा को ही जीवाजीवास्रवबंध, संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य-पाप भावमयी नाना पर्यायों में आत्मद्रव्य की व्यापकता का अनुभव कर लेने को सम्यक्त्व निरूपित कर निश्चय व्यवहार का सुन्दर समन्वय करते हुए भगवान् महावीर ने अनेकान्तात्मक सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है।[1]

इसके सिवाय इस ग्रन्थ में उक्त अभिप्राय से ही जीवाजीवाधिकार, कर्त्ता-कर्माधिकार, पुण्य-पापाधिकार आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष तथा सर्व विशुद्धि अधिकार नाम के अधिकारों की रचना कर उनमें अपनी पैनी दृष्टि से आत्म कल्याण करने के लिए आत्मा का संसार से मुक्ति पाने का तत्वज्ञान द्वारा सम्यक् उपाय दरशाया है। क्योंक आत्मा का द्रव्य पर्यायमयी स्वरूप समझे बिना सम्यक्-ज्ञान नहीं हो सकता।

भूत शब्द का अर्थ द्रव्य के अतिरिक्त सत्य भी है। तदनुसार निश्चय को सत्यार्थ एवं व्यवहार को असत्यार्थ के रूप में भी इसी समयसार की ११ वीं गाथा की टीका में आचार्य श्री जयसेन ने उल्लेख किया है; किन्तु आगे इसी गाथा की टीका में उक्त आचार्य ने ही गाथा का द्वितीय रूप में व्याख्यान करते हुए व्यवहार नय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भागों में विभक्त किया है। वे लिखते हैं व्यवहार नय भी भूतार्थ (सद्भूत) और अभूतार्थ--(असद्भूत) के भेद से दो भेद रूप है। उसी प्रकार निश्चय नय भी भूतार्थ (शुद्ध निश्चय) और अभूतार्थ (अशुद्ध निश्चय) के भेद से दो भागों में विभक्त है---उनके शब्द हैं---

"द्वितीय व्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो-व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदा देशितः कथितः, न केवलं व्यवहारो देशितः शुद्धनिश्चय नयोऽपि। दुशब्दादयं शुद्ध निश्चय नयोऽपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा-इति नय चतुष्टयं।"

समयसार-रायचन्द्र शास्त्रमाला पृष्ठ ५४

इसीप्रकार--श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने भी समयसार की १४ वीं गाथा की टीका में व्यवहारनय की दृष्टि प्रधान कथन को कथंचित् भूतार्थ कहा है और शुद्ध निश्चय नय की

१ भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्ण पावं च।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥
--समयसार प्रथमाधिकार।

दृष्टि प्रधान कथन को भी कथंचित् ही भूतार्थ कहा है। वे लिखते थे:—आत्मा का अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य, नियत अविशेष और असंयुक्तपना शुद्ध निश्चय की दृष्टि से विचारने पर भूतार्थ है और व्यवहार नय की दृष्टि से देखने पर बद्ध स्पृष्ट, अन्य अनियत, सविशेष और संयुक्तपना भी भूतार्थ है। क्योंकि वस्तु स्थिति ऐसी ही है।

अतः दोनों नयों के विषय भिन्न-भिन्न हैं, जो आत्मा के द्रव्य गुण पर्यायात्मक स्वरूप का ही अपनी-अपनी दृष्टि से मुख्य गौण कर आत्मा के अनेकांतात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं (शुद्ध नय का विषय गुण पर्यायों को गौण कर एक अखंड शुद्ध नित्य चैतन्य स्वभावी आत्मा है—जबकि व्यवहार नय द्वारा द्रव्य दृष्टि को गौणकर पर्यायों और गुणों की मुख्यता से संसार दशा में आत्मा को बद्ध स्पर्श अनियतादि रूप में देखा और कहा जाता है) अतः अपने-अपने विषय को प्रतिपादक सापेक्ष उभय नय सत्यार्थ है।

एक सविशेष बात यह है कि प्रत्येक सुनय अपने विषय को मुख्य एवं अन्य के विषय को अंतरंग में सत्य स्वीकार करते हुए उसे गौण कर ही उसके प्रतिपादन करने का अधिकारी होता है। अन्य नय तथा उसके विषय के निषेध करने की न उसे कोई आवश्यकता होती है और न अधिकार ही होता है। जैन दर्शन के अनेकांत सिद्धांतानुसार सभी नयों में मैत्री भाव और परस्पर सापेक्षता स्वीकार की गई है। यदि कोई नय दूसरे नय का या उसके विषय का अहंकार या दुराग्रह वश निषेध करेगा या झुठलावेगा तो फिर वही नय सुनय न रहकर एकांत मिथ्यात्व कहा जायगा।

भूत शब्द का अर्थ हित भी है, अतः इस दृष्टि से कोई कोई मनीषी केवल निश्चय नय को ही आत्महित कारक और व्यवहार को सर्वथा अहितकारक व हेय मानते देखे जाते है। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अज्ञानियों को ज्ञानी बनाने हेतु प्रारंभिक दशा में व्यवहार नय द्वारा ही तत्व का बोध दिया जाता और दिया जा सकता है तथा परमार्थ का प्रतिपादन भी व्यवहार नय द्वारा ही किया जाता है अतः प्रयोजनवान होने से सभी जीवों का (साधक दशा में) हित कारी भी वह स्वयं सिद्ध हो जाता है। यदि व्यवहार सर्वथा झूठा हो तो उसके द्वारा किया गया परमार्थ का प्रतिपादन भी असत्य ही ठहरेगा।

इसके सिवाय आचार्य श्री ने इसी ग्रंथ की निम्नलिखित गाथा में निश्चय और व्यवहार के उपदेश के कौन पात्र हैं यह भी स्पष्ट कर दिया है—जिसकी आज के प्रवचनकार सर्वथा उपेक्षा कर रहे हैं।

'सुद्धो सुद्धादेसोणादव्वो परमभाव दरसीहिं।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे॥१२॥'

—समयसार

अर्थात् परमभावदर्शियों को जो श्रद्धा ज्ञान चारित्र के धनी हैं व स्वानुभूति संप्राप्त है उन्हें शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्ध नय जानने योग्य है और शेष जो अपरमभाव स्थित प्रारंभिक साधक दशा को प्राप्त हैं–पूर्ण श्रद्धाज्ञान चारित्र के धनी नहीं हैं उन्हें व्यवहार से उपदेश करना योग्य है।

आचार्य श्री के उक्त कथन से व्यवहार नय की हितकारिता भी सभी जीवों के हित में स्वयं सिद्ध हो जाती है; क्योंकि प्रारंभिक दशा में सभी जीव अपरम-भावदर्शी ही रहा करते हैं तब उन्हें व्यवहार नय द्वारा उपदेश देकर परमार्थ सिखाया जाता है और इसी से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति भी लोक में हुआ करती है।

समयसार के टीकाकार आचार्य जयसेन ने निश्चय और व्यवहार नयों को दो नेत्रों की उपमा दी है। जैसे एक नेत्र को बंद कर देखने से नाक की दूसरी ओर वाली वस्तु दिखाई नहीं देती–जिसका कि अस्तित्व है–उसी प्रकार एक नय से वस्तु का एक अंश ही ग्रहण करने में आता है–अन्य नहीं। जीवों का त्रिकाली जीवत्व सामान्य निश्चय का विषय है और उसमें गुणों के भेद एवं शुद्धाशुद्ध पर्यायें व्यवहार नय के विषय हैं। दोनों नयों से आत्मा और उसके गुण पर्यायों का स्वरूप जानना यथार्थ ज्ञान के लिये अनिवार्य है।

अनेक बंधु नयों के पक्षपातवश निश्चय निरपेक्ष व्यवहार या व्यवहार निरपेक्ष निश्चय के द्वारा ही आत्मानुभूति कर लेने का भ्रम पालते देखे जाते हैं; किंतु निरपेक्ष उभय नयों द्वारा तत्वों का यथार्थ ज्ञान और तत्पूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त कर लेना संभव नहीं है।

इस संदर्भ में पञ्चाध्यायीकार ने शंका समाधान द्वारा ग्रंथ में जो कथन किया है वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है– लिखते हैं—

> "ननु केवलमिहनिश्चय नय पक्षो यदि विवक्षितो भवति ।
> व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिः सः ? ।।६५४।।
> नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयोऽस्ति निरपेक्षः ।
> सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधः सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ।।६५५।।
>
> —पञ्चाध्यायी

अर्थात् (शंका) प्रश्न—यदि यहाँ केवल व्यवहार निरपेक्ष निश्चय नय का पक्ष ही विवक्षित हो तब आत्मानुभूति हो जायगी क्या ? (समाधान) उत्तर—असंभव दोष आने से ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि कोई सुनय निरपेक्ष नहीं होता। विधि रूप प्रधान कथन करने पर प्रतिषेध और प्रतिषेध करने पर विधि का होना निश्चित है।

प्रत्येक वस्तु के अनेकांतात्मक होने से द्रव्य प्रधान अभेद कथन में गुण पर्यायें गौण हो जाती हैं और गुण पर्याय रूप भेद कथन में द्रव्य गौण हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसका या उनका सर्वथा अभाव हो जाता है–अन्य पक्ष

की अविवक्षा होने से उसका विषय केवल गौण ही होता है। यतःसमग्र जैनदर्शन अनेकांत और उसके स्याद्वाद रूप कथन से ओत-प्रोत है। अतः आचार्य कुंदकुंद ने समयसार में ही किसी नय विशेष का पक्ष न लेकर उभय नयों से वस्तु का स्वरूप समझने का निर्देश देते हुए समयसार को नय पक्षातिक्रांत घोषित किया है। लिखते हैं—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समय पडिबद्धो।
णदु णय पक्खं गिण्हदि किंचिवि णय पक्ख परिहीणो॥
—समयसार गाथा १४३

अर्थात् आत्मोन्मुख साधक दोनों नयों से प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को जानता है; किंतु किसी नय का पक्षपात किंचित् भी नहीं करता; क्योंकि वह नयों के पक्षपात से रहित होता है; जबकि किसी भी नय का सर्वथा पक्ष लेना ही एकांत मिथ्यात्व है।

इस संदर्भ में पाठकों को यह जिज्ञासा होना संभव है कि समयसार गाथा क्रमांक २७३ में निश्चयनय द्वारा व्यवहार नय को प्रतिषिद्ध बताया गया है— एवं निश्चय नय के आश्रित मुनियों को निर्वाण का पात्र माना है तथा समयसार कलश टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने श्लोक क्रमांक १७३ में 'सर्वत्राध्यवमानमेवभखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः'— (आदि में) अन्याश्रित समस्त व्यवहार को त्याज्य बताकर संतोंको निश्चय का आश्रय लेने की प्रेरणा की है। ऐसा क्यों ? समाधान यह है कि किसको क्या त्याज्य (हेय) और किसको क्या उपादेय है—यह व्यक्ति की तत्कालीन योग्यता एवं परिस्थिति पर निभर है। उल्लिखित गाथा और कलश समयसार के बंध अधिकार में स्थित है। बंध से मुक्ति पाने के लिये मुनियों को शुद्धोपयोग की प्राप्ति हेतु पराश्रित शुभाशुभ विकल्पों— (अध्यवसानों) को हेय जान त्याग करना जो कि व्यवहार नय के विषय है— आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है, अतः आचार्य श्री ने उनको त्याग करके शुद्धोपयोगी बनने की प्रेरणा की है। दूसरे शब्दों पराश्रित समस्त विकल्पों को छोड़ स्वाश्रित निश्चय धर्म (ज्ञायक स्वभाव) का आश्रय लेकर निर्वाण प्राप्त करने की शिक्षा दी है।

उन्होंने यह नहीं कहा कि—व्यवहार नय के विषय भूत अध्यवसानों का अस्तित्व नहीं है या व्यवहार नय मिथ्या है। नीचे (शुभोपयोग) की भूमिका से ऊपर उठकर मुनियों को शुद्धोपयोगी बनने और निर्वाण प्राप्त करने को प्रेरित किया है।

तात्पर्य यह कि वस्तु का यथार्थ एवं पूर्ण रूप जानने के लिये दोनों नयों का उपयोग करना चाहिए—जिससे उसका द्रव्य पर्यायमयी शुद्धाशुद्ध रूप जाना जा सके; किन्तु ज्ञान होने के पश्चात क्या हेय और क्या उपादेय है—इसका स्वविवेक से निर्णय कर आचरण करना ही श्रेयस्कर है। समयसार में प्रायः मुनियों को लक्ष्य कर ही कथन किया गया है इसलिये उन्हें शुद्धोपयोग साक्षात उपादेय है और गृहस्थों को शुद्धोपयोग का लक्ष्य बनाए रखकर अशुभ के त्यागपूर्वक शुभोपयोग रूप प्रवत्ति करते हुए शुद्धोपयोग की प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

खेद है कि आज हमारी समाज में समयसार पर आधारित निश्चय-व्यवहार निमित्त-उपादान, हेयोपादेयादि विषयों को लेकर नगर २ और घर-घर में नयों के पक्षपात द्वारा अभूतपूर्व द्वंद छिड़ा हुआ है । यह सब आधुनिक प्रवचनकारों द्वारा अनेकान्त सिद्धान्त पर आघात करने का दुष्परिणाम है—जो जाने अनजाने अनेक भ्रमों को जन्म देकर समाज में फूट का बीज भी बोता हुआ दिखाई दे रहा है । समयसार के शुद्ध निश्चय प्रधान कथन को पढ़ सुनकर अनेक जनों का निश्चय का पक्षपाती बनकर व्यवहार नय और उसके कथन को सर्वथा असत्य व हेय मान तथा व्यवहार धर्म को भी केवल जड़ की क्रिया जानकर व्रत-शील-संयम-तपश्चरणादि धार्मिक आचरण से विमुख हो जाना एवं स्वयं के रागी द्वेषी मोही रहते हुए भी सिद्ध भगवान के समान शुद्ध-बुद्ध निरंजन निर्विकार केवल ज्ञान संयुक्त होने का अल्पज्ञ होते हुए भी भ्रम पालना प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से आश्चर्य जनक आत्मवंचना है ।

आचार्यकल्प पं. प्रवर टोडरमलजी के समय में भी ऐसा ही हुआ था । जिसका उन्हें अपने मोक्षमार्ग प्रकाशन ग्रन्थ में निम्न शब्दों में उल्लेख करना पड़ा । वे लिखते हैं—

"जिनवाणी विषैं तो नाना नय अपेक्षा कहीं कैसा कहीं कैसा निरूपण किया है । यह (निश्चयाभासी-निश्चयैकांती) अपने अभिप्राय तैं निश्चयनय की प्रधानता करि जैसा कथन किया होय ताही को ग्रहण कर मिथ्यादृष्टित्व कौं धारै है । बहुरि जिनवाणी विषैं तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता भयें मोक्षमार्ग कह्या है । सो याकैं सम्यग्दर्शन ज्ञान विषैं सप्त तत्वनि का श्रद्धान-ज्ञान भया चाहिए । सो तिनका विचार नाहीं अर चारित्रविषैं रागादिक दूर किया चाहिए—ताका उद्यम नाहीं । एक अपने को शुद्ध अनुभवना-इसही को मोक्षमार्ग मान संतुष्ट भया है । ताका अभ्यास करने कौं अंतरंग विषैं ऐसा चिंतवन किया चाहे है—'मैं सिद्ध भगवान् समान शुद्ध हौं-केवलज्ञानादि सहित हौं-परमानंद मय हौं—जन्म मरणादि दुख मेरे नाहीं (दूसरे शब्दों में शरीर के या पर्याय के हैं) इत्यादि चिंतवन करै है । सो तहां पूछिये है—यह चिंतवन तुम द्रव्यदृष्टि से करो हो तो द्रव्य तो शुद्ध अशुद्ध सर्व पर्यायनि का समूह है—तुम शुद्ध ही अनुभव काहे कों करो हो ? अर पर्याय दृष्टि करि करो हो तो तुम्हारे तो वर्तमान में अशुद्ध पर्याय है, तुम आत्मा को शुद्ध कैसे मानो हो ? बहुरि जो शक्ति अपेक्षा शुद्ध मानो हो तो मैं ऐसा (शुद्ध) होने योग्य हूँ—ऐसा मानो । मैं ऐसा (शुद्ध) हूँ- ऐसा काहे को मानो हो ? तातैं अपने को शुद्ध चिंतवन करना भ्रम है । काहे तैं ? तुम अपने को सिद्ध समान मान्या तो यह संसार दशा कौन की है ? अर तुम्हारे केवल ज्ञानादिक है तो मतिज्ञानादिक कौन के हैं ? अर द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हो तो ज्ञानादिक (गुणों) की व्यक्तता क्यों नहीं ? परमानंद मय हो तो अब कर्तव्य क्या रहा ? जन्म मरणादिक दुख तुम्हारे नाहीं तो दुखी कैसे होते हो ? तातैं अन्य अवस्था विषैं अन्य अवस्था मानना भ्रम है ।"

दिल्ली प्रकाशन मोक्ष मार्ग प्रकाशक अध्याय ७, पृष्ठ २९१-२९२

प्रस्तुत प्रस्तुति के संबंध में—

अब से करीब ३०-३५ वर्ष पूर्व समाज में समयसार के प्रचार-प्रसार के साथ ही मूल ग्रंथकर्ता आचार्य श्री के शुद्ध नय प्रधान कथन के गूढ़ अभिप्रायों की यथार्थ जानकारी के अभाव एवं नवोदित प्रवचनकारों द्वारा जैन दर्शन के मूल अनेकांत की उपेक्षा करने के कारण नयों की खींचतान से अनेक भ्रमों एवं मताग्रहों की चिंताजनक बीमारी का प्रवाह भी बढ़ता चला जा रहा था। इससे समाज दो भागों में विभाजित सा होता हुआ दिखाई देने लगा था। यह सब देखकर अंतरात्मा ने स्वतः ही प्रेरित किया कि मूलग्रंथ एवं उसकी टीकाओं पर आधारित राष्ट्रभाषा में निष्पक्ष भाव से उभय नय समन्वित काव्य की रचना करूँ—जो स्वांतः सुखाय होकर ऐकांतिक भ्रम रोगों को अनेकांत की संजीवनी बूटी द्वारा निवारण करने में सहायक भी हो।

जब कुछ प्रारंभिक पद्यों की रचना का गुरुणांगुरु स्व. पूज्य पंडित न्यायालंकार श्री वंशीधर जी शास्त्री तथा श्री पू. पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री एवं सिद्धांताचार्य श्री पं. फूलचंद जी सिद्धांतशास्त्री वाराणसी ने अवलोकन किया तो बड़ी प्रसन्नता के साथ ग्रंथ को पूर्ण करने की प्रेरणा की। तब साहस बटोर कर इस महत्कार्य को सम्पन्न करने जुट गया—जिसमें श्री पू. पं. जगन्मोहनलालजी का प्रारंभ से अंत तक मार्गदर्शन प्राप्त रहा।

ग्रंथ रचना के पूर्ण हो जाने पर आदरणीय ब्र. गुना निवासी मुंशी भँवरलाल जी ने पांडुलिपि से प्रेस कापी बनाई एवं उदासीनाश्रम में ही न्यायालंकार जी ने आदि से अंत तक आश्रम के अधिष्ठाता बा.ब्र. बाबूलालजी के योगदान के साथ ग्रंथ का पारायण किया। इन्हीं महानुभावों तथा श्री पं. कुन्दनलालजी न्यायतीर्थ के सुझाव से रा.ब. स्व. श्रीमंत सेठ हीरालालजी कासलीवाल ने अपनी पू. स्व. मां सा. की पुण्य स्मृति में इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण प्रकाशित करवाकर स्व. भैया मिश्रीलालजी गंगवाल-मुख्यमंत्री मध्यप्रदेश की अध्यक्षता में विमोचन भी करवा कर हजारों की संख्या में उपस्थित समाज को समर्पण किया। इसके डेढ़ मास के पश्चात् ही समाज के धर्मानुरागी महानुभावों के आर्थिक सहयोग से इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो गया और तब ग्रंथ का अवलोकन कर धर्मानुरागी समाज के मूर्धन्य विद्वानों एवं पत्र पत्रिकाओं के संपादक महानुभावों ने अनुमोदन एवं सराहना करते ग्रंथ को धर्म एवं समाज हित में अत्यन्त उपयोगी निरूपित किया। यह सब सन् १९७०-७१ में हुआ।

तब ही से अनेक महानुभावों की प्रेरणा चल रही थी कि पद्यों के साथ ग्रंथ की सरलभाषा में भावार्थ भी अवश्य लिखूं ताकि जनसाधारण को ग्रंथ का भाव समझना सरल हो जाने से कोई कठिनाई न हो।

अतः पाठकों की उक्त प्रेरणावश भावार्थ लिख कर तथा साथ में ग्रंथ की मूल गाथाओं का समावेश कर आज इस रूप में ग्रंथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किन्तु शक्ति भर सावधानी वर्तते भी इसमें अल्पज्ञता के कारण त्रुटियों का रह जाना असंभव नहीं है। अतः विज्ञ महानुभावों से प्रार्थना है कि वे उन्हें सुधार कर पढ़ें, पढ़ावें एवं मुझे क्षमा प्रदान करते हुए सूचित करने की भी कृपा करें।

"को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे"

यहाँ मैं अपने पूज्य गुरुवर्य श्री पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन हेतु क्या लिखूं—जिनका विद्यार्थी जीवन से ही मेरे ऊपर पुत्रवत् स्नेह रहा है एवं इस रचना की दो-दो बार भूमिकाएँ लिखने एवं मार्गदर्शन प्रदान करने का कष्ट उठाया है तथा अपनी कुण्डलपुर यात्रा स्थगित कर कटनी में १०-१२ दिन लगातार अहर्निश इस ग्रंथ की पांडुलिपि का पारायण करते हुए ग्रंथ को त्रुटिहीन बनाने में सहायता प्रदान की है। मैं उनके प्रति हार्दिक विनयांजलि अर्पित करना अपना सौभाग्य मानता हूँ। पारायण में कुछ समय श्री प्रोफेसर खुशालचंदजी गोरावाला साहित्याचार्य-अधिष्ठाता स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी का सहयोग भी रहा जिसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद !

मैं अपने प्रारंभिक विद्यागुरु स्व. श्री पं. रामलालजी विशारद 'विद्याभूषण' का भी पुण्य स्मरण करता हूँ। जिन्होंने मुंगावली (ग्वालियर) में विद्याध्ययन कराते हुए श्री राष्ट्रीय विद्याभवन एवं परीक्षा सम्मेलन आगरा से परीक्षा दिलाकर 'जैन धर्मभूषण' की उपाधि भी प्रदान करवाई थी।

इस संदर्भ में मैं परमपूज्य सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री मुनि विद्यानंदजी महाराज का जितना भी आभार मानूं—कम ही रहेगा—जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर प्रस्तवन स्वरूप इस ग्रंथ में ग्रंथ के हार्द की बहुमूल्य मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए मुझे शुभाशीर्वाद प्रदान करने की महती कृपा की है। उनके श्री चरणों में सविनय नमोस्तु !

परमपूज्य अंकलीकर महाराज की परम्परा में पूज्य आचार्य मुनि श्री सन्मति-सागरजी महाराज एवं बालाचार्य श्री मुनि योगीन्द्रसागर जी महाराज का भी बहुत आभारी हूँ। जिन्होंने ग्रंथ का अवलोकन कर शुभाशीर्वाद प्रदान करने की कृपा की है।

स्वस्ति श्री कर्मयोगी भट्टारक श्री चारुकीर्ति स्वामी जी श्रवणवेलगोला एवं श्रीमती परम विदुषी ब्रह्मचारिणी बहिन कौशलजी ने अपने मूल्यवान् उद्गार प्रकट कर मंगलकामनाएँ प्रेषित कर अनुग्रहीत किया है उनका भी मैं आभार मानता हूँ।

मैं उन सभी विद्वज्जनों, पत्र-पत्रिकाओं के संपादक महानुभावों तथा धर्मानु-रागी बंधुओं का बड़ा आभारी हूं जिन्होंने मेरे और ग्रंथ के विषय में अपने हार्दिक

उद्गार प्रकट कर मुझे अनुगृहीत किया है। ग्रंथ प्रकाशन संयोजकों तथा निस्पृह भाव से अनुदान राशि प्रदान करने वाले धर्मानुरागी महानुभावों तथा जिन्होंने जिस किसी प्रकार भी प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया उन सभी को हार्दिक धन्यवाद !

भावार्थ लेखन एवं प्रकाशन में सर्वप्रथम सक्रिय प्रेरणा कटनी के स. सि. कन्हैयालाल, रतनचन्द्र पारमार्थिक ट्रस्ट के ट्रस्टी श्री स. सि. धन्यकुमारजी अभयकुमार जी, जयकुमारजी द्वारा ट्रस्ट से ग्रंथ प्रकाशन हेतु सहयोग राशि प्राप्त होने से मिली थी जिससे प्रेरित हो भावार्थ लिखा गया। इस ज्ञानयज्ञ में श्री सुन्दरलालजी मूलचंदजी एवं उनके परिवार का प्रमुख आर्थिक योगदान प्राप्त हुआ है तथा कटनी के उक्त सिंघई बंधुओं के साथ ही सर्वश्री बाबू सा प्रकाशचंद जी टोंग्या, सौभाग्यमल जी गोधा तथा विशेषरूप में मुंशी गुलाबचन्दजी जैन तथा श्री सोनेलालजी जैन ने जिस दिलचस्पी से सक्रिय सहयोग प्रदान कर अपनी धार्मिक लगन दर्शाते हुए जिनवाणी के प्रकाशन में उत्साह दर्शाया है वह स्मरणीय रहेगा।

नई दुनिया प्रिंटरी के व्यवस्थापक श्री हीरालालजी झांझरी तथा उनके सहयोगी श्री श्रीनिवासजी, महेन्द्रजी डांगी – सभी महानुभावों ने ग्रंथ के मुद्रण में जो सहयोग प्रदान किया है उसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद !

परमपूज्य भगवान् ऋषभदेव बावनगजा (बड़वानी) सिद्ध क्षेत्र स्थित
विश्व प्रमुख विशालकाय जिनबिंब के नूतन
पंचकल्याणक प्रतिष्ठोत्सव

एवं

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंद द्विसहस्राब्दी समापन समारोह के सुअवसर पर
सिद्धान्त चक्रवर्ती परमपूज्य आचार्य श्री मुनि विद्यानंद जी
महाराज के करकमलों द्वारा विमोचित यह ग्रंथ
आत्मजिज्ञासु धर्म बंधुओं
को धर्माराधन हेतु
सादर समर्पित

२४६, सुदामानगर, इन्दौर
जनवरी १९९१

विनीत :
नाथूराम डोंगरीय जैन

स्याद्वादाभिनन्दनम् !

(१)

निशा में दशों दिशा के बीच
फैल जाता है जब तम तोम ।
उसे लय कर ज्यों दिव्य प्रकाश
दिवाकर द्वारा करता व्योम ।।

(२)

तथा मिथ्यात्व तमावृत विश्व
सत्य की करने जब पहिचान—
तत्वतः हो जाता असमर्थ
दूर करने तद् भ्रांति महान ।

(३)

अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप
प्रकट कर स्याद्वाद के द्वार
सत्य पथ दरशाता अम्लान
जैन दर्शन तब विविध प्रकार ।

(४)

द्रव्य गुण पर्ययात्मक वस्तु—
गुणों की दृष्टि कथंचित् नित्य,
किन्तु पर्याय दृष्टि सापेक्ष
वही दिखती सुस्पष्ट अनित्य ।

(५)

विवक्षा वश कहने पर नित्य
गौण हो रहें नाश-उत्पाद ।
गौण नहि कर यदि करें निषेध
उपस्थित हो तब वाद विवाद ।

(६)

नित्य वत् हैं गुण धर्म अनेक,
एक कर मुख्य शेषकर गौण—
न होता स्याद्वाद तो तत्व
कथन पथ यह दिखलाता कौन ?

(७)

जनों की पारस्परिक विरुद्ध
दृष्टियों को देकर बहुमान—
समन्वय कर सरसाता कौन
विश्व में मैत्री भाव महान् ?

(८)

विमल कर अपनी दृष्टिविशाल
स्व-पर की कर सम्यक् पहिचान ।
समझकर बंध-मोक्ष की राह—
भव्य जन करें आत्म कल्याण ।

(९)

जयतु जिनमुख निर्गत अवदात
परिष्कृत 'स्याद्वाद' मय बैन ।
विश्व में मंगलमय हो दिव्य
जैन दर्शन की यह प्रिय दैन ।

नाथूराम डोंगरीय जैन

धर्मप्रेमी, दानशील, उदारमना, समाजसेवी–

स्व. भायजी श्री मूलचन्दजी जैन परवार, इन्दौर

जन्म	निधन
1-1-1901	21-10-1990

आप एक अत्यंत साहसी उदार हृदय, उद्यमी पुरुष थे । धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में अपने द्रव्य का सदुपयोग करते हुए आपने जबरीबाग नसिया में भ. बाहुबली की वेदी तथा क्लर्क कॉलोनी में मंदिर, वेदी व धर्मशाला के निर्माण में एवं गोम्मटगिरि पर पू. आचार्य श्री की चरण पादुका की स्थापना में आर्थिक योगदान प्रदान कर देवगुरु धर्म की भक्ति-भावना को मूर्त रूप प्रदान किया था। छत्रपति नगर में मंदिर निर्माण हेतु द्रव्य दान देकर भी पुण्य लाभ लिया था । इस ग्रंथ के प्रकाशन में पर्याप्त आर्थिक सहयोग प्रदान कर जिन वाणी की जो बहुमूल्य सेवा की है वह चिरस्मरणीय रहेगी ।

नाथूराम डोंगरीय जैन

समाज एवं धर्मसेवी स्व. मूलचन्द भायजी इन्दौर

(सक्षिप्त परिचय)

आपका जन्म 1 जनवरी सन् 1901 मे मध्यप्रदेश के सागर जिले की खुरई तहसील के ललोई ग्राम मे हुआ था। आपके पिता स्व. श्री रामचन्द्रजी जैन ग्राम मे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे–जिनका निधन श्री मूलचन्दजी की बाल्यावस्था मे ही हो गया था। वयस्क होने पर आप सन् 1938 के करीब बीना से इदौर आये और यहाँ पर सर्व प्रथम भारतमाता बीड़ी कपनी के नाम से एक नवीन उद्योग की स्थापना की–जो आज मेसर्स सुन्दरलाल मूलचन्द टोबेकोनिष्ट (प्रा लिमिटेड) के नाम से प्रतिष्ठित है।

श्री मूलचन्द जी भायजी दि जैन परवार समाज के एक प्रतिष्ठित उदारमना सज्जन थे–जिन्होने अपने जीवन मे अनेक सामाजिक एव धार्मिक कार्यों मे समय-समय अपने द्रव्य का सदुपयोग किया। तथा इस ग्रथ की एक हजार प्रतियो के प्रकाशन मे पूर्णतया आर्थिक सहयोग प्रदान कर जिनवाणी की भी बहुमूल्य सेवा की। खेद है कि ग्रथ प्रकाशन के पूर्व ही आपका निधन हो गया।

आपको प्राय सभी जन श्रद्धा एव प्यार की बोली मे 'दद्दा' के नाम से पुकारते थे। आपकी उदारमना धर्मनिष्ठ पत्नी तथा सर्वश्री सुन्दरलालजी नरेन्द्र-कुमारजी आजाद कुमार जी तथा डॉ अशोककुमार जी एव समस्त परिवार ने धर्मानुरागवश आपकी पुण्य स्मृति मे 1,11,000–00 की वृहत् रकम प्रदान कर एक पारमार्थिक ट्रस्ट की स्थापना की है–जो अपने पूज्य स्वर्गीय की धर्म एव समाज वत्सलता के अनुरूप होकर अनुकरणीय है। इसके लिये उनका सारा परिवार धन्यवाद का पात्र है।

डॉ जैनेन्द्रकुमार जैन
195, पितृ पुरुषार्थ छत्रपति नगर इन्दौर

गुलाबचन्द जैन 'मुंशी'
103/3, तिलकनगर मेन इन्दौर

अनुक्रम

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

समयसार-वैभव

मूल प्रणेता—

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य

अनुसर्ता

नाथूराम डोंगरीय जैन न्यायतीर्थ

卐

जीवाजीवाधिकार

(१)

मंगलाचरण

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणियं ॥१॥

अनुपम अचल अमल[1] अविनश्वर—
गति संप्राप्त सहज अभिराम।
मंगलमय भगवन् महामहिम—
सिद्ध वंदना कर निष्काम ॥
श्रुतकेवलि प्रतिपादित पावन—
परंज्योति विज्ञान निधान ।
समयसार वैभव दरशाऊँ—
मोह महातम नाशन भान ॥

भावार्थः—मैं (कुंदकुंदाचार्य) अनुपम, अविनाशी, परिपूर्ण कर्ममल-रहित, सिद्धदशा को प्राप्त मंगलमय सिद्ध भगवन्तों की वंदना कर भगवान् श्रुतकेवली द्वारा प्रतिपादित समयसार (शुद्धात्मतत्व) को दरशाता हूँ। जिससे अज्ञानी जीवों का मोहांधकार विलीन हो।

---

१. जयसेनी टीका में 'अमल' पाठ है।

विशेष

आचार्य श्री ने इस मंगलाचरण सूत्र में व्यवहार नय का आश्रय लेकर अपनी संसार दशा को अशुद्ध एवं हेय तथा सिद्ध दशा को शुद्ध व उपादेय मानकर सिद्ध भगवन्तों की वंदना की है। उन्होंने ग्रंथ रचना की प्रतिज्ञा करते हुए अपना उद्देश्य शुद्धात्म तत्व के दर्शन कराना प्रकट कर ग्रंथ की प्रामाणिकता के विषय में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मैं श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहु की दिव्य वाणी में जैसा शुद्धात्म तत्व प्रतिपादित है—उसीका प्रतिपादन करूँगा।

(२)

समय का स्पष्टीकरण व भेद

जीवो चरित्तदंसणणाणठ्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसठ्ठियं च तं जाण परसमयं ।।२।।

समय जीव चैतन्यमयी है—
सुख सत्ता सम्पन्न ललाम।
इसके स्वर पर भेद इसकी ही—
परिणतियों का है परिणाम।।
स्व-समय जीव वही जो—
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण में लीन।
राग द्वेष मोहादि विकृति रत—
जीववृन्द पर-समय मलीन।।

भावार्थ:—ज्ञानानंदमयी चैतन्य स्वभावी आत्मा को ही यहां 'समय' शब्द से ग्रहण किया गया है। आत्मा की परिणतियाँ दो प्रकार की होती हैं। १. शुद्ध, २. अशुद्ध। इनमें शुद्ध परिणति वाला जीव 'स्व-समय' और अशुद्ध परिणति वाला 'पर समय' कहा जाता है—अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में लीन शुद्धात्मा स्व-समय और पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित (कर्म बन्धनबद्ध) आत्मा—जो राग द्वेष मोह में मग्न हुआ है—उसे परसमय जानो। यहाँ व्यवहार नय से आत्मा के स्वसमय (शुद्ध) और परसमय (अशुद्ध) ये दो भेद किये गये हैं।

(३)

स्वसमय और परसमय में विसंवाद का पात्र कौन ?

एयत्तणिच्छयगओ समयो सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिनी होई ।।३।।

एक शुद्ध निश्चय गत शाश्वत–
आत्मतत्व अनुपम अभिराम ।।
पावन है सर्वत्र लोक में–
इसकी स्वाश्रित कथा ललाम ।।
जीव कर्म बन्धन की गाथा–
विसंवाद करती उत्पन्न।।
पर समयाश्रित भेद तत्वत:
इससे ही होता निष्पन्न ।।

भावार्थ:––अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित एकत्व भाव को प्राप्त आत्मा निश्चय से लोक में सर्वत्र ही सुन्दर प्रतीत होता है; किन्तु आत्मा के साथ कर्म बन्धन की बात विसंवादिनी बन जाती है अर्थात् बंधनबद्ध संसारी जीव कलंकित होने से सदा ही विसंवाद का पात्र बना रहता है। जबकि अपने शुद्ध स्वरूप में संस्थित कर्म कलंक रहित आत्मा में विसंवाद का कोई कारण नहीं रहता ।

(४)

परसमय-संसारी जीव की परिणति

सुद परिचितानुभूदा सव्वस्सवि काम भोग बंध कहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि न सुलहो विहत्तस्स ।।४।।

मोह पिशाच ग्रसित उलझे हैं–
भव कुचक्र में जीव अनंत ।
काम भोग की बंध कथाएँ
सुने चाव से नित हा ! हंत ! !

तन्मय हो रम रहे उन्हीं में
मत्त दंतिवत् विसर स्वरूप।
कभी शुद्ध चैतन्य न जाना
सुना न अनुभव किया अनूप ।।

भावार्थ:—मोह रूपी पिशाच से ग्रसित समस्त संसारी जीव काम भोग और बंधन की कथाओं को बड़े चाव से सुनते हैं, उनसे परिचित भी हैं और प्रायः उनही में रमे भी रहते हैं। इन्हें अपने शुद्ध स्वरूप को सुनने जानने और समझने का दुर्लभ अवसर कभी नहीं मिला—शुद्ध स्वरूप का अनुभव होना तो दूर की बात है।

(५)

ग्रंथ कर्त्ता का संकल्प

तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं न घेतव्वं ।।५।।

भव भ्रमणा में नाना रूपों—
को धारण कर वर चिद्रूप—
भिन्न भिन्न प्रतिभासित होता
उसे एक अविभक्त स्वरूप—
दर्शाता हूँ— युक्त्यागम गुरु—
ज्ञान स्वानुभव विभव प्रमाण।
दरश जाय करलें प्रमाण, पर—
चूक जन्य छल ग्रहें न जान ।।

भावार्थ:—कर्म बन्धन बद्ध संसारी जीव नाना गतियों में परिभ्रमण करता हुआ देव नारक मनुष्यादि रूपों में भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होता है। मैं उसे एक शुद्ध और पर शरीरादि से भिन्न स्वतंत्र पदार्थ के रूप में युक्तियों, आगमज्ञान तथा स्वानुभव के द्वारा दरशाता हूँ। यदि दरशा दूं तो प्रमाणकर लेना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना

अर्थात् जिस दृष्टि से मैं आत्मा का शुद्ध स्वरूप दरशा रहा हूँ उसे उसी दृष्टि से समझ कर ग्रहण करना। दृष्टिभ्रम वश-अन्यथा ग्रहण न कर लेना। इस गाथा द्वारा आचार्य श्री ने हमें सचेत करते हुए अपनी निरभिमानता एवं महानता का परिचय भी दिया है।

(६)

शुद्धतम निश्चय (दृष्टि) से शुद्धात्म स्वरूप

णवि होई अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो दु सो चेव ॥६॥

६/१

स्वतः सिद्ध अनुपम अनादि से–
अंतहीन जो ज्ञायक भाव।
वही शुद्धनय की सुदृष्टि से–
कहा आतम का शुद्ध स्वभाव ॥
वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं, ये–
हैं सब कर्म जन्य परिणाम।
निर्विकल्प चिज्ज्योति स्वानुभव–
गम्य रम्य वह वही ललाम ॥

भावार्थः—यह आत्मा शुद्ध निश्चयनम की दृष्टि से स्वतः सिद्ध है एवं जिसका आदि अन्त नहीं ऐसे ज्ञायक भाव से युक्त है अर्थात् ज्ञान-स्वभावी शुद्ध स्वतन्त्र पदार्थ है। इसी शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से न तो वह प्रमत्त (कषाय वान्) और न अप्रमत्त ही प्रतिभासित होता है; क्योंकि द्रव्य दृष्टि में पर्याय सम्बन्धी सभी भेद (प्रमाद दशा या अप्रमत्त दशादि कृत भेद) गौण हो जाने से एक शुद्ध अभेद रूप आत्मा ही अनुभव में आता है–कि मैं अन्य समस्त द्रव्यों एवं उनके भावों से भिन्न ज्ञानमयी आत्मा हूँ। जो ज्ञान स्वरूप निर्विकल्प आत्मा इस दृष्टि में अनुभूत होता है–केवल अनुभव गोचर होने से वह बस वही है जैसा कि अनुभव में आ रहा है। अर्थात् उसे शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता–वह अनिर्वचनीय है।

६/२

आत्मा को शुद्ध कहने का अभिप्राय—

आत्म शुद्ध कहने का केवल
अभिप्राय यह यहाँ प्रवीण !
अन्य सकल पर द्रव्य भाव से
चेतन की सत्ता स्वाधीन ।।
वर्तमान में यह न समझना—
'हम पर्याय दृष्टि भी शुद्ध'
जीवन में रागादि विकृति के—
रहते आत्म न शुद्ध न बुद्ध ।।

भावार्थः—शुद्धनय से आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व मे पुद्गलादि अन्य समस्त पर द्रव्यों—उनके गुणों और धर्मों से भिन्नता पायी जाती है। यद्यपि बंध दशा में आत्मा और पुद्गल (कर्म एवं शरीरादि) दूध-पानी की भाँति परस्पर मिले हुए हैं—फिर भी पुद्गल जीव नही हो जाता और न जीव पुद्गल । वस्तुतः आत्मा किन्हीं दो द्रव्यों का मिश्रण न होकर एक स्वतन्त्र पदार्थ है । अतः इस द्रव्य दृष्टि से वह शुद्ध है; किन्तु पर्याय दृष्टि से बंध दशा में वह जब तक कर्म बंधन में पड़ा हुआ एवं रागी द्वेषी बना हुआ है तब तक वह इस दृष्टि की मुख्यता से न तो शुद्ध है और न अज्ञान-भाव निरत होने से बुद्ध ही है ।

६/३

शुद्धनय का प्रयोजन

जीवमात्र मे विद्यमान है—
शक्ति अमित अव्यक्त महान ।
यदि पुरुषार्थ करें—बन जायें
हम सब स्वयं सिद्ध भगवान् ।।

इस स्वशक्ति का बोध कराना
ही अभीष्ट है यहाँ प्रवीण !
यत्प्रसाद अमरत्व प्राप्त कर
आत्म बने सुस्थिर स्वाधीन ।।

भावार्थः—अशुद्ध दशा में भी शुद्धनय से आत्मा को शुद्ध दरशाने का प्रयोजन यह है कि ज्ञान स्वरूप अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप पर ध्यान देकर अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी पर्याय में कर्म बन्धन एवं रागादि विकारजन्य जो अशुद्धता है उसे दूर कर सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध बन जावे ।

(७)

व्यवहार और शुद्धनय में दृष्टिभेद

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणओ सुद्धो ।।७।।

एक अखंड वस्तु में नाना—
गुण पर्यय का कर निर्धार—
भेद रूप प्रतिपादन करता—
वह नय कहलाता व्यवहार ।।
गुरु इस नय ज्ञानी के करते
दर्शन ज्ञान चरण व्यपदेश ।।
शुद्ध दृष्टि ज्ञायक ही पाती
दर्शनादि का भेद न लेश ।।

भावार्थः—व्यवहार नय वह है जो एक अखण्ड वस्तु में विद्यमान गुणों और समय-समय होने वाली पर्यायों को दृष्टि में रखकर (वस्तु में) भेद करता है । इस व्यवहार नय से एक आत्मा में उसके दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणों को लक्ष्य कर भेद किये जाते हैं—कि आत्मा ज्ञाता है, दृष्टा है आदि; किन्तु शुद्धनय की दृष्टि में ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुणों

का भेद गौण हो जाता है और उसमें आत्मा एक अखण्ड चैतन्य स्वरूप ही अनुभव में आता है। जैसे व्यवहार में सोना पीला दीप्तिमान् भारी आदि गुणों वाला या कड़ा आदि नाम से कहा जाता है; किन्तु अखण्ड दृष्टि में वह सोना ही अनुभव में आता है, यद्यपि उसमें कड़ा कुण्डलादि कोई भी दशा और पीतादि विशेषताएँ रहा करती हैं उसी प्रकार आत्मा में भी द्रव्यदृष्टि में एकता और गुणों की दृष्टि में अनेकता अनुभव में आती है।

(८)

व्यवहारनय की उपयोगिता एवं आवश्यकता

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणादु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

ज्यों अनार्य समझें न बात-बिन–
लिये म्लेक्ष भाषा आधार ।
त्यों व्यवहार बिना नहिं समझें–
जन परमार्थ तत्व अविकार ॥
एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव की
जिन्हें भ्रांति वश नहिं पहिचान–
उन्हें ज्ञान दर्शन प्रभेद कर
श्री गुरु दें वर तत्व ज्ञान ॥

भावार्थः—जैसे म्लेक्ष को म्लेक्ष भाषा में ही अपने अभिप्राय का ज्ञान कराया जाता है; क्योंकि वह आर्य भाषा से अनभिज्ञ है–उसी प्रकार वस्तु के अखण्ड स्वरूप से अनभिज्ञजनों को एक शुद्ध वस्तु का उसके गुण पर्यायों के भेद कथन द्वारा ज्ञान कराया जा सकता है। क्योंकि वस्तु में विद्यमान विशेषताओं का वर्णन किए बिना स्वरूप से अनभिज्ञजनों को 'वस्तु-वस्तु' या 'आत्मा-आत्मा' कह कर उसके स्वरूप को दरशाना संभव नहीं है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आत्मा उसे कहते हैं जिसमें चेतना या ज्ञान दर्शनादि गुण पाए जाते हैं–इस प्रकार गुणी और

गुण में लक्ष्य और लक्षण का भेद कर आत्मा का ज्ञान कराया जाता है। यही व्यवहारनय की उपयोगिता और विशेषता है।

विशेष

यतः प्रत्येक वस्तु द्रव्य गुण पर्यायात्मक है और व्यवहारनय इसी तथ्य को उजागर कर उस वस्तु का ही ज्ञान कराता है जो अनेकांतात्मक होने से स्याद्वाद द्वारा भेद अंश की मुख्यता से कथन में आरही है, अतः व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक होने से उसका कथन भी असत्य नहीं है।

(९)

व्यवहार द्वारा निश्चय में प्रवेश

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुद केवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥९॥

द्रव्य भाव द्वारा विभक्त है–
दो भागों में सब श्रुत ज्ञान।
प्रथम भावश्रुत स्वानुभूति से–
निज शुद्धात्म तत्व पहिचान– ॥
ज्ञानी बना उसे कहते हैं–
ऋषिगण श्रुतकेवलि भगवान्।
इस प्रकार गुण गुणी भेदकर
तत्व किया विज्ञप्त महान ॥

भावार्थ—श्रुत ज्ञान के दो भेद हैं। १. भाव श्रुत, २. द्रव्य श्रुत। भाव श्रुत तो आत्मा को श्रुत ज्ञान गुण की पर्याय है और द्रव्य श्रुत द्वादशांगमयी जिनवाणी को कहते हैं। अब यहाँ भावश्रुत ज्ञानरूप स्वानुभूति के द्वारा जिसने अखंड एक शुद्धात्म स्वरूप को जान लिया—अनुभव कर लिया वह निश्चय (परमार्थ) दृष्टि से भाव श्रुत केवली है—ऐसा कह कर ज्ञान-गुण और गुणी आत्मा में गुण गुणी के भेद व्यवहार कथन द्वारा श्रुत केवली का पारमार्थिक स्वरूप दर्शाया गया—ऐसा लोक प्रकाशक गणधर देव ने कहा है।

(१०)

उक्त कथन की प्रकारान्तर से पुष्टि

जो सुदणाणं सव्वं जाणइ सुदकेवलि तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली - तम्हा ॥१०॥

अथवा जो परिपूर्ण द्रव्य श्रुत–
जान बना तत्वज्ञ महान।
देव उसे प्रतिपादन करते–
श्रुत केवलि श्रुत ज्ञान निधान॥
यों अभेद में भेद दिखाकर
किया ज्ञान - ज्ञानी व्यपदेश।
इस व्यवहार कथन से होता
भेद द्वार परमार्थ प्रवेश॥

भावार्थः– जो सम्पूर्ण द्रव्य श्रुत (द्वादशांगमयी–जिनवाणी) को जानता है वह द्रव्य श्रुत केवली है। यह द्रव्य श्रुत के द्वारा स्व-पर वस्तु को जानकर द्रव्य श्रुत केवली कहलाया। इस प्रकार यहां भी द्वादशांग का ज्ञान और ज्ञानी (आत्मा) के भेद कथन द्वारा श्रुत केवली का स्वरूप दरशाया गया। यद्यपि ज्ञान और ज्ञानी में तादात्म्य संबंध होने से इनमे निश्चय दृष्टि में कोई भेद नहीं है, किन्तु गुण और गुणी में व्यवहार नय से भेद किये बिना श्रुतकेवली का स्वरूप प्रकट करना अशक्य होने से व्यवहार का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार श्रुत केवली के वास्तविक स्वरूप को गुण-गुणी के भेद कथन द्वारा प्रकट करने के कारण व्यवहार नय प्रयोजनवान् एवं उपयोगी सिद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ–तात्पर्य यह है कि इन दोनों गाथाओं द्वारा व्यवहार को परमार्थ का ही प्रतिपादक दर्शाया गया है। व्यवहार नय वस्तु में गुण-गुणी भेद कथन कर किस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करता है इसे दर्शाने के लिये प्रथम गाथा में कहा गया है कि जो केवल शुद्ध आत्मा को भावश्रुत ज्ञान के द्वारा जानता है वह श्रुत केवली है। इसमें श्रुत केवली को कर्ता और श्रुत ज्ञान को करण (साधन) के रूप में दर्शाकर जानने रूप-

क्रिया, कर्त्ता और करण का भेद किया गया है जबकि कर्त्ता (श्रुत केवली) और करण श्रुत ज्ञान और जानने रूपक्रिया में परमार्थ से कोई भेद नहीं होगा; किन्तु आत्मा और ज्ञान में भेद रूप व्यवहार कथन कर श्रुत केवली का स्वरूप बताया गया।

दूसरी गाथा में दूसरे रूप में श्रुत केवली और द्रव्यश्रुत ज्ञान मे भेद रूप कथन कर उसी श्रुत केवली को कर्त्ता और श्रुत ज्ञान को कर्म तथा जानने को क्रिया दर्शाते हुए कर्त्ता और कर्म का भेद कर श्रुत केवली का स्वरूप दर्शाया है जबकि श्रुत केवली से श्रुत ज्ञान में वस्तुत: अभेद है। सारांश यह कि दोनों गाथाओं में कर्त्ता करण कर्म का भेद कर व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक दर्शाया है। ऐसा न कर श्रुत केवली किसे कहते हैं इसका व्यवहारी जनों को श्रुत केवली का स्वरूप दर्शाना सम्भव नहीं है। ज्ञान और ज्ञानी में कथंचित् भेद दर्शाते हुए कथन करने से श्रुत केवली का स्वरूप सरलता से दर्शा दिया गया है।

(११)

शुद्धनय और व्यवहारनय की स्थिति

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो वसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवई जीवो ॥११॥

११/1

वर्णित है भूतार्थ शुद्धनय—
अभूतार्थ नय है व्यवहार।
शुद्ध वस्तु है अर्थ भूत का—
पर्यायादि अभूत विचार ॥
मुग्ध दशा में प्राय: रहता—
पर्यायाश्रित जन मतिभ्रांत।
शुद्ध दृष्टि पाकर विरला ही—
बनता सम्यग्दृष्टि नितांत ॥

भावार्थः— आचार्य श्री ने शुद्धनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ दरशाया है। भूत शब्द का अर्थ शुद्ध वस्तु (एक अखण्ड शाश्वत द्रव्य) है। वस्तु में होने वाली पर्यायें अभूत कही जाती हैं। क्योंकि वे आंशिक और क्षणिक हैं। शुद्ध द्रव्य दृष्टि से मूल वस्तु आत्मा सदा ही चैतन्यस्वरूप ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है; किन्तु उसकी पर्यायों में परिणमन (उत्पाद-व्यय) होने के कारण वह परिणमनशील भी है। पर्यायें दो प्रकार की हैं : १. शुद्ध, २. अशुद्ध। शुद्ध पर्याय सिद्ध भगवान् की होती है। अशुद्ध पर्याय कर्मबद्ध संसारी जीव की है—जो पुद्गल कर्म संयोग से देव नारकी मनुष्यादि रूप हुआ करती हैं। मोही जीव इन संयोगी पर्यायों में ही अहंकार-ममकार करता हुआ "मैं देव हूँ, मनुष्य तिर्यंचादि हूँ," ऐसी ऐसी कल्पनाएँ करता हुआ शरीर को ही आत्मा मान मिथ्या दृष्टि बना रहता है। किन्तु जब वह शुद्ध नय से आत्मा को जड़ शरीरादि से भिन्न अपने को ज्ञान दर्शन चैतन्यमयी शाश्वत-स्वभाव वाला अनुभव करता है तभी वह जड़ चेतन के भेद विज्ञान बल से सम्यग्दृष्टि बन पाता है।

११/२

निश्चयनय के भेद

(श्री जयसेनाचार्य की टीका पर आधारित)

अभूतार्थ भूतार्थ भेद से—
निश्चय नय है उभय प्रकार।
अभूतार्थ निश्चय अशुद्ध है—
पर भूतार्थ शुद्ध नय सार।।
जिसकी त्रैकालिक स्वभाव पर—
दृष्टि वही निश्चय भूतार्थ।
जीव मलिन कह कर विभाव से
अभूतार्थ होता चरितार्थ।।

भावार्थः—निश्चयनय के दो भेद हैं – १. भूतार्थ निश्चय, २. अभूतार्थ निश्चय। इन्हें शुद्ध निश्चय व अशुद्ध निश्चय भी कहते हैं। आत्मा के त्रैकालिक, स्वाश्रित अखण्ड चैतन्य ज्ञानमयी—स्वभाव को अभेद

दृष्टि से देखना शुद्ध निश्चय नय है। और जीव को उसके ही पराश्रित (कर्मों के उदयाश्रित या कर्मों के क्षयोपशमादि के आश्रित विकारी) भावों के रूप में देखना अभूतार्थ (अशुद्ध) निश्चयनय है।

११/३

व्यवहार नय के भेद

भूतार्थाभूतार्थ भेद से —
दो प्रकार त्यों नय व्यवहार।
सद्‌गुण पर्यायाश्रित पहिला —
अभूतार्थ तद्भिन्न विचार ।।
ज्ञान दर्श गुण भेद कथन ही—
है भूतार्थ प्रथम व्यवहार।
नर नारक रागादि जीव के—
कहता अभूतार्थ व्यवहार ।।

भावार्थः—भूतार्थ व्यवहार और अभूतार्थ-व्यवहार के भेद से व्यवहार नय भी दो प्रकार का है—जिसे आगम में सद्‌भूत और असद्‌भूत के नाम से कहा गया है।

वस्तु में विद्यमान वास्तविक गुणों व पर्यायों पर दृष्टि की मुख्यता से उसे भेद रूप जानना या कथन करना भूतार्थ-व्यवहार है—जैसे जीव में ज्ञान है, दर्शन है आदि।

जीवों के अशुद्ध गुणों या पर्यायों पर दृष्टि रखकर उसकी मुख्यता से कथन करना अभूतार्थ व्यवहार है। जैसे यह जीव रागी द्वेषी है या यह मनुष्यादि है।

११/४

उपचरित व्यवहार

इनसे भिन्न उपचरित भी इक—
नय कहलाता है व्यवहार।

जो कि वस्तु के गुण तदन्य[1] में–
आरोपित[2] करता हर बार ।।
घी का घड़ा–तैल का चूड़ा,
रूपी जीव आदि दृष्टांत ।
हैं उपलब्ध लोक में अगणित–
जिनमें है उपचार नितांत ।।

भावार्थ:— किसी कारणवश एक वस्तु या उसके गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके कथन करना उपचार या उपचरितनय कहलाता है—जैसे मिट्टी के घड़े में घी रखा रहने से उसे घी का घड़ा कहना। यह कथन उपचारमात्र है। लोक व्यवहार के कारण यह भी व्यवहार नय में गिना जाता है।

११/५

उपचरितनय की स्थिति व प्रयोजन

इस उपचरित नयाश्रित प्रायः
चलता सकल लोक व्यवहार ।
जो संयोग प्रधान दृष्टि है,
तत्व नहीं इसमें अविकार ।।
लोक इसे ही सत्य मानकर
भ्रमित हो रहा चिरकालीन ।
किंतु अज्ञ प्रतिबोध हेतु ही–
यह भी आश्रयणीय मलीन ।।

भावार्थ:— लोक में इस उपचरितनय के आश्रित ही प्रायः व्यवहार चला करता है। यद्यपि यह व्यवहार तथ्य शून्य होता है—फिर भी इसका कारण निमित्त प्रधान दृष्टि है या संयोगी दृष्टि भी है। इसीलिए इसे लोकमान्यता प्राप्त है। इस उपचारितनय की वास्तविकता से अनभिज्ञ

१. तदन्य=उससे भिन्न। २. आरोपित करना=लादना।

संसारी प्राणी प्रायः भ्रम में पड़ जाते हैं—मिट्टी के घड़े को घी का ही घड़ा या मानव के मूर्तिक शरीर में स्थित जीव को मूर्तिक रूपी ही मान बैठते हैं—जबकि जीव मूर्तिक नहीं, शरीर मूर्तिक है या घड़ा घी का नहीं—मिट्टी या अन्य किसी धातु का होता है।

ऐसा उपचार कथन यद्यपि तथ्य शून्य है फिर भी आचार्यों ने परमार्थ ज्ञान शून्य जीवों को जीव तत्व का ज्ञान कराने के लिए इस उपचरितनय का भी आश्रय लिया है क्योंकि यहां बिना शरीर के जीव उपलब्ध नहीं होता अतः शरीरों के माध्यम से ही जीवों का ज्ञान कराया जा सकता है इसलिए 'मनुष्य जीव है' कबूतर जीव है' आदि लोक व्यवहार देखकर आचार्यों ने भी मनुष्यादि को जीव कहकर जीव तत्व का उपचरित नयाश्रित ज्ञान कराया है।

११/६

सम्यग्ज्ञान के लिए नय ज्ञान की आवश्यकता

परमागम में तत्व विवेचन
सर्वनयों से कर अम्लान—
भव्यजीव प्रतिबोध दिया है—
यहाँ सुनिश्चय दृष्टि प्रधान ।।
नय स्वरूप समझे बिन भ्रमतम—
मिटै न होता सम्यग्ज्ञान ।
अतः नयों के पक्षपात बिन—
तत्व समझना ही श्रेयान् ।।

भावार्थः—जीवों को तत्वज्ञान प्रदान करने हेतु आचार्यों ने शास्त्रों में तत्व जिज्ञासुओं की योग्यतानुसार प्रायः सभी नयों का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने अपनी प्रतिज्ञानुसार शुद्ध निश्चय नय की प्रधानता से आत्मा का शुद्ध स्वरूप दरशाया है एवं अन्य नयों को गौण करते हुए कहीं-कहीं उनकी दृष्टि को भी प्रकट किया है। ताकि पाठक जैन दर्शन को सर्वथा निश्चयैकांती (एकान्तवादी) न समझ लेवें जबकि वह अनेकांतवादी है। अतः वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप में जानने

के लिए सभी नयों का ज्ञान आवश्यक है ताकि यह जाना जा सके कि कौन सा कथन किस नय की प्रधानता से किया गया है।

वस्तु के अनेकांतात्मक होने से वह अनेक दृष्टियों (नयों) से जानी और देखी जा सकती है तभी उसका ज्ञान सम्यक् और पूर्णता को प्राप्त होगा। एक दृष्टि से होने वाले वस्तु के आंशिक ज्ञान को ही पूर्ण सत्य मानने से एकान्तवाद की सृष्टि होती है जो कि एकान्त मिथ्यात्व है।

(१२)

निश्चय व व्यवहार नय से उपदेश के कौन पात्र हैं ?

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसी हिं।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

१२/१

शुद्ध आत्म की हुई न जब तक
जीवन में उपलब्धि महान–
अपरम - भावाश्रित जनहित नित
नय व्यवहार प्रयोजनवान्।
जो कि द्रव्य में गुणपर्ययगत
भेद व्यवस्था कर अम्लान–
प्रथम भूमिका संस्थित जन को
करता सम्यग्दृष्टि प्रदान ॥

भावार्थ— चित् स्वरूप आत्मा की जिन्हें अनुभूति या पहिचान नहीं हुई ऐसे अपरमभावदर्शी अज्ञानी जीवों को व्यवहार नय की प्रधानता से उपदेश देना ही प्रयोजनीय है; क्योंकि व्यवहार नय ही एक अखंड वस्तु में गुण भेदों और पर्यायों द्वारा वस्तु का विश्लेषणकर वस्तु को समझाने में समर्थ होता है।

१२/२

जो जन परमभाव दर्शी बन करता चिदानंद रसपान–
है निश्चय ज्ञातव्य उसे वह स्वाश्रय ले करता कल्याण।

जब जन शुद्ध भाव संश्रय या स्वानुभूति में रहता लीन--
उसे प्रयोजनवान् स्वतः नहिं रहता नय व्यवहार प्रवीण !

१२/३

अभिप्राय यह है कि शुद्ध नय का आश्रय लें साधु प्रवीण।
आत्म साधना निरत सतत जो परमभाव दर्शन में लीन ।।
स्वर्णपात्र संधारण करता दुग्ध सिंहनी का अविकार ।
कांस्यपात्र में टिक न सके वह, खंड खंड हो पड़ते धार ।।

भावार्थ:--जो ज्ञानी साधक अभेद रत्नमय स्वरूप आत्मा के अनुभवी हैं वे परमभावदर्शी कहे गए हैं। वे ज्ञानानन्दमयी समरस का पान करने के लिये शुद्ध नय के विषयभूत आत्मा का आश्रय लेते हैं, क्योंकि वे ही अपने शुद्धोपयोग द्वारा आत्मस्वरूप में रमण कर सकते हैं। जैसे सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही टिकता है जबकि कांस्य पात्र में पड़ने से पात्र के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं वैसे ही तत्वज्ञान एवं स्वानुभूति शून्य जन--जो अभेद रत्नत्रय के स्वाद से रहित हैं--उन्हें शुद्ध नय का आश्रय लेने से वे भ्रम में पड़ कर चरित्र भ्रष्ट हो जाते हैं। वे शुद्ध नय के उपदेश द्वारा कल्याण करने में समर्थ नहीं है।

१२/४

जिन शासन में सापेक्ष नय ही सम्यग्ज्ञान के प्रतीक हैं

निश्चय या व्यवहार दृष्टियाँ
समीचीन रहतीं सापेक्ष ।
स्व-पर विषय को मुख्य गौणकर,
किंतु असत्य नहीं निरपेक्ष ।।
क्योंकि न गुण पर्यय से रहता
शून्य कभी कोई भी द्रव्य ।
और न गुण पर्याय कभी भी--
बिना द्रव्य रहते हैं लभ्य ।।

भावार्थः—जिन शासन में निश्चय और व्यवहार दोनों नय परस्पर सापेक्ष रहकर ही सत्य के द्योतक माने गये हैं; क्योंकि कोई भी बात एक नय से वस्तु के एक अंश या विशेषता की मुख्यता एवं इतर अंशों (गुण धर्मों) की गौणता कर ही अंशात्मक सत्य के रूप में कही जा सकती है, न कि इतर अंशों या गुण धर्मों का निषेधकर। प्रत्येक वस्तु स्वभावतः अनेकांतात्मक है। जैसे आत्मा में द्रव्य दृष्टि से नित्यता और पर्याय दृष्टि से अनित्यता ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी' दिखाई देने पर भी निर्विरोध रूप से विद्यमान हैं—अर्थात् एक ही समय में आत्मा अनादि अनन्त सत्तात्मक होने से नित्य भी है और देव नारकादि पर्यायों तथा राग द्वेषादि प्रति समय परिवर्तित होने वाले भावों की दृष्टि से अनित्य भी है। चूंकि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप द्रव्य गुण पर्यायात्मक है— द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं। अतः वस्तु में द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप ज्ञान के लिए नयों में भी सापेक्षता (परस्पर में मित्रता होना) अनिवार्य है तभी वे सत्य को प्रकट करने में समर्थ होंगे। यदि नय परस्पर सापेक्ष न होंगे तो निरपेक्ष हो जाने से वस्तु के स्वरूप को प्रकट न कर सकने के कारण एकान्त मिथ्यात्व रूप माने जावेंगे।

१२/५

उक्त कथन का और भी स्पष्टीकरण

जब अखंड ध्रुव द्रव्य लक्ष्य में—
रहता तब हो जाता गौण—
गुण पर्यय का भेद सहज ही,
किंतु नष्ट कर सकता कौन ?
निश्चय नय की दृष्टि निराली,
जहाँ भेद रहता नहि इष्ट।
गुण पर्यय गत भेद व्यवस्था
करता नय व्यवहार विशिष्ट ।।

भावार्थः— जब हम किसी वस्तु को द्रव्य दृष्टि से देखते हैं तब वह एक अखंड और शाश्वत (नित्य) रूप में अनुभव में आती है; उस समय

उसमें गुण पर्याय संबंधी भेद गौण हो जाता है। गौण का अर्थ अभाव या नाश नहीं है। किन्तु जब गुणों और पर्यायों की मुख्यता से वस्तु को देखा या उसका कथन किया जाता है तब उसमें विद्यमान अभेद अखंडता गौण हो जाती है। सारांश यह कि निश्चय और व्यवहार दोनों नयों द्वारा अपने अपने विषय को मुख्य तथा इतर नय के विषय को गौण ही किया जाता है—निषेध नहीं। वह कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य रूप में शब्द द्वारा प्रकट होता है। इसी से वस्तु अनेकांतात्मक स्वयं सिद्ध है।

(१३)

तत्व भेद में अभेद (भूतार्थ) दृष्टि से सम्यक्त्व की प्राप्ति

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

तीर्थ प्रवृत्ति हेतु प्रतिपादित—
जीव अजीव पुण्य अरु पाप—
आस्रव संवर बंध निर्जरा
और मोक्ष नव तत्व कलाप।
इनमें इक चेतन ही पुद्गल—
सँग अभिनय कर रहा, निदान—
तत्वों में भूतार्थ दृष्टि यह—
कहलाता सम्यक्त्व महान ॥

भावार्थः— जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव तत्व हैं, जो कि जीव और अजीव की ही विशेषताएँ हैं। इनमें भावास्रव भाव संवर आदि जीव की विशेषताएँ (पर्यायें) हैं और द्रव्यास्रवादि पुद्गल की पर्यायें हैं। इनमें भावास्रवादि भावस्वरूप पर्यायों में एक चैतन्य स्वरूप आत्मा ही नाना रूपों का धारण करता हुआ पुद्गल के साथ बहुरुपिये के समान अभिनय कर रहा है—इस ज्ञान पूर्वक भावास्रवादि भेदों में व्यापक एक अखंड चैतन्यमयी आत्म स्वरूप का अनुभव कर लेना ही सम्यक्त्व है। दूसरे शब्दों में अभूतार्थ स्वरूप पर्यायों में शुद्ध

नय से ज्ञायक स्वभावी आत्मा की अखंड अनुभूति ही सम्यक्त्व है। वही एकमात्र आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

(१४)

शुद्ध नय का स्वरूप

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्ध णयं विजाणाहि ।।१४।।

१४/१

वही शुद्धनय जो अबद्ध, –
अस्पर्श कर्म से वर चिद्रूप–
अनुभव करता नाना रूपों में–
अनन्य परमात्म स्वरूप ।।
हानि -वृद्धि से रहित आत्म को
देखे नियत और अविशेष।
राग द्वेष मोहादि विकृति से–
असंयुक्त पाता निःशेष ।।

भावार्थः—जो आत्मा को शरीरादि नोकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों से अबद्ध (बंधन रहित) इनके स्वभाव के स्पर्श से भी रहित, अनन्य (अन्य नहीं, अखंड शुद्ध चैतन्य स्वरूप) हानि-वृद्धि से रहित, नियत स्थिर) और विशेषों से रहित देखता है उसे शुद्ध नय जानो।

१४/२

दृष्टान्तों द्वारा इसका स्पष्टीकरण

कमल पत्र ज्यों जल में रहता
नित अबद्ध अस्पर्श स्वभाव।
घट कपाल में मृद् अनन्य ज्यों,
जल में है उष्णत्व विभाव ।।

१४/१– अबद्ध = स्वतंत्र, बिना बँधा हुआ। अस्पर्श = अछूता। अनन्य = अपने स्वरूप से अभेद रूप। नियत = स्थिर। अविशेष = गुणों और पर्यायों के भेद रहित अखंड। असंयुक्त = पर संयोग से रहित।

उठते हैं तूफान उदधि में
पर वह रहता नियत महान।
स्वर्ण दृष्टि में वर्णादिक ज्यों
हो जाते हैं अंतर्द्धान ।।

भावार्थः—जैसे जल में रहते हुए भी कमल जल से भिन्न है और अपनी स्निग्धता (चिकनाहट) गुण के कारण जल से स्पर्श भी न करने वाले स्वभाव से युक्त है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर एवं ज्ञानावरणादि कर्मो से अबद्ध और अस्पर्श स्वभाव वाला है। जैसे घट. कपाल आदि घड़े की पर्यायों में मृत्तिका (मिट्टी) एक ही है—अन्य नहीं है उसी प्रकार आत्मा भी नर-नारकादि पर्यायों में एकरूप से व्याप्त है, जैसे अग्नि के संसर्ग से पानी गरम होकर भी अपने शीतल स्वभाव को नहीं छोड़ता वैसे आत्मा भी कर्मोदयजन्य रागादि विकारों के हो जाने पर भी अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव का त्याग नही करता। जैसे तीव्र पवन के संसर्ग से समुद्र तरंगित होकर भी समुद्र ही बना रहता है—पवन नहीं बन जाता वैसे ही कर्मोदय के निमित्त से आत्मा क्षुब्ध होकर भी पुद्‌गल कर्म नहीं बन जाता। जैसे स्वर्ण को द्रव्यदृष्टि से देखने पर उसकी पीतता गुरुत्वादि गुणों का आभास नहीं होता (उस समय स्वर्ण के गुण दृष्टि ओझल (गौण) हो जाते हैं।) वैसे ही आत्मा का द्रव्य दृष्टि से अनुभव करने पर उसमें ज्ञान दर्शनादि गुणों का पृथक्‌पृथक् आभास न होकर एक आत्मा ही दृष्टि में आता है। इस प्रकार आत्मा को जो अबद्ध, अस्पर्श, अनन्य, नियत अवशेष और असंयुक्त रूप में देखता है वही शुद्ध नय कहलाता है।

(१५)

जो आत्मा को अखंड ज्ञान स्वरूप में संस्थित देखता है
वह पूर्ण जिनशासन को देखता है–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध पुट्‌ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्त मज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१५।।

१५/१

त्यों विशुद्ध नय से निजात्म को
कर्म बन्धन स्पर्श विहीन।

जो अनन्य अविशेष विलोके
असंयुक्त रागादिक - हीन ।।
अविच्छिन्न अनुपम अविनाशी–
ज्ञानमयी चैतन्य स्वरूप ।
वह समग्र जिनशासन दृष्टा
है सुदृष्टि अनुभव रसकूप ।।

भावार्थः—इस प्रकार शुद्ध नय से जो आत्मा को पुग्दल कर्मों से अबद्ध अस्पर्श, अनन्य अविशेष तथा नियत और असंयुक्त स्वभाव वाला अपने अखण्ड ज्ञान स्वरूप में स्थित देखता है वह शुद्ध नय से समस्त जिन शासन का दृष्टा है । क्योंकि अभी तक स्वपर भेद विज्ञान से शून्य जीव अपनी देव नारकादि संयोगी पर्यायों को एवं शरीरादि को ही आत्मा मान अपने ज्ञानानन्दमयी निज स्वरूप को भूला हुआ भ्रम में पड़ा हुआ था । अब शुद्ध नय की दृष्टि पाकर उसने अपने ज्ञानानन्दमयी स्वरूप के दर्शन (अपनी अशुद्ध पर्यायों में भी) कर लिये—जिसे कराना जैन दर्शन का मुख्य उद्देश्य है और जिसके हो जाने पर ही जीव निश्चय से सम्यक्-दृष्टि बनकर आत्म कल्याण करने में समर्थ होता है : अतः इस दृष्टि से वह समग्र जिन शासन का दृष्टा कहलाता है ।

विशेषार्थः—आचार्य श्री ने इस गाथा सूत्र में शुद्ध नय से आत्मा का क्या स्वरूप है और क्या नहीं है, इसका दिशा निर्देश किया है । आत्मा के अबद्ध विशेषण द्वारा उसकी पर द्रव्यों से (पुद्गल कर्म नोकर्मादि से) भिन्नता दरशाई है । अस्पर्श विशेषण द्वारा पर भावों (पुद्गल के स्पर्श रूप रसादि गुण पर्यायों) से पृथकता दिखाई है । तथा अनन्य विशेषण द्वारा स्वयं की परिवर्तनशील पर्यायों की अनेकता में (एकता और अभिन्नता का बोध कराया है—ऐसा कि आत्मा अपनी पर्यायों के द्वारा परिवर्तित होते हुए भी आत्मा ही बना रहता है—आत्मत्व शून्य या अन्य द्रव्य रूप नहीं हो जाता । अविशेष विशेषण द्वारा यह दरशाया है कि ज्ञान दर्शनादि गुणों द्वारा जो उसमें भेद दिखाई देता है उसे गौण कर गुण और गुणी में तादात्म्य होने से वह अभेद रूप–अखण्ड रूप है । इस प्रकार आत्मा शुद्ध नय की

दृष्टि में क्या नहीं है यह दरशा कर फिर वह क्या है ? यह दरशाने के लिये 'अपदेस सुत्तमज्झं' पद गाथा सूत्र में पिरोया है। इसका अर्थ निम्न प्रकार प्रतिभासित होता है। अपदेश=अखण्ड, सूत्र=ज्ञान, मज्झं=मध्य अर्थात् आत्मा अपने अखंड ज्ञान स्वभाव में स्थित है।*

इस प्रकार आत्मा को पर द्रव्य भावों से भिन्न अखंड ज्ञान स्वभाव में स्थित देख लेने वाला समस्त जिन शासन का ज्ञाता दृष्टा (शुद्ध नय से) दरशाया है।

१५/२

शुद्ध निश्चय नय की विशेषता

निश्चय नय की दृष्टि निराली–
स्वर्णकार वत् अति अम्लान।
समल स्वर्ण में भी जो करती
शुद्ध स्वर्ण की वर पहिचान॥
यह इंगित करती – स्वभावतः
जीव मात्र है सिद्ध समान।
पद परमात्म प्राप्त करने की
रखते हम सामर्थ्य महान॥

---

* (१) समयसार की कुछ प्रतियों में 'अपदेस सुत्तमज्झं' इस पद के स्थान पर 'अपदेस संतमज्झं' पद पाया जाता है जिसका अर्थ परमपूज्य आचार्य विद्यानंदजी ने 'अखंड शांत भाव स्थित' दरशाया है।

(२) आचार्य श्री जियसेन स्वामी ने 'अपदेससुत्तमज्झं' इस पद का अर्थ निम्न प्रकार दरशाया है—"अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेश शब्दो द्रव्य श्रुतमिति यावत्–सूत्र परिच्छित्ति रूपं भावश्रुतं ज्ञान समय इति। तेन शब्द समयेन वाच्यं ज्ञान समयेन परिच्छेद्यं अपदेश सूत्रमध्यं भण्यते इति।" अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ दर्शाया जाता है वह शब्द द्रव्यश्रुत और सूत्र परिच्छित्ति रूप भावश्रुत–इस प्रकार शब्द समय के द्वारा कहा जाने वाला और ज्ञान समय के द्वारा जाना जाने वाला जो पदार्थ उसे– अपदेश सूत्रमध्यं कहा जाता है।

भावार्थः— शुद्ध नय की दृष्टि चतुर स्वर्णकार के समान होती है—जैसे स्वर्णकार अन्य धातु मिश्रित सोने में शुद्ध सोना कितना है—यह अपनी पैनी दृष्टि से जाँच कर पहिचान कर लेता है उसी प्रकार संयोगी और विकारी पर्यायों में आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है, यह शुद्ध नय अनुभव कराता है। वह यह दरशाता है कि चैतन्य स्वभावी जीवत्व दृष्टि में सभी आत्माएँ शुद्ध और समान हैं। और इसलिए शरीरादि कर्म मलों से लिप्त रहते हुए भी आत्मा उन पर विजय प्राप्त कर अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वयं सिद्ध भगवान् बन सकता है।

१५/३

सिद्ध परमात्मा कौन और कैसे बनता है ?

जो मिथ्यात्व ध्वस्त कर पावन-
ज्ञान प्राप्त बन निज रस लीन—
कर्म कलंक पंक से होता
मुक्त वही सत्पात्र प्रवीण ।।
राग द्वेष बिन तजे स्वात्म को
सर्व दृष्टि परमात्म स्वरूप—।
यदि माना एकांत ग्रहण कर
आत्म वंचना यह विष कूप ।।

भावार्थः— जो अपनी मिथ्या भ्रांतियों को दूर कर सम्यग्दृष्टि बन सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्म स्वरूप में लीन होता है वही मुक्त होने की सत्पात्रता प्राप्त कर कर्म मलों को धोता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है। किन्तु मोह व राग द्वेषादि विकारों के दूर किए बिना यदि प्राणी अपनी अशुद्ध पर्याय में रहता हुआ भी स्वयं को परमात्मा मान लेता है तो उसकी वह आत्मवंचना ही कहलावेगी; क्योंकि वह निश्चयाभासी बन कर अशुद्ध दशा में रागी द्वेषी बना रह कर भी आत्मा को सर्वथा शुद्ध मान स्वयं को ठग रहा है। यतः वर्तमान अशुद्ध दशा में ही वह अपने को सिद्ध और शुद्ध मान रहा है।

१५/४

आत्म वंचना का दृष्टान्त

यथा भिक्षु मन में चक्री बन
सिंहासन पर हो आसीन—।
शासन करने लगा, किंतु थी—
उसकी दशा वही अतिदीन ।।
तथा निश्चयाभास विवश जो—
आत्म शुद्ध कह सिद्ध समान ।
बन स्वछंद विचरण करता वह
संसृति का ही पात्र अयान ।।

भावार्थ:—— जैसे कोई भिखारी स्वयं को मन ही मन चक्रवर्ती राजा मानकर पथ में आने जाने वालों को शासक के समान आज्ञा प्रदान करने लगे तो उसका यह पागलपन ही कहलावेगा । वैसे ही राग-द्वेषादि विकारों पर रत्नत्रय की आराधना द्वारा विजय प्राप्त किये बिना व आत्म शक्तियों को पुरुषार्थ द्वारा प्रकट किए बिना स्वछंद विचरण करते हुए स्वयं को परमात्मा मान बैठना हास्यास्पद आत्म वंचना ही कहलाएगी ।

(१६)

व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्ग में केवल गुण गुणी का भेद

दंसणणाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुण णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णवि अप्पाणं जाण णिच्छय दो ।।१६।।

आत्म सिद्धि हित साधुजनों को
दर्शन ज्ञान चरित्र महान ।
सद्गुण नित उपासना करने—
योग्य कहे केवलि भगवान् ।।

निश्चय से ये चिद्विलास हैं–
अतः आत्म ही हैं साकार।
साधन साध्य विवक्षा में त्रय–
रूप आत्म का है व्यवहार।।

भावार्थः—आत्म साधक साधुजनों को आत्मसिद्धि के अर्थ सम्यग्दर्शन ज्ञान एवं चारित्र स्वरूप सद्गुणों की नित्य उपासना करना चाहिए–ऐसा व्यवहार नय से उपदेश दिया जाता है। यह गुण और गुणी में कथंचित् भेद कथन का सूचक है। किन्तु निश्चय दृष्टि में गुण-गुणी में भेद नहीं होता अतः इस दृष्टि से तीनों गुण आत्मा ही हैं। व्यवहार से गुणों को साधन और गुणी आत्मा को साध्य बना कर साधक को प्रारम्भिक दशा में गुण-गुणी भेद कथन कर वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। इससे मोक्ष मार्ग उभय नयात्मक सिद्ध हो जाता है।

(१७)

व्यवहार मोक्ष मार्ग की उपयोगिता का दृष्टान्त

जहणाम को वि पुरुसो रायाणं जाणिदूण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।१७।।

धन का इच्छुक व्यक्ति प्रथम ज्यों
राजा को सम्यक् पहिचान।
राज्य पाट वैभव विलास लख–
उस पर करता दृढ़ श्रद्धान।।
फिर तन्मय हो सेवा कर वह
रखता सतत प्रसन्न सयत्न।
बन जाता है धनी इसी से–
पाकर धरा, धाम, धन, रत्न।।

भावार्थः— जैसे कोई धन की प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति राज्यपाट तथा अन्य वैभवों द्वारा सर्व प्रथम राजा की पहिचान कर कि 'यही राजा

है' ऐसा श्रद्धान करता है और फिर उसकी तन मन से सेवा कर उसको प्रसन्न कर लेता है तब ही वह राजा के प्रसाद से धन-धान्यादि पाकर धनी बन पाता है ।

(१८)

दार्ष्टान्त

एवं हि जीवराया णादव्वो तहय सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।।१८।।

त्यों तजकर मतिमोह-कामना—
करैं मुक्ति की जो मतिमान् ।
उसे उचित चिद्रूप भूप की
करना प्रथम सही पहिचान ।।
फिर श्रद्धारत रमें उसी में
कर वर चिदानंद रस पान ।
उसे मुक्ति साम्राज्य सहज ही
हो जाए संप्राप्त महान ।।

भावार्थ:—इसी प्रकार जो व्यक्ति मुक्ति चाहता है उसे चिदानन्द स्वरूप आत्मारूपी राजा की उसके स्वाभाविक (शक्ति दृष्टि से) विद्यमान गुणों द्वारा ठीक-ठीक पहिचान कर लेना उचित है । इस प्राथमिक कर्त्तव्य का पालन कर फिर उसके गुणों की सेवा उपासना करते हुए उसी में रम जाना चाहिए । इससे उसको स्वयं की गुणरूपी सम्पत्ति प्राप्त होकर मुक्ति का साम्राज्य स्वयं ही प्राप्त हो जावेगा । अर्थात् गुणों की उपासना करने से उसके विकार दूर हो जावेंगे और अव्यक्त गुणों का विकास होकर उसका आत्मा—परमात्मा बन जावेगा । दूसरे शब्दों में जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को समझ सम्यग्दृष्टि बन कर स्वरूपाचरण द्वारा आत्म-स्वरूप में लीन हो जावेगा तब वह शीघ्र ही कर्मबन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा बन जावेगा ।

(१९)

जीव की अप्रति बुद्ध (अज्ञान) दशा कब तक ?

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म-णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।१९।।

यह प्राणी संसार दशा में
भूल रहा शुद्धात्मक स्वरूप ।
देह तथा रागादि भाव को
भ्रमवश मान रहा निज रूप ।।
'मेरी हैं रागादि विकृतियाँ
कर्म जन्य पुद्गल परिणाम ।'
यों भ्रम बुद्धि बनी रहने तक
अप्रति बुद्ध हैं आतम राम ।।

भावार्थः— संसार दशा में यह अज्ञानी बना हुआ जीव अपने ज्ञानानन्दमयी चित् स्वरूप को भूला हुआ रागादि विभावों एवं पौद्गलिक जड़ शरीर को ही भ्रमवश आत्मा मान रहा है। शरीर तो पर है ही; किन्तु आत्मा के पुद्गल कर्मोदय जन्य (नैमित्तिक) रागादि भाव भी पर कहे जाते हैं। चूंकि परमात्म दशा में उनका अभाव हो जाता है अतः ये आत्मा के गुण या उसके स्वभाव नहीं माने जा सकते। किन्तु जीव उन्हें अपना स्वभाव माने हुए हैं। इस गलत धारणा के कारण ही यह जीव अप्रतिबुद्ध या अज्ञानी कहलाता है।

(२०+२१+२२)

अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी जीव की भ्रामिक धारणा का स्पष्टीकरण

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं पर दव्वं सच्चित्ताचित्त मिस्सं वा ।।२०।।

आसि मे पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्व कालम्हि ।
होहिदि पुणो वि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि ।।२१।।

एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि तु असंमूढो ।।२२।।

आत्म भिन्न जड़ चेतन एवं
मिश्र द्रव्य हैं अपरंपार ।
पुत्र कलत्र मित्र भृत्यादिक–
या धन धान्य राज्य परिवार ।।
ये सब मैं हूँ – मैं ये सब हैं,
ये मेरे मैं इनका राव ।
संयोगी द्रव्यों में एव
समुत्पन्न हों जो भ्रमभाव।।
पूर्वकाल में ये मेरे थे–
अथवा मैं इनका था कांत ।
आगामी ये मेरे होंगे –
मैं तन्मय बन रहूँ नितांत ।।
ऐसे असद्विकल्प निरंतर
करता रहता जो चिद्भ्रांत–
वह परात्मदर्शी बहिरातम
अप्रतिबुद्ध ही हैं विभ्रांत ।।
अग्नि-अग्नि है, – ईंधन-ईंधन,
अग्नि नहीं है ईंधन भार ।
ईंधन भी नहि अग्निमयी है
हुआ न होगा किसी प्रकार ।।
त्यों चेतन देहादिक से मिल–
कर भी रहता भिन्न नितांत ।
स्व-पर भेद पाकर सुदृष्टि यों
बनता सम्यग्दृष्टि नितांत ।।

भावार्थ:— इस संसार में आत्मा से भिन्न सभी पदार्थ चाहे वे जड़ शरीर या धनादि हों अथवा पुत्र, स्त्री, मित्र, सेवकादि चेतन हों—आत्मा नहीं है और न आत्मा के हैं; किन्तु मोही, अज्ञानी, जीव समझता है कि शरीर ही मैं हूं अथवा मैं ये पदार्थ हैं या ये पदार्थ मेरे हैं और मैं इनका हूँ। इस प्रकार भ्रमपूर्ण अनेक मान्यताएँ हैं—जिनके वश होकर मोही जीव अहंकार ममकार किया करता है।

वर्तमान के सिवाय भूतकाल के संबंध में भी 'ये मेरे थे—और मैं इनका था' अथवा भविष्य में ये मेरे होवेंगे और मैं इनका होऊँगा' ऐसे-ऐसे संकल्प विकल्प जो अज्ञानी जीव किया करता है—वही परमात्मवादी या बहिरात्मा है।

जैसे ईंधन में प्रविष्ट अग्नि-अग्नि है और ईंधन-ईंधन है। ईंधन अग्नि नहीं है और अग्नि ईंधन नहीं है। भूतकाल में भी दोनों पदार्थ पृथक्-पृथक् थे और भविष्य में भी रहेंगे। इसी प्रकार यह आत्मा भी शरीरों में प्रविष्ट हुआ आत्मा ही रहता है, शरीर (जड़) नहीं बन जाता। जड़ जड़ ही रहता है—और चेतन चेतन। इस प्रकार स्व और पर के भेद विज्ञान द्वारा ही बहिरात्मा जीव अन्तरात्मा-अर्थात् सम्यग्दृष्टि बन पाता है।

(२३)

बहिरात्म दशा की भर्त्सना

अण्णाण मोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभाव संजुत्तो ॥२३॥

तम अज्ञान जनित भ्रमतम वश—
　　समझ पड़ गई कैसी धूल?
बद्ध अवध सकल पुद्गल को
　　चेतन मान कर रहा भूल।
देह गेह परिवार आदि को—
　　मेरे मेरे कहे अयान।
मोह राग द्वेषादि विकृति रत—
　　अति विक्षिप्त चित्त मति म्लान।

भावार्थः—अनादि काल से जीव से बद्ध शरीरादि एवं अबद्ध पुत्र धनादि पर पदार्थों को भ्रमवश अपने मानने की जो भूल आत्मा को हो रही है उसी का यह परिणाम है कि यह जीव देह गेहादि पर वस्तुओं में अहंकार ममकार करता हुआ पागलों की भाँति नाना प्रकार के संकल्प विकल्प कर दुःखी बना रहता है ।

(२४)

आत्म संबोधन

सव्वण्हुणाण दिट्ठो जीवो उवओग लक्खणो णिच्चं ।
किह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।२४।।

वीतराग के दिव्य ज्ञान में
आत्म तत्व पुद्गल से भिन्न—
झलक रहा वर ज्ञानज्योतिमय
चिदानंद रस पूर्ण अखिन्न ।।
कैसे हो सकता चेतन का
पुद्गल सँग अविभक्त स्वभाव ?
जो तू जड़ परिकर को मेरे—
मेरे कहता चेतनराव ?

भावार्थः— हे आत्मन् ! वीतराग भगवान् के निर्मल ज्ञान में शरीरादि जड़ पदार्थों से भिन्न चैतन्य स्वभावी आत्मा उपयोगमयी स्पष्ट झलक रहा है, अतः जड़ चेतन में एकीभाव (एकता) कैसे संभव है; जिससे कि तू जड़ शरीरादि को अपना मान भ्रमित हो रहा है ?

(२५)

पुद्गल को अपना कब कहा जा सकता था ?

जदि सो पोग्गलदव्वी भूदो जीवत्त मागदं इदरं ।
तो सक्का वोत्तुं जे मज्झमिदं पोग्गलं दव्वं ।।२५।।

चेतन मय परिणत हो सकता—
यदि पुद्गल तब ही अविराम—

यह कह सकते थे कि हमारा–
हो है देहादिक परिणाम ।।
सोचो भव्य ! एक क्षण भी यदि
तज मति - मोहमयी अज्ञान ।
तो जड़ चेतन में हो जाये
सहज भेद विज्ञान महान ।।

भावार्थ:— यदि शरीरादि पुद्गल कभी भी चैतन्य भाव को प्राप्त हो सकते तो शरीरादि जड़ पदार्थों को अपने मान उनकी परणतियों को अपना माना जा सकता था और शरीर के काले गोरेपन से आत्मा को काला गोरा भी; किन्तु यह कदापि संभव नहीं है। अतः हे आत्मन् ! यदि तू एक क्षण के लिए भी उक्त तथ्य पर गंभीरता से विचार कर लेवे तो जड़ व चेतन में भिन्नता तुझे सहज ही ज्ञात हो जावे और इसी भेदज्ञान के फलस्वरूप तुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे।

(२६)

एक महत्वपूर्ण प्रश्न

जदि जीवो ण सरीरं तित्थरायरिय संथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।२६।।

यदि चेतन नहिं देहमयी है–
तब आचार्य तथा जिनदेव–
संबंधित सम्पूर्ण स्तुतियाँ–
मिथ्या सिद्ध हुई स्वयमेव ।।
यथा 'सूर्य शरमा जाता है–
निरख देव ! तव कांति महान ।
भव्य जनों को करवाती तव–
दिव्य ध्वनि धर्मामृत पान ।।'

भावार्थः— हे स्वामिन् ! आपने जो शरीर और आत्मा में भिन्नता दरशाई है–इससे आचार्यों तथा तीर्थंकरों की स्तुतियाँ भी मिथ्या सिद्ध हो जावेंगी । जैसे 'हे भगवन् ! आपकी देह की काँति को देखकर सूर्य भी शर्मिन्दा हो जाता है । अथवा आपकी दिव्य ध्वनि भव्य जीवों को धर्मामृत का पान कराया करती है–'आदि । (यह एक प्रश्न है)

(२७)

प्रश्न का समाधान

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ।।२७।।

२७/१

सुनो भव्य ! वस्तुतः भिन्न है–
जीव देह से यदपि महान ।
बंध दशा में ऐक्य मानकर
चलता नय व्यवहार विधान ।।
यथा शर्करा मिश्रित जल को–
मीठा कहता है संसार ।
त्यों जिनेन्द्र का भी देहाश्रित
संस्तव होता विविध प्रकार ।।

भावार्थः— हे भव्य ! यद्यपि आत्मा शरीर से वस्तुतः भिन्न है; किन्तु अनादिकाल से संसार दशा में आत्मा के कर्म बन्धन में पड़े रहने से आत्मा और शरीर के मिले रहने (एकमेक दिखने) के कारण व्यवहार नय से दोनों में एकत्व दिखाई देता है और इसीलिए जीव को व्यवहार नय से मूर्तिक भी कहा गया है । जैसे शर्करा मिश्रित जल को मीठा जल कहा जाता है वैसे ही जिनेन्द्र देव का भी देहाश्रित स्तवन किया जाता है ।

२७/२

व्यवहार स्तवन का मुख्य कारण

परमौदारिक काय अलौकिक–
निर्विकार मुद्रा लख शांत–

भव्य जीव परमात्म तत्व का
दर्शन करता तत्र नितांत ।।
दिव्य देह से वीतरागता –
यतः प्रस्फुटित है साकार ।
अतः साधु संस्तवन वंदना–
नित प्रति करते परम उदार ।।

भावार्थः— भगवान् का परमौदारिक शरीर, अलौकिक शान्त छवि, एवं वीतराग मुद्रा के दर्शन द्वारा भव्य जनों को उसमें परमात्मतत्व के दर्शन हो जाते हैं। यतः भगवान् की वीतराग मुद्रा में उनकी वीतरागता की आंतरिक झलक प्राप्त होती है इसीसे साधुजन उनकी श्रद्धापूर्वक वंदना स्तवनादि बढ़े चाव से किया करते हैं।

२७/३

दिव्य देह तो दूर, – चरणरज–
भी बन रहती वंद्य, निदान ।
जिससे पावन भूमि लोक में–
कहलाती है 'तीर्थ' महान ।।
पाषाणों से निर्मित घर भी
मंदिर कहलाते अभिराम ।
मूर्ति अकृत्रिम कृत्रिम प्रभु की
वंदनीय हों आठों याम ।।

२७/४

जिन्हें नमन करते सुर नर मुनि
इन्द्रादिक गाकर गुणगान ।
तन्निमित्त जीवन कृतार्थ कर
पाते सम्यग्दर्शन ज्ञान ।।

प्रथम भूमिका में संसारी
रह व्यवहार साधना - लीन।
निश्चय लक्ष्य बना कर करते
धर्माराधन नित्य प्रवीण ॥

भावार्थ:— भगवान् की दिव्य देह की तो बात ही क्या है! उनकी चरण रज भी मस्तक से लगाई जाती है तथा उस चरणरज से पवित्र भूमि तीर्थ बन जाती है। भगवान् की मूर्ति से अलंकृत पाषाणों से निर्मित घर मंदिर कहलाते हैं और कृत्रिम एवं अकृत्रिम मूर्तियाँ सभी जनों को वंद्यनीय बन जाती हैं।

भगवान् की उन मूर्तियों की सुर, नर, मुनिगण पूजा करते हैं और उनके दर्शन कर भव्य जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि भी बन जाते हैं। वस्तुतः प्रथम भूमिका में साधक व्यवहार धर्म की साधना द्वारा अपने निश्चयके लक्ष्य की प्राप्त करने में समर्थ होते हैं अतः इन्द्रादिक देव भी अष्टाह्निकादि पर्वों में नन्दीश्वरादि द्वीपों में जाकर जिनेन्द्र की मूर्तियों के सहारे भक्तिभाव से आत्मा की उपासना किया करते हैं।

(२८)

देहाश्रित जिन स्तवन में साधु की भावना

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुनि।
मण्णदि हु संथुवो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

यदपि भिन्न विभुवर की काया
आत्म तत्व से स्वतः स्वभाव।
तदपि साधु संस्तवन वंदना
करने का रखते हैं चाव ॥
मान यही – मैंने वंदे हैं –
निश्चय ही केवलि भगवान्।
और संस्तवन किया उन्हीं का
भक्तिभाव से गा गुणगान ॥

भावार्थः—यद्यपि भगवान् की आत्मा से उनका शरीर वस्तुत: भिन्न है तो भी मुनिजन भक्तिभाव से उसकी वंदना और संस्तवन करते हैं—उस समय वे यही मानते और भावना रखते हैं कि मैंने वास्तव में केवली भगवान् की ही वंदना और स्तुति की है। अभिप्राय यह है कि देव की देह के आश्रय से देव वंदना और स्तुति की जाती है—देह तो माध्यम या आलंवन मात्र है।

(२९)

निश्चय नय से जिन स्तवन

तं णिच्छये ण जुञ्जदि ण सरीर गुणा हि होंति केवलिणो।
केवलि गुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

निश्चय से नहिं काय संस्तवन
देव स्तुति कहलाती है।
यत: न काया के गुण प्रभु में
जिनवाणी दरशाती है॥
निर्विकार प्रभु के गुण गाकर—
जो संस्तव होता मतिमान्।
वही वस्तुत: जिन स्तवन है—
निश्चय नय की दृष्टि प्रमाण॥

भावार्थ:—निश्चय नय से विचार करने पर प्रभु की देह का स्तवन देव का स्तवन नहीं होता; क्योंकि देह के गुण जिनेन्द्र देव के गुण नहीं है। अत: वीतराग देव की आत्मा के गुणों का गान कर जो स्तवन किया जाता है—निश्चय से वही देव स्तुति कहलाती है।

(३०)

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथन का समर्थन

णयरम्मि वण्णिदे जह ण हि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देह गुणे थुव्वंते णहि केवलि गुणा थुदा होंति ॥३०॥

सुन्दर नगर - स्वर्ण सम जिसमें—
वन उपवन प्रासाद महान।

यूँ न नगर संस्तवन से होता
उसके राजा का गुणगान।।

त्यों विभुवर की दिव्य देह का
करने से संस्तवन, निदान—

संस्तुत कहलायेंगे कैसे —
केवलि श्रुतकेवलि भगवान् ?

भावार्थः— जैसे कोई नगर बड़ा ही सुन्दर है, जिसमें स्वर्णमयी महल हैं और मनोहर वन उपवन आदि शोभायमान हैं इस प्रकार नगर की प्रशंसा करने से उसके राजा की प्रशंसा नहीं होती। इसी प्रकार भगवान् की दिव्य देह की प्रशंसा करने से निश्चय से भगवान् का स्तवन नहीं कहला सकता।

(३१)

निश्चय जिन स्तवन का प्रथम रूप

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहा वाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३१।।

तब फिर क्यों कर निश्चय नय से
जिन स्तवन होगा अम्लान ?

सुनो, द्रव्य भावेन्द्रिय के प्रिय—
विषयों में प्रवृत्त सब ज्ञान—

पृथक् जान ज्ञायक स्वभाव से
अपना रूप लिया पहिचान।

वही जितेन्द्रिय जिन कहलाता—
यह निश्चय संस्तवन सुजान।।

भावार्थः— निश्चय नय से जिन स्तवन का क्या रूप है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य दरशाते हैं कि द्रव्य और भावेन्द्रियों के विषयों के प्रति उन्मुख होने से जो रूप रसादि या गोल त्रिकोणादि पदार्थों के ज्ञेयाकार रूप ज्ञान की परणति है वह ज्ञायक भावमयी चैतन्य परणति से एक प्रकार भिन्न है। इस प्रकार जिसने अपनी इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों और अपने ज्ञान में प्रतिबिंबित आकारों में राग द्वेष न कर इन्द्रियों व उनके विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है वह वस्तुतः जितेन्द्रिय होने से जिन कहलाता है। निश्चय नय से जिन स्तुति करने का यह एक प्रकार है। सारांश यह है कि जिसने पंचेन्द्रिय के विषयों में अपनी रुचि का परित्याग कर दिया वह द्रव्येन्द्रिय जित् है और उन विषयों के प्रति अपने उपयोग को नहीं लगाकर आत्मोन्मुख हुआ वह उसकी भावेन्द्रिय विजय है। जिसने ऐसा किया वह जितेन्द्रिय जिन है और उसको 'जितेन्द्रिय' कह कर स्तुति करना यह एक प्रकार जिन स्तवन है।

(३२)

निश्चय नय से जिन स्तवन का द्वितीय प्रकार

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

आत्म शत्रु खल मोह प्रबल है,
जिसने फैलाकर विभ्रांति।
जीवों को भव में भरमाया
जीत उसे की जिसने क्रांति॥

जाना ज्ञानानंद मयी – सत्
परम तत्व विज्ञान निधान।
वही मोहजित् जिन कहलाता–
यह द्वितीय संस्तवन महान॥

भावार्थः— आत्मा का प्रबल शत्रु मोह है—जिसने संसार में समस्त जीवों को वश कर भ्रमित किया है। इस शत्रु को जिसने आत्मबल से

जीत कर अपने परमात्म तत्त्व को ज्ञानानन्दमयी अनुभव कर लिया उसे मोह जित् कहकर प्रशंसा करना—यह जिन स्तवन का द्वितीय प्रकार है।

(३३)

निश्चय जिन स्तवन का तृतीय रूप

जिद मोहस्स दु जइया खीणो मोहो हवेज्ज साहुस्स।
तइया हु खीण मोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

वही मोहजित् साधु पुरुष जब
सजकर परम समाधि नितांत—
स्वानुभूति रत रह क्षय करता—
मोह महातम का निर्भ्रांत ॥
उसे क्षीण मोही जिन कहकर
किया गया जो जिन गुणगान।
वही शुद्ध परमार्थ दृष्टि से
है जिनेन्द्र संस्तव अम्लान ॥

भावार्थः— मोह पर बिजय प्राप्त करने वाला वही साधु पुरुष जब परम समाधि में लीन होकर मोहादि घातीय कर्मों का नाश करते हुए अनन्त ज्ञान दर्शनादि गुणों की अभिव्यक्ति कर लेता है तब उसे क्षीण मोही जिन कहकर स्तवन करना—स्तवन का तृतीय प्रकार है। तात्पर्य यह कि निर्मल ज्ञानदर्शनादि आत्माभिमुखी जनों में अभिव्यक्त गुणों की स्तुति करना ही निश्चय स्तवन कहलाता है।

(३४)

निश्चय प्रत्याख्यान

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खादी परेत्ति णादूण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३४॥

आत्म द्रव्य से प्रगट भिन्न जो—
जड़ चैतन्यमयी संसार।

तत्तसम निज रागादि विकारी
भावों को भी भिन्न विचार—।।
आत्म ज्ञान जाग्रत होता जब
कर वर चिदानंद रस पान—
ज्ञान वही पर त्यागमयी है—
शुद्ध दृष्टि में प्रत्याख्यान ।।

भावार्थ:—संसार के जो जड़ व चेतन पदार्थ अपनी आत्मा से भिन्न हैं उनसे तथा अपनी आत्मा में भी जो कर्मोदयजन्य रागादि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं उन सबसे स्वयं को भिन्न अनुभव करते हुए (कि वे मेरे स्वभाव नहीं हैं) आत्मा में जो पर त्याग रूप भेद विज्ञान उत्पन्न होता है। वही ज्ञान निश्चय प्रत्याख्यान कहलाता है। दूसरे शब्दों में आत्मा में जो पर पदार्थों और परभावों के प्रति अहंकार ममकार का भाव रहा करता है उसका दूर हो जाना ही निश्चय प्रत्याख्यान है।

(३५)

निश्चय प्रत्याख्यान का दृष्टान्त

जहणाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं मुयदि ।
तह सव्वे परभावे णादूण विमुञ्चते णाणी ।।३५।।

यथा रजक से भ्रांत पुरुष इक—
ले आया पर का परिधान ।
अपना मान पहिन सोया, तब—
स्वामी ने आ की पहिचान ।
माँगा अपना वस्त्र, तब तजा—
त्वरित भ्रांत ने, त्यों भ्रमलीन ।।
जीव सुगुरु से ज्ञान प्राप्त कर
त्याग करे रागादि मलीन ।।

भावार्थ:— जैसे कोई व्यक्ति धोबी (रजक) के यहाँ गया और भ्रम वश दूसरे व्यक्ति की चादर लाकर ओढ़कर सो गया। किन्तु जब चादर

का स्वामी धोबी से पता लगाकर उस सुप्त मनुष्य को जगाकर कहने लगा कि भाई ! यह चादर तो मेरी है तब उस सोये हुए व्यक्ति का चादर में निजत्व का भ्रम तुरन्त दूर हो गया और उसने चादर के स्वामी को चादर लौटा दी। उसी प्रकार मोही जीवों का पर वस्तु में अपनत्व का भ्रम सद्गुरु के उपदेश को पाकर दूर हो जाता है। गुरूपदेश से या स्वयं ही भेद ज्ञान द्वारा भ्रम का दूर हो जाना ही निश्चय प्रत्याख्यान है ।

(३६)

भेद ज्ञानी की मोह प्रति निर्ममता

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उपओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्मत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।३६।।

मम स्वभाव नहि किंचित्-जितने
राग द्वेष मोहादि विकार ।
मैं उपयोगमयी चेतन – हूँ
पावन चिदानंद घन सार ।।

समयसार ज्ञाता कहलाता–
यही भेद विज्ञान – निधान ।
मोहभाव से निर्ममत्व रह–
करता चिदानंद रसपान ।।

भावार्थः— 'जितने भी मोह जन्य रागादि विकार भाव हैं' वे मेरे स्वभाव नहीं हैं—विकार हैं, मैं चैतन्य स्वरूप ज्ञान दर्शनमयी आत्मा हूँ' ऐसी भावना भेदज्ञान से शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करने वाले ज्ञानी व्यक्ति में रहा करती है। जो कि मोह से मुक्त होकर चिदानन्द का रस पान किया करता है ।

(३७)

ज्ञानी की धर्मादिक द्रव्यों के प्रति निर्ममत्वता

णत्थि हि मम धम्मादी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।३७।।

विश्व चराचर व्याप्त धर्म–
आदिक द्रव्यों से निबिड़ नितांत।
मैं नहिं हूँ इन रूप कभी, मम–
रूप न दिखते ये सम्भ्रांत॥
शाश्वत ज्ञायक भाव हमारा
पावन परमानंद स्वरूप।
देहादिक सब प्रकट भिन्न हैं–
धर्मादिक भी हैं पर रूप॥

भावार्थः— भेद ज्ञानी जीव विचार करता है कि यह चराचर विश्व जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्यों से ठसाठस भरा हुआ है। किन्तु मैं इन धर्मादिक सभी द्रव्यों से भिन्न हूँ—न ये मेरे हैं और न मैं इनका हूँ। मेरा स्वभाव तो ज्ञानानन्द स्वरूप है। ये देहादि जड़ पदार्थ तो प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं किन्तु रागादि भाव भी तथा धर्मादि परोक्ष द्रव्य भी मेरे स्वभाव नहीं।

(३८)

ज्ञानी का आत्म चिंतन

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥३८॥

सचमुच हूँ मैं कौन, अहा!
बस एक शुद्ध चिद्रूप अनूप।
दर्शन – ज्ञानमयी, अविनाशी,
अद्वितीय आनंद स्वरूप॥
रूप रहित हूँ, मैं न किसी का
मम परमाणुमात्र नहिं अन्य।
यही शुध्द परमात्म भावना
भव से करती पार, न अन्य॥

भावार्थः— मैं वस्तुतः कौन हूँ ? मैं एक अखंड, दर्शन ज्ञानादि का पिण्ड, शाश्वत, शुद्ध, चिदानन्द स्वरूप, अमूर्तिक, अनुपम आत्मा हूँ। न तो मैं किसी अन्य का हूँ और न परमाणुमात्र कोई मेरा है। ऐसा शक्ति रूप में अपने आत्मा का परमात्म स्वरूप चिन्तन और अनुभवन ज्ञानी करता है। ऐसा चिन्तन और अनुभवन के बल से आत्मा भव से पार होकर एक दिन परमात्मा बन जाता है। यह चिन्तन शुद्ध नय का विषय है इसके बिना शुद्धात्म स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति परात्मवादी बना रहकर संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है

(३९)

आत्मस्वरूपानभिज्ञ जीवों की भ्रान्त धारणाएँ

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परमप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ।।३९।।

कुछ परात्मवादी भ्रम तम रत,
जिन्हें वस्तु की नहि पहिचान—
अध्यवसानों को कहते हैं—
जीव यही रागादि वितान ।।
ज्ञानावरणादिक पुद्गल की—
कर्म रूप परणतियाँ म्लान।
जन अनेक मतिभ्राँति विवश वस—
जीव उन्हें ही लेते मान ।।

भावार्थः—जिन्हें आत्मा के शुद्ध स्वरूप की पहिचान नहीं है वे वस्तुतः जो आत्मा नहीं है; किन्तु पुद्गल कर्मोदय के निमित्त से होने वाले विकार स्वरूप संयोगी भाव हैं—उन्हें ही आत्मा समझते रहते हैं। वे परात्मवादी कहलाते हैं। इनमें कुछ तो अध्यवसानों (रागादि भावों) को ही आत्मा मानते हैं और कोई ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों को ही भ्रान्तिवश आत्मा जानते रहते हैं।

(४०)

कुछ अन्य भ्रान्तियाँ

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ।।४०।।

तीव्र मंद मध्यम वैभाविक—
अध्यवसानों की संतान — ।
ही चेतन है, कोई कहते—
राग द्वेष परणतियाँ म्लान ।।
नर नारक नाना आकृतियाँ—
धारण करता दिखे शरीर—
जीव उसे कुछ कहें,—जिन्हें जड़—
चेतन की नहि परख गँभीर ।।

भावार्थः— कोई अज्ञानी जीव तो रागादि विकार भावों की जो तीव्र मंद मध्यमादि श्रेणी रूप परणतियाँ होती हैं उन्हें ही जीव मानता है तथा कुछ अन्य जन मनुष्य देव नारकी आदि के शरीरों की आकृतियों को ही आत्मा मान सन्तुष्ट रहा करते है ।

(४१)

भ्रान्त जीवों की अन्यान्य कल्पनाएँ

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तण मंदत्तण गुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४१।।

कुछ जन मान रहे वसु कर्मों—
का विपाक जो सुख दुख रूप—
जीवन में अनुभावित होता—
उससे भिन्न नहीं चिद्रूप ।।
पुण्य - पापकृत कर्मोदय में—
हों निष्पन्न शुभाशुभ भाव—

कोई अज्ञ उन्हें ही निश्चित
मान रहे चैतन्य स्वभाव ॥

भावार्थः— कोई ऐसे भी जीव हैं जो मानते हैं कि आठ कर्मों के फलस्वरूप सुख दुखादि का जो जीवन में अनुभव होता है—वही जीव है। तथा कोई ऐसा भी मानते हैं कि पूर्वकृत पुण्य-पाप के उदय में जो शुभ-अशुभ भाव होते हैं—वे ही जीव हैं।

(४२+४३)

कुछ और भी भ्रान्तियाँ

जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु के वि जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥

एवं विहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
तेण परमट्ठवादी णिच्छहवादीहि णिद्दिट्ठा ॥४३॥

(४२)

कुछ जन कहते —जीव कर्म मिल—
मिश्र रूप ही है चैतन्य।
पृथक् न अनुभव में आता है
चेतन का अस्तित्व तदन्य ॥
तदतिरिक्त कुछ मान रहे हैं—
जीव कर्म संयोगी भाव —
अर्थ क्रिया करने समर्थ है—
अतः जीव वह स्वतः स्वभाव ॥

(४३)

यों परात्मवादी भ्रम तमवश
जिन्हें तत्व की नहि पहिचान—
मन कल्पित नित करते रहते
निरा भ्रांत मिथ्या श्रद्धान ॥

इन्हें आत्मदर्शी यूं कहते—
ये सब ही परमार्थ विहीन।
असद् दृष्टि रखने से निश्चित
ही हैं भ्रांत पथिक अतिदीन॥

भावार्थ:— कुछ जनों की मान्यता है कि जीव और कर्मों का मिश्रण ही आत्मा है; क्योंकि इससे भिन्न आत्मा का कोई स्वतन्त्र स्वरूप अनुभव में नही आता। इससे भिन्न भी कुछ जनों का यह विश्वास है कि जीव और कर्मों का जो संयोगी भाव अर्थ क्रिया करने में समर्थ होता है—वही आत्मा है।

सारांश

कहने का तात्पर्य यही है कि वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ तत्वज्ञान शून्य जन अपनी-अपनी कल्पनाओं के द्वारा जीव के विषय में भ्रमपूर्ण धारणाएँ बनाकर मिथ्या दृष्टि बने हुए हैं। इन सबके प्रति आत्मदर्शी पुरुषों का यह विश्वास है कि ये सब परात्मदर्शी होकर परमार्थ से शून्य ही हैं।

(४४)

उल्लिखित भ्रान्तियों का निराकरण

एदे सव्वे भावा पोग्गल दव्व परिणाम निप्पण्णा।
केवलि जिणेहि भणिदा किह ते जीवोत्ति वुच्चंति॥४४॥

अध्यवसानादिक समस्त ही—
जितने कर्म जनित परिणाम—
निश्चित पुद्गल द्रव्य परिणमन—
से होते निष्पन्न, सकाम।
इसी दृष्टि से श्री जिनेन्द्र ने
इन्हें कहा पौद्गलिक विभाव।
इन्हें जीव कैसे कह दें, नहि—
जिनका है चैतन्य स्वभाव?

भावार्थः— चूँकि पुद्गल कर्मों के उदय से ही रागादि अध्यवसान भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये पर द्रव्य के संयोग के निमित्त से उत्पन्न होने वाले भाव नैमि त्तिक भाव हैं इसलिए निमित्त प्रधान दृष्टि से जिनेन्द्र देव ने इन्हें पौद्गलिक विभाव कहा है। जिनका शुद्ध स्वभाव चैतन्य नहीं है उन्हें शुद्ध नय से जीव कैसे माना जा सकता है।

(४५)

अष्ट कर्म भी जीव नहीं है

अट्ठविहं पिय कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्च माणस्स ॥४५॥

स्वाभाविक ही कर्म अष्टविध—
पुद्गलमय हैं जड़ परिणाम।
रंचमात्र संप्राप्त नहीं है—
जिनमें चेतन तत्व ललाम॥
जिनका फल परिपाक समय में
दुखमय होता निविड़ नितांत।
आत्म शत्रुओं को तू कैसे—
चेतन मान रहा चिद्भ्रांत?

भावार्थः—ज्ञानावरणादिक आठ कर्म तो स्पष्ट ही आत्म भिन्न पुद्गल परमाणुओं की परणतियाँ हैं। जबकि इनमें रंचमात्र भी चेतन तत्व नहीं है तब इन्हें जीव कैसे माना जा सकता है? फिर इन पुद्गल कर्मों का जब परिपाक होता अर्थात् उदय काल आता है तब आत्मा को इनका फल दुखरूप ही भुगतना पड़ता है। इस दृष्टि से ये आत्मा के शत्रु ही सिद्ध होते हैं। इन्हें आत्मा कैसे कहा जा सकता है? कदापि नहीं।

(४६)

व्यवहार नय से रागादिभाव जीव हैं

ववहारस्स दरीसणमुवदेसो वण्णिदो जिणवरेंहि।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

४६/१

रागादिक जीवों में होतीं जो विभिन्न परणतियाँ म्लान–।
उन्हें जीव कह श्री जिनेन्द्र ने दरशाया व्यवहार विधान ।।
जो कि न्याय्य है और सर्वथा ही नहिं होता जो निर्मूल ।
जीव स्वयं रागी न बने तो कर्म बंध हो इसे न भूल ।।

भावार्थः–किंतु श्री जिनेन्द्रदेव ने राग द्वेष आदि अध्यवसान भावों को व्यवहार नय मे जीव ही दरशाया है–जो कि न्याय संगत है। यतः रागादिक भावों का उपादान कारण आत्मा ही है—पुद्गल कर्मों का उदय तो निमित्त मात्र है। रागादिक भावों की उत्पत्ति में पुद्गल कर्मोदय चूंकि निमित्त होता है इस निमित्त प्रधान दृष्टि से उन्हें पुद्गल के भी कहा है; किंतु होते वे जीव में ही हैं और जीव की ही परणति है इसलिए अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में वे जीव ही के हैं। यदि ऐसा न माना जाकर रागादि भावों को पुद्गल के ही सर्वथा माना जावेगा तो इनके निमित्त से होने वाला नवीन कर्मो का बंध भी जीव को न होकर पुद्गल को ही मानना पड़ेगा। तब जीव सर्वथा निर्बन्ध माना जाएगा—जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

४६/२

उक्त कथन का और भी स्पष्टीकरण

यतः परिणमन भिन्न न होता कभी द्रव्य से किसी प्रकार–।
कर्मोदय निमित्त पा करता जीव स्वयं रागादि विकार ।।
अतः न्याय संसिद्ध पक्ष का ही प्रतिपादक है व्यवहार ।
राग भाव से अपराधी बन जीव स्वयं बँधता सविकार ।।

भावार्थः— यतः द्रव्य का परिणमन द्रव्य से भिन्न नहीं होता और जीव कर्मोदय के निमित्त को पाकर स्वयं राग द्वेष करता है अतः अपने विकारी भाव रूप परिणमन करता हुआ जीव अपराधी सिद्ध है। इसीलिए वह कर्म बन्धन में पड़ता है–पुद्गल नहीं। यह बात तथ्यपूर्ण एवं न्यायसंगत भी है।

विशेष

यह पहिले दरशाया गया है कि शुद्ध नय का विषय अभेद अखण्ड रूप शुद्ध द्रव्य है। और व्यवहार नय का विषय भेद रूप गुण व उसकी

पर्यायें हैं । चूँकि रागादि भाव आत्मा की अशुद्ध पर्यायें हैं इसलिए श्री जिनेन्द्रदेव ने उन्हें व्यवहार नय का विषय होने से जीव कहा है । किस दृष्टि (नय) से कौन सा कथन किया जा रहा है—यह समझना आवश्यक अनिवार्य है । अनेकान्तात्मक स्याद्वाद में विरोध की कोई स्थान न होने से प्रत्येक कथन को अनेकाँत की कसौटी पर कसकर ज्ञान की आराधना करना फलदायी होता है जबकि एकाँतवाद आग्रह को जन्म देकर मानव के दृष्टिकोण को संकुचित और दुराग्रही बनाकर वस्तु विषयक पूर्ण सत्य को जानने व प्रकट करने में असमर्थ होता है । तात्पर्य यह कि श्री जिनेन्द्र-देव ने दोनों नयों (निश्चय और व्यवहार) से द्रव्य व पर्याय रूप वस्तु को ज्ञेय बताकर वास्तविकता को प्रकट करते हुए अनेकाँतात्मक सत्य को स्पष्ट किया है ।

४६/३

जीव में उत्पन्न होकर भी रागादिक स्वभाव नहीं है

फिर भी रागादिक स्वभाव नहिं, ये विभाव हैं, अतः स्वभाव—।
प्रकटाने करना अभीष्ट है राग द्वेष का पूर्ण अभाव ।।
बंधन-मुक्ति प्राप्त कर तब ही जीवन होगा शुद्ध महान—।
यों परमार्थ तत्व प्रतिपादन करता नय व्यवहार-विधान ।।

भावार्थः— यद्यपि रागादि भाव जीव में ही होते हैं, किंतु वे शुद्ध स्वभाव न होकर विभाव-विकार हैं । अतः अपने ज्ञाता दृष्टा मात्र शुद्ध स्वभाव को प्रकट करने हेतु रागादिक विकारों का अभाव करना ही अभीष्ट है; क्योंकि आत्मा जब तक इन विकारों पर विजय प्राप्त नहीं करता तब तक कर्म बंधन से मुक्ति पाकर स्वतन्त्र न हो सकेगा । ऐसा कथन कर व्यवहार परमार्थ की प्राप्ति में सहायक होता है—बाधक नहीं ।

४६/४

व्यवहार नय मिथ्या नहीं—मिथ्या मानने में हानि

श्रीजिन कथित मुक्ति पथ दर्शक तीर्थ प्रवर्त्तक नय व्यवहार ।
स्वतः प्रयोजनवान् सिद्ध है निश्चय नय सापेक्ष उदार ।।
यदि व्यवहार सर्वथा मिथ्या और मान लें हेय समान ।
धर्म तीर्थ तब जगती तल पर हो जायेगा लुप्त, अयान !

भावार्थः—संसार में धर्म तीर्थ प्रवर्त्तक व्यवहार नय मार्ग भ्रष्ट जनों को मुक्ति मार्ग दरशाने में परम सहायक होने से प्रयोजनीय है; किंतु उसे निश्चय सापेक्ष होना चाहिए। यदि व्यवहार नय को सर्वथा मिथ्या और हेयमान लिया जायेगा तो यहाँ धर्म तीर्थ का सर्वथा लोप हो जायेगा, क्योंकि बिना व्यवहार के धर्मोपदेश देना अशक्य और असंभव है।

४६/५

जिनदर्शन, जिनधर्म श्रवण, जिन प्रतिमा, जिन मंदिर निर्माण।
तपश्चरण, व्रत, नियम, तीर्थ यात्रा करना जिन वचन प्रमाण ।।
सामायिक, संस्तवन, वंदना, देवार्चन, गुरु-सेवा-मान।
श्रावक-मुनि के मूलोत्तर गुण हो जायें सब अंतर्द्धान ।।

भावार्थः—जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहार को निश्चय का साधक माना है—शत्रु नहीं। इसीलिए उन्होंने व्यवहार धर्म का उपदेश दिया है। जिन दर्शन, धर्म श्रवण, जिन प्रतिमा और जिन मंदिरों का निर्माण, तपश्चरण, करना, व्रत नियमों का पालन करना, तीर्थयात्रा, सामायिक, वंदना, स्तवन, पूजन, गुरु सेवा, विनय, स्वाध्याय, श्रावक व मुनियों के मूल एवं उत्तर गुणों का पालन आदि सब व्यवहार धर्म के अंग हैं और निश्चय मुक्ति मार्ग के साधन हैं। इन्हें मिथ्या व हेय मान लेने पर जीवन में धर्म की प्रवृत्ति ही समाप्त हो जावेगी।

४७/६

तज-अन्याय, अभक्ष्य, दुर्व्यसन, एवं अनाचार, व्यभिचार।
सत्य अहिंसा मय प्रवृत्ति कर रखना उर में उच्च विचार ।।
देव शास्त्र गुरु पर श्रद्धा सत्पात्र दान, संयम अम्लान।
पालन कौन करे यदि माने हेय सर्व व्यवहार विधान ।।

भावार्थः—यदि व्यवहार धर्म को सर्वथा हेय मान लिया जायगा तब अन्याय अभक्ष्य, सप्त व्यसन, पापाचार, व्यभिचार आदि का त्याग कर सत्य अहिंसामय प्रवृत्ति करना, अपने विचारों को शुद्ध रखना, देव-शास्त्र गुरु पर श्रद्धा करना, पात्रों को दान देना, संयम का पालन करना, फिर क्या व्यर्थ न हो जायगा ?

४६/७

निश्चय व्यवहार का समन्वय

जीवमात्र परमार्थ दृष्टि में शुद्ध बुद्ध चैतन्य निधान।
पर पर्याय दृष्टि अन्तर भी होता है उपलब्ध महान।।
उभय नयाश्रित कथन सत्य है और अबाधित भी सापेक्ष।
किंतु वही मिथ्या बन जाये जब नितांत होता निरपेक्ष।।

भावार्थः—शुद्ध निश्चय नय की परमार्थ दृष्टि में सभी जीव चैतन्य-मयी ज्ञायक स्वभावी रहते व अन्य द्रव्यों से अपमिश्रित न होकर शुद्ध बुद्ध हैं किंतु पर्याय (व्यवहार) दृष्टि से इनमें महान् अन्तर है। कोई मुक्त है तो कोई संसारी। संसारियों में भी कोई देव कोई नारकी या मनुष्य है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक संसारी जीव जीवत्व भाव की अपेक्षा यदि शुद्ध है तो उसी समय वही जीव रागद्वेषादि में लिप्त होने से अशुद्ध भी है। दोनों दृष्टियाँ सापेक्ष होकर सत्य व यथार्थ हैं। जबकि निरपेक्ष होकर दोनों दृष्टियाँ मिथ्या हैं—जैसे यह मानना कि जीव शुद्ध ही है या अशुद्ध ही है।

४६/८

निरपेक्ष नय कथन से अन्य हानि

यदि निश्चय एकांत ग्रहण कर प्राणिमात्र को राग विहीन—।
शुद्ध सर्वथा मान चलें तो मुक्तिमार्ग हो जाय विलीन।।
यत: शुद्धनय मुक्ति न माने, मार्ग न सम्यग्दर्शन ज्ञान—।
मान सिद्ध भगवंत स्वयं को लोक बने पथभ्रष्ट महान।।

भावार्थः—यदि कोई निश्चयैकान्त का पक्ष ग्रहण कर संसारी प्राणियों को रागादि रहित सर्वथा शुद्ध मानकर चलता है तो फिर मुक्ति मार्ग की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी—उसका लोप हो जाएगा। यत: शुद्ध निश्चय की दृष्टि में न मुक्ति है और न संसार। उसकी दृष्टि में सभी जीव शुद्ध हैं। और यदि उन्हें सर्वथा शुद्ध ही मान लिया गया तब सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की साधना करना व्यर्थ सिद्ध होगा। जबकि ऐसा है नहीं।

४६/९

निश्चयैकान्त पक्ष में अन्य दोषोद्भावन

शुद्ध दृष्टि में बध करना, बध तजना दोनों क्रिया समान ।
तदाधार व्यवहार करें तो नर-नारक बन जाय अजान ।।
निश्चय दृष्टि जीव त्रस थावर देहों से है भिन्न नितांत ।
भस्म समान उन्हें मर्दन में दोष न होगा फिर, मतिभ्रांत ।।

भावार्थः— शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में बध करना (हिंसा करना) और हिंसा (वध) करने का त्याग करना ये दोनों क्रियाएँ समान हैं; क्योंकि शुद्ध दृष्टि–अभेद दृष्टि है, इसमें भेद नहीं होता । यदि इसी दृष्टि को सर्वथा सत्य मान कर चला जावेगा तब मनुष्य नारकी ,के समान मारकाट करते हुए भी दोषी नहीं ठहरेगा । इसी प्रकार निश्चय नय से जीव और त्रस स्थावर शरीर दोनों भिन्न-भिन्न है, तब त्रसादि जीवों को भस्म के समान मसल देने में भी कोई दोष न होगा; क्यों निश्चय से जीव अमूर्त्तिक और अस्पर्श है और शरीर मूर्तिक व सस्पर्श होकर जीव से सर्वथा भिन्न है–ऐसा समझकर स्थावर व त्रस जीवों की हिंसा में पाप मानने की आवश्यकता समाप्त हो जावेगी – जबकि व्यवहार नय से संसारी जीवों की देह और आत्मा में कथंचित् एकता स्वीकार की गई है और जीवों के मारने में पाप माना गया है ।

४६/१०

व्यवहार निरपक्ष निश्चय निश्चयाभास है

'जीव सर्वथा अजर अमर है, जड़ शरीर से निपट अछूत–।
पुण्य पाप सब एक बराबर' जिन्हें चढ़ा ऐकान्तिक भूत ।।
तद्वश जो व्यवहार धर्म का खंडन करते हैं सम्भ्रांत ।
उन्हें निश्चयाभास सतत–सचमुच करता दिखता दिग्भ्रांत ।।

भावार्थः—'जीव तो अजर अमर है और इस जड़ शरीर से उसका कोई संबंध नहीं है वह शरीर से अछूता है–तथा पुण्य और पाप क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है' ऐसा निश्चय नय से कथन करने में आता है । इस

कथन की एक दृष्टि से सत्य न मान सर्वथा (सभी दृष्टियों से) सत्य मानने वाले निश्चयैकान्ती जो भी व्यवहार धर्म का खंडन करते हैं। जान पड़ता है उन पर निश्चयैकान्त का भूत सवार होकर उन्हें दिग्भ्रान्त कर रहा है।

४६/११

निश्चयाभासी जीवों के कार्यकलाप

भक्षण कर अभक्ष्य का रुचि से लेते स्वाद स्वयं अविराम—।
विषय वासना पूर्ति हेतु जो तन्मय रहते सतत सकाम ।।
नहिं वैराग्य ज्ञान की जिनके जीवन में है झलक प्रवीण !
फिर भी सम्यग्दृष्टि स्वयं को माने भ्रांत पथिक वे दीन ।।

भावार्थः— निश्चयाभासी जीव व्यवहार धर्म को हेय मानकर रुचि पूर्वक स्वयं अभक्ष्य भक्षण करता और पंचेन्द्रियों के विषयों को तन्मय होकर भोगता तथा इन्हें जड़ की क्रिया मान अपनी आत्मा को निर्दोष मान संतुष्ट और मस्त बना रहता है जबकि सम्यग्दृष्टि जीव में स्वभावतः दुष्कर्मों एवं विषयभोगों में उदासीनता आ जाती है।

४६/१२

ये सब व्यवहार धर्म निरपेक्षता के दुष्परिणाम हैं

यह है सब व्यवहार धर्म निरपेक्ष मान्यता का परिणाम।
जिससे आत्मभ्रांति वश जीवन मार्गभ्रष्ट होता अविराम ।।
जिनका दुष्कर्मों में रहता—योग और उपयोग मलीन—।
उनके मार्ग भ्रष्ट होने में तनिक नहीं संदेह, प्रवीण !

भावार्थः— जिन जीवों की बुद्धि और मन बचन काय सदा ही दुष्कर्मों के करने में संलग्न और सचेष्ट हैं उनके मार्ग भ्रष्ट होनें से तनिक भी संदेह नहीं होना चाहिए। जबकि व्यवहार निरपेक्ष होकर निश्चयाभासी जीव उक्त दुष्कर्मों के करने में सचेष्ट बना रह कर मार्ग भ्रष्ट हो ही जाता है।

४६/१३

आचार्यश्री के पूर्व कथन के अनुसार

किसको कौनसा नय आश्रयणीय और प्रयोजनवान् है ?

परमभावदर्शी द्वारा है – निश्चय आश्रयणीय महान।
जो समाधि में लीन बने करै सतत स्वानुभव का रसपान ।।
अपरमभाव संस्थित जन को है व्यवहार प्रमुख उपदेश ।
पात्र भेद से प्रतिपादित है–उभय नयाश्रित धर्म अशेष ।।

भावार्थः—परम भावदर्शी (शुद्धोपयोगी) साधुजनों द्वारा ही निश्चय का विषय आश्रयणीय है, जो समाधिस्थ होकर सतत स्वानुभूति रस का पान करने में निमग्न रहा करते हैं; किन्तु जो अभी अपरमभाव–अर्थात् निजली श्रेणी की साधक दशा में ही स्थित हैं ,उन्हें व्यवहार का आश्रय लेकर धर्म का पालन दृढ़तापूर्वक करना चाहिए; किन्तु निश्चय धर्म-जो स्वरूपाचरण स्वरूप है उसे प्राप्त करने का लक्ष्य अवश्य बनाए रखना चाहिए । तात्पर्य यह कि जिन्हें निश्चय धर्म सेवन की पात्रता है उन्हें निश्चय और जो अभी प्राथमिक दशा के साधक हैं उन्हें व्यवहार धर्म और नय के आश्रय से आत्मकल्याण करना श्रेयस्कर है ।

४६/१४

निश्चय निरपेक्ष व्यवहार भी व्यवहाराभास है

निश्चय को अलक्ष्य कर करते केवल पुण्य क्रिया अविराम ।
ख्याति लाभ पूजाहित धार्मिक अनुष्ठान हित रहें सकाम ।।
वे व्यवहाराभासी तप कर भी न मुक्त हों लक्ष्य विहीन ।
संसृति में स्वर्गादि प्राप्त कर रह जायें बेचारे दीन ।।

भावार्थः—निश्चय धर्म को अलक्ष्य कर जो जीव केवल लक्ष्यविहीन होकर पुण्य क्रियाओं को करते व अपनी ख्याति, लाभ या प्रतिष्ठा पाने के उद्देश्य से नाना प्रकार धार्मिक अनुष्ठान करते रहते हैं वे अपने लक्ष्यभूत निश्चय धर्म को भुला देने के कारण कितना भी तप कर लें तो भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते । स्वर्गादि की प्राप्ति कर संसार में ही परिभ्रमण करते रहेंगे । जिन

शासन में निश्चय और व्यवहार नय के समान दोनों धर्म भी परस्पर सापेक्ष रहकर मित्रवत् सहयोग करते हुए ही कल्याणकारी माने गए हैं—निरपेक्ष नहीं।

४६/१५

हेयोपादेय का स्पष्टीकरण

शुद्ध, शुभ, अशुभ भावत्रय में उपादेय सर्वदा हि शुद्ध।
शुद्ध न हो संप्राप्त तदा शुभ उपादेय रहता अविरुद्ध ।।
किंतु अशुभ सर्वथा हेय है—श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण।
अतः अशुभ तज शुभ प्रवृत्तिकर लक्ष्य शुद्ध का ही श्रेयान् ।।

भावार्थः— शुद्ध, शुभ और अशुभ इस प्रकार आत्मा के भाव तीन भाँति के होते हैं। इनमें शुद्ध भाव तो सर्वदा उपादेय ही है; किन्तु जब तक शुद्ध भावों की प्राप्ति न हो तब तक शुद्ध की प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर शुभ भाव ही आश्रयणीय और उपादेय है। अशुभ भाव तो सर्वथा ही हेय होने से त्याज्य हैं। यद्यपि शुद्ध भावों की अपेक्षा शुभ भाव भी हेय है। किन्तु शुद्ध की प्राप्ति हुए बिना शुभ का त्याग कर अशुभ भाव करना श्रेयस्कर नहीं है।

४६/१६

हेयोपादेय का निर्णय परिस्थिति पर निर्भर
इसका—दृष्टान्त द्वारा समर्थन

उपादेय या हेय व्यक्ति की योग्यतानुगत है व्यवहार।
जो चलता नित द्रव्य क्षेत्र कालादि परिस्थित के अनुसार ।।
उपादेय नौका ज्यों उसको – डूब रहा हो जो मँझधार।
वही हेय बन जाय स्वयं, जब हो जाता है बेड़ा पार ।।

भावार्थः— हेय और उपादेय में क्या हेय और क्या उपादेय है—इसका निर्णय द्रव्य, क्षेत्र काल और व्यक्ति की योग्यतानुसार हुआ करता है। जैसे जो व्यक्ति मंझधार में (पानी में) डूब रहा है उसे नौका उस समय उपादेय है; किन्तु किनारे लग जाने पर वही नौका हेय हो जाती है।

४६/१७

हेयोपादेय के अन्य दृष्टान्त

तल भागस्थ व्यक्ति श्रेणी चढ़ करता अपनी मंजिल पार।
यदि श्रेणी को हेय समझले तो नीचे रह जाय गँवार।।
व्याधिग्रस्त जन को औषधियाँ जो जो पड़ती हैं अनुकूल।
उपादेय वे सभी; किंतु उस व्याधि गये हो जायें धूल।।

भावार्थ:— महल के नीचे जमीन पर खड़े व्यक्ति को ऊपर चढ़ने के लिए नीचे से ऊपर तक की सभी सीढ़ियाँ उपादेय हैं; किन्तु मंजिल पर ऊपर पहुँच जाने पर उनका उपयोग न रहने से वे ही सीढ़ियाँ हेय हो जाती हैं। इसी प्रकार रोगी मनुष्य को उसके अनुकूल औषधियां सेवन करने योग्य होने से उपादेय हैं, किन्तु रोग के मिट जाने पर वे ही औषधियाँ उसे अब हेय मानी जाती हैं।

४६/१८

सारांश

यों निष्पक्ष दृष्टि से होता एक यही निश्चित सिद्धांत।
अशुभ सदा ही हेय कथंचित्—उपादेय शुभ रहे नितांत।।
शुभ की पुण्य भूमि में रहकर लक्ष्य शुद्ध का रहे सयत्न।
शुद्ध प्राप्त जब भी हो जाये स्वयं शुभाशुभ छुटें अयत्न।।

भावार्थ:— उल्लिखित दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ तो सदा ही हेय है, किन्तु नाव, सीढ़ियों एवं औषधि के समान आत्म-कल्याण के इच्छुक को अशुभ को त्यागकर शुभ भावों का आश्रय लेना ही ही उचित है और वह भी आगे बढ़ने (आत्मा को शुद्ध भावों द्वारा शुद्ध करने) के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर। शुद्ध भावों के प्राप्त हो जाने पर शुभ भाव तो स्वयं छूट जावेंगे। उनकी फिर आवश्यकता और उपयोगिता भी समाप्त हो जावेगी।

४६/१९

उक्त कथन का और भी स्पष्टीकरण

शुद्ध भाव से डिगें कदाचित् लें शुभ का आश्रय तत्काल ।
पुनः शुद्ध समभाव प्राप्त कर स्वानुभूतिरत रहें त्रिकाल ।।
शुद्ध स्वानुभव का सुलक्ष्य नित सर्व दशाओं में श्रद्धेय ।
रंच नहीं संदेह – प्राप्त करने में इसके ही है श्रेय ।।

भावार्थः— यदि कोई व्यक्ति शुद्ध भावों से डिग जावे तो उसे फिर शुभ भावों का ही आश्रय लेना चाहिए—न कि अशुभ का । शुभ से फिर शुद्ध भावी बनने का प्रयत्न करना चाहिए । राग-द्वेष रहित समभाव-वीतराग भाव ही शुद्ध भाव कहलाते हैं । अशुभ भावों का आश्रय तो पतन का कारण है ।

४६/२०

व्यवहार धर्म–(शुभ भावों) का आश्रय लेना
किसे हेय और किसे उपादेय

जो साधक निश्चय अलक्ष्य कर शुभ प्रवृत्ति में रहते लीन ।
उन्हें हेय व्यवहार दिखा गुरु निश्चय में करते तल्लीन ।।
मुनि श्रावक या अन्य जनों को–जो हैं स्वानुभूति रसहीन–।
उन्हें अशुभ तज शुभ प्रवृत्ति ही श्रेयस्कर तावत् अमलीन ।।

भावार्थः— मुनिजनों को शुभ को त्यागकर शुद्धोपयोग प्राप्त करने और फिर उसी में लीन रहने के लिए श्री गुरु ने उन्हें शुद्ध का त्याग कर शुभ भावों में आने को हेय बताया है; क्योंकि शुद्धोपयोग की प्राप्ति ही मुनि का लक्ष्य होता है । शुद्ध से च्युत होकर शुभ मे आना उसका पतन ही कहलाता है । किन्तु जो मुनि शुद्धोपयोगी बनने में या बने रहने में अभी असमर्थ हैं उन्हें तथा श्रावकों को अशुभोपयोग का त्यागकर शुभोपयोग ग्रहण करना और शुद्धोपयोग की प्राप्ति करने का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है ।

४६/२१

उपसंहार

पात्र अपात्र दृष्टि रख होती धर्म देशना नित अम्लान ।
जो जिस योग्य उसे वैसी ही निश्चय या व्यवहार प्रधान ।।
अभिप्राय यह है कि नयों की दृष्टि समझ कर तत्व अशेष–।
जान मान व्यवहार किये बिन होगा जन उद्धार न लेश ।।

भावार्थः— श्री गुरु की धर्मदेशना पात्र अपात्र देखकर ही हुआ करती है । वे देखते हैं कि कौन परमभाव दर्शी है और कौन अपरमभाव में स्थित हैं—तदनुसार ही उसे निश्चय और व्यवहार धर्म की प्रधानता से उपदेश दिया जाकर उसके कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया जाता है । यदि ऐसा नहीं किया गया और व्यवहार के पात्रों को निश्चय का और निश्चय के पात्रों को व्यवहार का उपदेश दिया गया तो मार्ग भ्रान्त होकर श्रोता अकल्याण का ही पात्र बनेगा ।

(४७)

अन्य दृष्टान्त द्वारा व्यवहार और निश्चय का पुनः प्रदर्शन

राया खु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु वुच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ।।४७।।

चल पड़ता चतुरंग सैन्य सज
जगती पर जब नृपति उदार ।
उसे विलोकन कर विस्मित हो
तब यूँ कहता है संसार ।।
'अरे ! भूप कोसों विस्तृत बन–
किधर कर रहा है प्रस्थान ?'
यह व्यवहार कथन, निश्चय से
नृपति न सैन्य-व्यक्ति इक जान ।।

भावार्थः— एक राजा अपनी विशाल चतुरंग सेना को साथ लेकर जब बाहर निकलता है तब आश्चर्यचकित होकर जन कहते हैं कि 'अरे ! देखो राजा कोसों तक फैला हुआ कहाँ चला जा रहा है ?' ऐसा कथन सेना को राजा में सम्मिलित कर व्यावहारिकजनों द्वारा किया जाता है। क्योंकि सेना का राजा से संबंध होने के कारण उसे राजा की सेना कहा जाता है। यदि निश्चय से देखा जाय तो सेना राजा नहीं है। राजा तो केवल एक व्यक्ति है।

(४८)

दार्ष्टान्त

एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवोत्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

त्यों रागादि विकारी भावों–
मय होते जो अध्यवसान।
उन्हें जीव कह दरशाया है
श्रीजिन ने व्यवहार विधान ॥

एक चेतना जो व्यापक है—
अध्यवसानों में अविराम।
निश्चय नय से जीव वही है—
भेद यहाँ पाता विश्राम ॥

भावार्थः— उल्लिखित दृष्टान्त में राजा की सेना की भांति आत्मा में जो राग द्वेषादि विकारी भावों की तरंगे उभरती रहती हैं उन्हें जिनेंद्र देव ने व्यवहार नय से जीव कहा है; किंतु निश्चय नय से इन विकारी भावों (अध्यवसानों) में जो चेतना प्रवाह रूप में बह रही है—वही जीव है। निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि में यही अन्तर है। निश्चय अभेद को ग्रहण करता है और व्यवहार भेद को ग्रहण करता है।

(४९)

(परमार्थ से जीव का स्वरूप—आत्मा क्या है ?)

अरसमरूवमगंधं　　अव्वत्तं चेदणागुणसमद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ।।४९।।

अरस अरूप अगंध स्पर्श बिन
　　चिद्विशिष्ट अव्यक्त महान ।
शब्दहीन, जिसका न लिंग है—
　　अनुपम अनिर्दिष्ट - संस्थान ।।
जीव वही चेतन अविनाशी
　　अन्तस्तत्व स्वस्थ अम्लान ।
सहजानंद स्वरूपी सम्यक् —
　　दर्शन ज्ञान चरित्र निधान ।।

भावार्थ:— चेतना गुण से समृद्ध आत्मा वस्तुत: रूप रस गंध स्पर्श और शब्द रहित वस्तु है, वह अमूर्तिक होने से अव्यक्त है—इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, तथा इसीलिए इसका कोई बाह्य चिन्ह भी नहीं है, न इसके समान अन्य कोई वस्तु है जिसकी उपमा दी जा सके । इसके सिवाय इसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है । वह तो सहजानन्द स्वरूप-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि अनन्त गुणों का अखंड पिण्ड है ।

(५०)

आत्मा अन्य क्या नहीं है ?

जीवस्सणत्थि वण्णो णवि गंधो णविरसो णवि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं णविसंठाणं ण संहणणं ।।५०।।

रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहिं—
　　और नहीं संस्पर्श अशेष ।
नहि नारक नरसुर पशुमय हैं,
　　जितने शारीरिक परिवेश ।।

समचतुरस्र स्वाति कुब्जक या
अन्य नहीं कोई संस्थान।
वज्र वृषभ नाराचादिक भी–
नहि संहनन चैतन्य सुजान ।।

भावार्थ:— आत्मा न तो रूप है, न गंध है, न रस है, न स्पर्श है, और न शब्द है : तथा नारकी देव, मनुष्य योनि या पशुओं के शारीरिक रूप जो नाना प्रकार दिखाई देते हैं वे भी आत्मा नहीं है। सम चतुरस्र आदि संस्थान व बज्र वृषभ नाराचादि संहनन भी जीव नहीं है।

(५१+५५)

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया न कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।।५१।।
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणा वा ।।५२।।
जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंध ठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।।५३।।
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।।५४।।
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थिजीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गल दव्वस परिणामा ।।५५।।

५१

राग द्वेष मय जितने भी हैं मोह जन्य परिणाम विशेष।
शाश्वत जीवस्वभाव कभी भी हो सकें वे बंधु! अशेष ।।
मिथ्यादर्शन अविरति अथवा योग कषाय, प्रमाद मलीन।
निश्चय नय से आत्म भिन्न हैं द्रव्य भाव नोकर्म, प्रवीण ।।

५२/१

सम अविभागप्रतिच्छेद मय – शक्ति वर्ग कहलाती है ।
वर्गों का समुदाय वर्गणा जिनवाणी दरशाती है ।।
इन्हीं वर्गणाओं से स्पर्द्धक बनते–पर ये सब नहिं जीव ।
माने जा सकते न शुभाशुभ मन संकल्प विकल्प हि जीव ।।

५२/२

लता दारु अरु अस्थि अश्मवत् विविध शक्तियुत् घातिय कर्म ।
या गुड़, खाँड, शर्करा एवं सुधा स्वादवत् सब शुभ कर्म ।।
अशुभ-निम्ब, कांजीर, विष हलाहल सम जो अनुभागस्थान ।
नहि अशुध्द अध्यात्ममयी भी शुध्द जीव के हैं संस्थान ।।

५३

मन वच काय योग मय जितने चंचल योगस्थान विशेष ।
प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशोंमयी बंध संस्थान अशेष ।।
नहीं जीव के हो सकते ये तथा न उदय स्थान समस्त–।
तीव्र मंद फलमयी मार्गणाओं के भी सब भेद प्रशस्त ।।

५४

कर्म प्रकृति की कालान्तर में संस्थिति वा तद्बंधस्थान ।
या कषाय के तीव्रोदय में होते जो संक्लेशस्थान ।।
जब कषाय का मंदोदय हो–तब तो बंधु ! विशुध्दिस्थान ।
चरित मोह की क्रम निवृत्ति में संयम के हों लब्धिस्थान ।।

५५

पर्याप्तापर्याप्त सूक्ष्म–बादर आदिक सब जीवस्थान ।
मिथ्यात्वादि अयोगी जिन तक चतुर्दशोक्त गुणथान निदान ।।
यत: पौद्गलिक कर्म निमित्तक ये होते परिणाम विशेष ।
अत: सुनिश्चय दृष्टि जीव के कहलायेंगे नहीं अशेष ।।

५२/१

भावार्थ:—इसके अतिरिक्त शुद्ध नय की दृष्टि में आत्मा में जो मोह-जन्य भाव (रागादिक) उत्पन्न होते रहते हैं वे भी जीव नहीं हैं और न जीव के शुद्ध स्वरूप हैं। मिथ्या दर्शन, अविरति, योग, प्रमाद कषाय रूप मलिन परणतियाँ द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म भी आत्मा नहीं हैं। ५१।

इसके सिवाय वे पुद्गल परमाणु—जिनमें एक समान फलदान शक्ति होती है—वर्ग कहलाते हैं और वर्गों का समुदाय वर्गणा व वर्गणाओं के समूह स्पर्द्धक कहलाते हैं। ये सब भी जीव नहीं है और न शुभाशुभ संकल्प विकल्प ही शुद्ध निश्चय नय से जीव हैं।

५२/२

मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये चार घतिया कर्म अशुभ हैं। इनकी शक्तियां—लता काष्ठ (लकड़ी) अस्थि (हड्डी) एवं पाषाण के समान मृदु और कठोर हुआ करती है। तथा अघातियों में शुभ कर्मों की फलदान शक्ति गुड़, खांड़, शकर और सुधा (अमृत) के समान मिठास से भरी हुई कही जाती है एवं अशुभ कर्मो की शक्तियाँ व फल, नोम, काँजीर, विष और हलाहल के समान कड़वाहट से भरी हुई रहती हैं। यें सब कर्म और उनकी शक्तियाँ तथा सुख दुखादि रूप उनके फल एवं अध्यात्म स्थान (विकारी भाव) ये सब भी शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा के स्वरूप नहीं हैं।

५३

मन वचन काय रूप योगों की चंचलताएँ एवं प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश बंधों से संबंधित बंध स्थान तथा अष्ट कर्मो के उदय स्थान—जो तीव्र, मंद मध्यम फलदायी हैं—भी जीव नहीं है और न गति इन्द्रियादि रूप मार्गणाएँ भी—जिनमे जीवों की संयोगी अवस्थाओं को देखा जाता है।—जीव हैं।

५४

इसके सिवाय जीव से बंध को प्राप्त कर्मों की सत्ता एवं उनके बँधने के भावों की श्रेणियाँ तथा कषायों के उदय में, होने वाले तीव्र मंद संक्लेश भावों के स्थान और विशुद्धि स्थान व संयम के स्थान—जो चारित्र मोह के मन्दोदय में हुआ करते हैं—भी जीव नहीं हैं।

५५

पर्याप्त, अपर्याप्त आदि चौदह जीव समास तथा मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह गुण स्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये सब भेद पुद्गल कर्मों के उदयादि के निमित्त से होने वाली संयोगी दशाएँ या विकारी नैमित्तिक भाव हैं या उनकी श्रेणियां हैं। चूंकि शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि वस्तु की शुद्धाशुद्ध पर्यायों पर न रहकर—उन्हें गौण कर उसके शुद्ध स्वरूप पर रहती है अत: उसकी दृष्टि में शाश्वत एक अखंड शुद्ध आत्म द्रव्य रहता है। जैसे समुद्र को देखने वाला, चाहे वह तरंगित हो या स्तब्ध (शान्त) हो—उसकी दशाओं पर दृष्टि न डालकर केवल एक अखंड समुद्र को देखता है उसी प्रकार शुद्ध नय की शुद्ध दृष्टि में वस्तु के गुण और पर्यायें न आकर एक अखंड आत्म द्रव्य ही आता है। इस दृष्टि का जीव की कोई पर्याय या गुण विषय नहीं होता। इस कारण किसी पर्याय या गुण को जीव नहीं दरशाया है।

(५६)

किन्तु व्यवहार नय से वर्णादि जीव के हैं और निश्चय से नहीं है

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा णदु केई णिच्छयणयस्स ।।५६।।

५६/१

शंका समाधान

यदि ये जीव नहीं हैं, केवल पुद्गल के परिणाम अशेष—।
तो फिर किया जिनागम में क्यों जीवमान इनका व्यपदेश ?
सुनो भव्य ! एकांत नहीं है—चेतन भी पुद्गल के संग।
सविकारी बन फिरे भटकता—रहे बदला अपना रंग ।।

५६/२

रँगे हुए वस्त्रों में होता—नील पीत का ज्यों व्यवहार।
निश्चय शुल्क स्वभाव वस्त्र का नील पीत औपाधिक भार ।।
त्यों उल्लिखित गुणस्थानादिक संयोगज परिणाम अनेक।
जीव कहे व्यवहार दृष्टि से, निश्चय शुध्द चेतना एक ।।

भावार्थः— प्रश्न—यदि ये गुणस्थानादि जीव नहीं हैं तथा पर्याप्त-अपर्याप्तादि को भी जो जीव कहा जाता है—वह भी ठीक नहीं है तो फिर जिनागम में पर्याप्त अपर्याप्ति, त्रस, स्थावर आदि को तथा मिथ्या दृष्टि आदि को जीव कहकर उसका वर्णन क्यों किया गया है ?

समाधान—हे भव्य ! जैन दर्शन सर्वथा एकान्तवादी नहीं है। यह आत्मा पुद्‌गल कर्मों से बंधा हुआ है और उनके उदय में विकारी भी बनता है तथा नाना पर्यायों को धारण कर बहुरूपिया बना फिरता है तथा संयोगी पर्यायों व विकारी भावों की दृष्टि से देखने पर वह पर्याप्त-अपर्याप्त, त्रस-स्थावर, देव नारकी तथा मिथ्या दृष्टि आदि प्रतीत होता है। इसलिए पर्याय दृष्टि से उक्त कथन कथंचित् सत्य है। इसे निश्चय दृष्टि में अभूतार्थ कथन कहा जाता है। अपनी-अपनी दृष्टि में दोनों कथन यदि सापेक्ष हैं तो सत्य हैं।

जैसे रंगे हुए वस्त्र में 'यह नीला या पीला वस्त्र है' ऐसा व्यवहार होता है; किन्तु स्वाभाविक दृष्टि से देखने पर उसका स्वभाव वस्तुतः सफेद है। नील पीतादिक औपाधिक कथन हैं उसी प्रकार गुणस्थानादिक रूप भाव एवं नर नारकादि पर्यायें भी स्वाभाविक न होकर औपाधिक है, निश्चय से तो चेतनास्वरूप जीव एक अखण्ड वस्तु है। दोनों नयों की एक ही जीव के संबंध में पृथक्-पृथक् दृष्टियां हैं। जो अपनी-अपनी दृष्टि से कथंचित् सत्य है।

(५७)

निश्चय दृष्टि में वर्णादि जीव के क्यों नहीं हैं ?

एदे हि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
णय होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।।५७।।

वर्णादिक पुद्‌गल परिणामों—
का अनादि से चेतन संग—।
संयोगज संबंध मात्र है —
नहि तादात्म्य उभय सर्वांग ।।

नीर क्षीर वत् मिले हुए भी
लक्षण से दोनों हैं भिन्न ।
पुद्गल जड़ स्वभाव, पर चेतन–
उपयोगाधिक गुण सम्पन्न ॥

भावार्थः— चूंकि रूपादि गुणों का–जो कि पुद्गल के परिणाम हैं– आत्मा के साथ मात्र संयोग संबंध है–तादात्म्य संबंध नहीं है । यद्यपि पुद्गल कर्म और आत्मा दूध-पानी की भांति परस्पर मिले हुए हैं; किन्तु पुद्गल जड़ वर्णादि स्वभावी और आत्मा चेतन स्वभावी ज्ञान-दर्शनादि गुणों से परिपूर्ण है । अतः दोनों का संयोग होने पर भी जीव व पुद्गल पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं और उनके गुण भी पृथक्-पृथक् ही हैं ।

(५८)

दृष्टांत द्वारा उक्त कथन का समर्थन

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे को वि ॥५८॥

देशांतर प्रति किसी पथिक ने
अमुक मार्ग से किया प्रयाण–।
उसे लुटेरों ने मिल लूटा–
लोक कहें व्यवहार प्रमाण ॥
'अरे ! मार्ग यह महा लुटेरा–'
किंतु मार्ग आकाश प्रदेश–
कभी किसी को लूटेंगे क्या ?
यह केवल व्यवहार विशेष ।

भावार्थः– एक यात्री किसी मार्ग से विदेश जा रहा था । मार्ग में उसे लुटेरों ने लूट लिया । तब लोग कहने लगे कि यह मार्ग तो लुटेरा है । ऐसा कथन व्यवहार से होता है—अर्थात् मार्ग में लुटेरापन आरोपित करके किया जाता है; क्योंकि मार्ग तो आकाश प्रदेश रूप है वह किसी को वास्तव में नहीं लूटता ।

(५९)

दार्ष्टान्त

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिर्णोहिं ववहारदो उत्तो ।।५९।।

त्यों नोकर्म कर्म में होते –
वर्ण आदि गुण धर्म अनंत ।
जीवों को तद्बंध दशा में –
मूर्तिमंत कहते भगवंत ।।
यह व्यवहार कथन जिनवर का–
करवाता निश्चय का ज्ञान ।।
बद्ध जीव मूर्तिक शरीर से
होता है संज्ञात, सुजान ।।

भावार्थः— यद्यपि वर्णादिक गुण पुद्गल कर्म नोकर्म में ही पाए जाते हैं, किन्तु पुद्गल कर्मों से अनादि से आत्मा बंधा हुआ है एवं अरूपी आत्मा इस मूर्तिक शरीर के द्वारा ही जाना पहिचाना जाता है–कि यह जीव है । इस प्रकार जीव कर्म का संबंध होने और शरीर के द्वारा जीव का ज्ञान कराये जाने से व्यवहार या उपचार से जीव को भी वर्णादिमान कहा जाता है ।

(६०)

उक्त कथन का और भी समर्थन

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छहदण्हू ववदिसंति ।।६०।।

वर्ण समान गंध रस स्पर्श अरु
संहनन वा नाना संस्थान–।
बंध, उदय, अध्यात्म, मार्गणा,
योग, विशुध्दि, संक्लेशस्थान ।।

जीवस्थान गुण स्थानादिक
जो जीवों से हैं संश्लिष्ट—।
वे व्यवहार दृष्टि से निश्चय—
दर्शी द्वार हुए निर्दिष्ट ॥

विशेषार्थ:— निश्चय दर्शियों द्वारा रूप के समान स्पर्श रस गंधादि तथा संस्थान (आकृति) संहनन, बंध स्थान, उदय स्थान, अध्यात्म-मार्गणा योगस्थान, विशुद्धि व संक्लेशस्थान, एवं गुणस्थानादि सभी को व्यवहार नय से जीव के निरूपित किया गया है ।

(६१)

किंतु वर्णादि का संबंध केवल संसारी जीवों से ही है

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादिओ केई ॥६१॥

संसारी जन में वर्णादिक —
कहलाते पुद्गल के संग ।
किंतु मुक्त हो जाने पर नहिं
वर्ण आदि का रहे प्रसंग ॥
इनका है तादात्म्य देह से;
और जीव से है संयोग ।
संसृति से परिपूर्ण मुक्त में
इनका होता सहज वियोग ॥

भावार्थ:— संसारी जीवों के साथ मूर्तिक पुद्गल कर्मों का बंध होने से एवं मुक्त हो जाने पर वियोग हो जाने से स्पष्ट हो जाता है कि संसारी जीवों में ही वर्णादिक भाव होते हैं मुक्त दशा में नहीं । चूँकि वर्णादि गुणों का पुद्गल से तादात्म्य संबंध है और जीव के साथ संयोग संबंध है अतः मुक्त हो जाने पर उनका वियोग हो जाता है ।

(६२)

जीव का वर्णादि से तादात्म्य संबंध मानने में दोष

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

यदि वर्णादि पौद्‌गलिक जितने–
भी है गुण पर्याय अशेष–।
चेतन के ही मान चलें तो
पुद्‌गल पृथक् न रहता लेश ॥
यथा ज्ञान दर्शन चेतन से
रखते हैं तादात्म्य अतीव।
त्यों वर्णादिक गुण पुद्‌गल से–
अतः भिन्न द्वय पुद्‌गल जीव ॥

भावार्थः–– यदि पुद्‌गल के वर्णादि जितने भी गुणधर्म हैं उन्हें चेतन के मान लिए जावें तो फिर पुद्‌गल का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जावेगा। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि वर्णादि गुणों का पुद्‌गल के साथ ही तादात्म्य संबंध है जबकि चेतन का संबंध ज्ञानादि गुणों से है। अतः स्पष्टतः पुद्‌गल और चेतन (आत्मा) दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं।

(६३)

ससारी जीवों को वास्तव में रूपी मानना युक्त नहीं

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥

संसारी जन तुम्हें मान्य हों
यदि रूपादिमन्त सविशेष।
तो स्वभावतः ही संसारी–
मूर्तिमंत हों सिद्ध अशेष ॥

पुद्गल का लक्षण विशेषतः
माना गया रूप निर्भ्रान्त।
उक्त कथन से संसारी जन
पुद्गल होंगे सिध्द नितांत ।।

भावार्थः— यदि संसारी जीवों में वस्तुतः वर्णादि गुण माने जावें तो संसारी जन स्वभावतः मूर्तिक सिद्ध होंगे । किन्तु वर्णादि को पुद्गल का गुण ही स्वीकार किया गया है—जैसे कि वे हैं—अतः संसारी जीवों को वास्तव में रूपी नहीं माना जा सकता ।

(६४)

संसारी जीवों को रूपी मानने में दोष

एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेन मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ।।६४।।

यों संसारी जीवमात्र तुम
पुद्गल माना एक प्रकार।
उसे मुक्ति मिलने पर पुद्गल
को ही मुक्ति मिली साकार।।
यों पुद्गल ही सिद्ध हुए सब
जीव तत्व का हुआ विनाश।
यह संभव नहि, यतः स्वयं में
झलक रहा चैतन्य प्रकाश ।।

भावार्थः— पुद्गल के समान यदि संसारी जीवों को भी तूने रूपी माना तो हे मूढ़मते ! रूपी लक्षण पुद्गल का होने से जीव भी रूपी होने के कारण पुद्गल कहलाया । और जीव को मुक्ति मिलने पर इस प्रकार पुद्गल को ही मुक्ति प्राप्त हुई । इससे जीव तत्व का विनाश ही हो जाएगा—जबकि पुद्गल से भिन्न जीव में चेतना नामक गुण प्रत्यक्ष ही पाया जाता है ।

(६५)

जीव स्थान भी निश्चय से जीव नहीं है

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंचइंदियाजीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णाम – कम्मस्स ।।६५।।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइंद्रिय
चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय आदि ।
बादर सूक्ष्मादिक सब ही हैं–
नाम कर्म की प्रकृति अनादि ।।
पर्याप्ता - पर्याप्त सभी हैं
उसी कर्म के भेद, निदान ।
इन्हीं प्रकृतियों द्वारा होते–
समुत्पन्न सब जीवस्थान ।।

भावार्थ:— एकेन्द्रिय बादर, एकेन्द्रिय सूक्ष्म, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय और सैनी पंचेन्द्रिय इस प्रकार ये सातों भेद पर्याप्त और अपर्याप्त से भेद करने पर चौदह जीव समास हैं—जो नाम कर्म की प्रकृतियों के भेद होने से एक प्रकार देह की ही संज्ञाएँ (नाम) हैं। इन प्रकृतियों के उदय में जीव एकेन्द्रियादि शरीरों को धारण करता है।

(६६)

एदेहि य णिव्वत्ताजीवट्ठाणा उ करण भूदाहिं ।
पयडीहि पोग्गलमई हि ताहिं किह भण्णदे जीवो ।।६६।।

करणभूत ये कर्म प्रकृतियाँ
पुद्गलमय हैं जड़ परिणाम ।
इनमें कहाँ चेतना ? इनसे
भिन्न तत्व चैतन्य ललाम ।।
इनमें जब उपलब्ध नहीं है
कहीं जीव का सत्व अनूप– ।

फिर जड़ प्रकृतिमयी इन सबको—
मान्य करें कैसे चिद्रूप ?

भावार्थः— नाम कर्म की इन सभी प्रकृतियों में इनके जड़ होने से चेतन का अस्तित्व इनमें नहीं पाया जाता । तब फिर इन्हें जीव कैसे माना जा सकता है ?

(६७)

सूक्ष्मादि देहों को जीव संज्ञा व्यवहार से है

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे जीवा ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।६७।।

सूक्ष्म बादरादिक जीवों की—
सूत्र कथित संज्ञा निर्भ्रांत —।
देहों की ही है घृत घटवत्
अपर्याप्त - पर्याप्त नितांत ।।
लौकिक जन को जीव तत्व के—
अवगम हेतु किया व्यवहार ।
बिन व्यवहार शक्य नहि जग में—
धर्म तीर्थ परमार्थ प्रसार ।।

भावार्थः— यह जीव सूक्ष्म या स्थूल है; अथवा पर्याप्त या अपर्याप्त है ऐसी जो जीवों की संज्ञा है वह बस्तुत: देहों की है; किन्तु, इन देहों में जीव का वास है और इन,शरीरों के माध्यम से जीवों का ज्ञान लौकिक जनों को कराया जाता है इसलिए व्यवहार नय से सूक्ष्म या स्थूलादि जीव कह कर धर्म तीर्थ के प्रसार हेतु जिनेन्द्र देव के व्यवहार का आश्रय लिया है । इसके बिना जीव तत्व का ज्ञान कराना संभव नहीं है ।

(६८)

गुण स्थानों के विषय में भी वास्तविकता क्या है ?

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे गुणट्ठाणा ।
ते कहि हवंतिजीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ।।६८।।

मोह व्याधि से पीड़ित है यह—
दृष्टादृष्ट सकल संसार ।
इसके उदय-योग से होता
गुणस्थान कृत भेद प्रसार ।।
हैं कर्मोदय जन्य अचेतन—
गुणस्थान, नहि जीव स्वभाव ।
निश्चय नय की शुद्ध दृष्टि में—
जीव मात्र है ज्ञायक भाव ।।

भावार्थः— संसार के सभी प्राणी मोह रूपी महाव्याधि से पीड़ित है। मोह कर्म के उदय उपशमादि एवं योगों (मनवचन काय) की चंचलता से मिथ्यात्वादि चतुर्दश गुण स्थानों में जीवों को विभाजित किया जाता है। ये गुण स्थान जीव के शुद्ध स्वभाव कैसे हो सकते हैं जबकि अचेतन कर्मों के उदयादि के निमित्त से इनका निर्माण होता है। अतः इन्हें इस दृष्टि से अचेतन कहा गया है। किन्तु व्यवहार नय से (जीव के भावों की भेद दृष्टि से) इन्हें जीव कहकर व्यवहृत किया जाता है। जबकि शुद्ध दृष्टि की मुख्यता से जीव को केवल अखंड अभेद रूप ज्ञायक स्वभाव वाला कहा जाता है। इस प्रकार जीव और पुद्गल में भेद जानना चाहिए।

इति जीवाजीवाधिकार

अथ कर्त्ता-कर्माधिकार:

(६९)

जीव को आस्रव क्यों होताऽहै

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो ।।६९।।

चिर अज्ञान जनित भ्रमतम रत–
रह अनादि से सतत अशांत।
आस्रव एवं -आत्म तत्व में
अंतर पाता नहि चिद्भ्रांत ।।
निज अज्ञान दशा में भ्रमवश–
कर क्रोधाधि मलिन परिणाम।
तन्मय हो अभिनय करता है–
भूत ग्रस्त जनवत् अविराम ।।

भावार्थ:— मोहाँधकार में फँसा हुआ अज्ञानी जीव जब तक क्रोधादि भाव रूप आस्रव और आत्म तत्व में अन्तर को नहीं जानता तब तक भावास्रव को तन्मय होकर करता हुआ क्रोधी, मानी आदि बन कर स्वयं को भूला हुआ रहता है और भूतग्रस्त मनुष्य के समान अस्वाभाविक अभिनय करता रहता है।

(७०)

क्रोधादि भाव करने का परिणाम

कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचयो होदि।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ।।७०।।

जीवन में क्रोधादि विकृति कर
खुल जाता आस्रव का द्वार।
आस्रव संचित कर्म बद्ध हों–
तीव्र मंद परणति अनुसार ।।

जीव पुद्गलों में जिन भाषित—
है वैभाविक शक्ति विशेष।
जिससे उभय द्रव्य में होते—
वैभाविक परिणाम अशेष ॥

भावार्थः— जब यह आत्मा क्रोध मानादि रूप कषाय भावों को करता हुआ तन्मय हो जाता है—कषायों में निमग्न हो जाता है—तब नवीन कर्मों का आस्रव और तत्पूर्वक बंध भी तीव्र मंद भावानुसार हुआ करता है। यतः आत्मा और पुद्गलों में विभाव रूप परिणमन करने की वैभाविकी नामा शक्ति है अतः इन दोनों में बंध के कारणों के उपस्थित होने पर विभाव परणति के कारण कर्मों का बंध होता है।

(७१)

आस्रव एवं बंध कब नहीं होता ?

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

जीवन में छाया अनादि से
मोह महातम निबिड़ नितांत।
जिससे अपना और पराया
समझ न पाता चिर चिद्भ्रान्त ॥
जब क्रोधादि आस्रवों से हो—
भिन्न ज्ञान चैतन्य स्वरूप ॥
जीवन में तब बँध न होता
भेद ज्ञान परिणाम अनूप ॥

भावार्थः— जब इस जीव के जीवन में मोहांधकार विलीन हो जाता है तब इसे स्व-पर का भेद ज्ञान प्राप्त होता है और फिर उस भेद ज्ञान के द्वारा क्रोधादि विकार भावों से भिन्न आत्मा का शुद्ध वास्तविक स्वरूप जान लिया जाता है। फलस्वरूप क्रोधादि न करने से आत्मा में नवीन कर्मों का बंध नहीं होता।

(७२)

भेद विज्ञान से बंध निवृत्ति किस प्रकार से होती है ?

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं त्ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

आस्रव अशुचि स्वभाव जिन कथित—
ज्यों जल में सिवार त्यों म्लान।
जीव ज्ञान धन है—पर आस्रव
चिद्विकार पुद्गल संतान ॥
चिदानंद मय रूप हमारा—
आस्रव दुखद और पर रूप।
एवं जान रहस्य न करता—
ज्ञानी आस्रव भाव विरूप ॥

भावार्थः— श्री जिनेन्द्र ने आस्रव को अशुचि (अपवित्र) स्वभाव वाला माना है। जैसे जल में कारणान्तरों से उत्पन्न होने वाली काई उसकी स्वच्छता के लिए बाधक है—इसी प्रकार कर्मोदय के निमित्त से होने वाला क्रोधादिक चिद्विकार आत्मशुद्धि में बाधक है। जीव तो ज्ञान-मयी है और आस्रव चैतन्य का विकार है जो पुद्गल कर्मों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण पुद्गल की संतान भी कहा जाता है। फिर आत्मा चैतन्य स्वरूप है और आस्रव चैतन्य स्वभाव से विपरीत भाव को लिए हुए अचेतन दुखद व पर रूप है। ऐसा जानकर ज्ञानी विकारी आस्रवभावों का परित्याग करता है। इससे द्रव्यास्रव भी रुक जाता है।

(७३)

भेद ज्ञानी का आत्म स्वरूप चिन्तन व भावना

अहमेक्को खलु सुद्धो य णिम्ममओ णाणदंसण समग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७३॥

७३/१

मैं चिन्मात्र तत्व, निश्चयतः शुद्ध कर्म-कर्त्तादि विहीन।
क्रोधमान मायादि विकृति से निर्ममत्व शाश्वत स्वाधीन ॥

दर्शन ज्ञान समग्र स्वस्थ बन कर वर चिदानंद रसपान ।
आत्मलीन बन करूँ सभी क्रोधादि विकृतियों का अवसान ।।

भावार्थः— मैं एक शाश्वत चिन्मात्र शुद्धात्म तत्व हूँ, कर्मों का कर्त्ता नहीं हूँ—क्रोध मान मायादि विकारों के ममत्व से रहित हूँ, दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण चिदानन्द रस से सदा ही भरा हुआ हूँ कर्म कलंक से रहित निर्मल अखंड चैतन्य ज्योतिर्मय स्वतंत्र हूँ । ज्ञानी जीव निश्चय दृष्टि से ऐसे विचार और भावना रखता है ।

७३/२

शुद्धात्म चिन्तन व भावना का परिणाम

यो शुद्धात्म भावना रत हो—जीव स्व-पर तत्वार्थ पिछान ।
पर संकल्प विकल्प जाल से होकर मुक्त स्वस्थ अम्लान ।।
अंतरात्म बन करता पावन अनुपम चिदानंद रसपान ।
स्वतः उसी क्षण नूतन आस्रव बंधन का होता अवसान ।।

भावार्थः— इस प्रकार शुद्धातम भावनारत जीव स्व-पर तत्व के भेद विज्ञान के बल से पर द्रव्य व परभावों संबंधी समस्त संकल्पों और विकल्पों से मुक्त होकर चिदानन्द रसपान में निमग्न हो जाता है तब उसके कर्मों का आस्रव व बंध स्वयं नहीं होता । किन्तु जब तक पूर्ण लीनता नहीं होती—अल्पकालीन अंशात्मक होती है तब तक आँशिक आस्रव-बंध होता रहता है ।

(७४)

ज्ञानी आस्रव से क्यों निवृत्त होता है ?

जीव णिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा या ।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं ।।७४।।

७४/१

जीव बद्ध आस्रव का होता अपस्मार वत् दुष्परिणाम ।
आस्रव अध्रु्व, जीवध्रु्व, आस्रव-ज्वरवत् दुखमय, चित् सुखधाम ।।
जीव शरण, ये अशरण, इक क्षण उदय काल रुक सकें न दीन ।
आकुलता उत्पादक आस्रव, आत्म स्वभाव विकलता हीन ।।

भावार्थः—जीव से बंध को प्राप्त आस्रव का अपस्मार (मृगी रोग) के समान दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। 'यह आस्रव स्थायी न होकर अनित्य, अशरण और दु:ख रूप है और दुखदायक भी है जबकि आत्म-स्वरूप ध्रुव है शरणदायी, सुखमयी और सुखदायक है, ऐसा विचार कर ज्ञानी आस्रव से निवृत्त हो जाता है। जीवन में भावनाओं का बड़ा महत्व है—विकारी भाव और भावनाओं से जीव बँधता है और शुद्ध भावना से सुखी एवं दुखों से मुक्त होता है।

७४/२

नरकवास ज्यों दारुण दुखमय आस्रव का भीषण परिणाम।
सुख सत्ता सम्पन्न चेतना अनाद्यंत अनुपम अभिराम।।
आत्म तत्व यों अनुभव करता जब आस्रव से भिन्न नितांत।
तब ज्ञानी बंधन से होता सहज निवृत्त निराकुल शांत।।

भावार्थः— आस्रव का फल नरकवास के समान दारुण दुखमयी है जबकि आत्मा स्वभाव से ही आदि अंत बिन अनुपम आनन्द स्वरूप है। इस प्रकार आत्मा से विपरीत स्वभाव वाले आस्रव को अनुभव कर जीव तत्काल निराकुल होकर सुख का अनुभव करता हुआ शान्ति को प्राप्त होता है।

(७५)

ज्ञानी कौन ? (ज्ञानी की पहिचान)

कम्मस्सय परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एवमादा जो जाणदि सो हवे णाणी।।७५।।

द्रव्य कर्म में शक्ति रूप हैं
जो ज्ञानावरणादिक म्लान।
स्पर्श रूप रस गंध सूक्ष्म या—
बादरगत नोकर्म प्रधान।।
चेतन निश्चय से नहि इनका
कर्त्ता हैं, ये जड़ परिणाम।।

यो अनुभव कर्त्ता हि वस्तुतः
ज्ञानी कहलाता निष्काम ।।

भावार्थः— संसार में सुख-दुख एवं राग-द्वेष मोहादि विकार भाव जो भी आत्मा में हुआ करते हैं वे सब बंध को प्राप्त हुए कर्मों की निमित्त जन्य संतानें हैं। तथा रूप, रस, गंध, स्पर्शादि एवं सूक्ष्मता-स्थूलतादि नो-कर्म शरीर के गुण धर्म हैं। आत्मा निश्चय दृष्टि से इनका कर्त्ता नहीं है। ऐसा जानने और अनुभव करने वाला जीव ही ज्ञानी है।

(७६)

ज्ञानी पुद्गल कर्मों का ज्ञाता है – कर्त्ता नहीं

णविपरिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेय विहं ।।७६।।

ज्ञानी पुद्गल कर्म जानता—
भेद ज्ञान कर विविध प्रकार ।
किंतु नहीं तद्रूप परिणमन—
करता है वह किसी प्रकार ।।
पर को ग्रहण न करता है वह–
उसमें नहि होता उत्पन्न ।
अपना पर में हो सकता नहिं—
कर्त्ता - कर्म भाव निष्पन्न ।।

भावार्थः— ज्ञानी जीव भेद ज्ञान से यह जानता है कि ज्ञानावरणादि कर्म पौद्गलिक हैं। वह न तो कर्मरूप परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन रूप उत्पन्न ही तोता है। अतः पुद्गल कर्म रूप पर वस्तु में जीव का कर्त्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

(७७)

ज्ञानी कर्मोदय जन्य अपने परिणामों को भी
जानता है–उन रूप परिणमन नहीं करता

णवि परणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण पर दव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ।।७७।।

ज्ञानी कर्मोदय निमित्त से—
जो होते दुर्भाव अशेष—।
उन्हें जानता है नैमित्तिक—
नहि उन रूप परिणमें लेश ।।
आदि मध्य वा अंत कभी भी
नहि परिणमता वह पर रूप ।
तत्पर्याय ग्रहण नहिं करता
नहीं उपजता बन तद्रूप ।।

भावार्थः— ज्ञानी जीव कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में जो रागादि भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें नैमित्तिक भाव जानकर निमित्त भूत पुद्गल द्रव्य (कर्म) रूप परिणमन नहीं करता और न उन्हें ग्रहण करता तथा उत्पन्न भी नहीं होता।

(७८)

ज्ञानी कर्म फलों रूप भी परिणमन नहीं करता

णवि परणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण पर दव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो विहु पोग्गलकम्मप्फलं अणतं ।।७८।।

सुख दुखादि जो पुद्गल कर्मों—
के विपाक हैं विविध प्रकार—।
ज्ञानी जीव न उनका कर्त्ता—
सिद्ध कभी होता अविकार ।।
यतः न वह तन्मय होता है—
करता उन्हें ग्रहण नहिं लेश ।
और न हो उत्पन्न वही बन—
उदासीन रह कर सविशेष ।।

भावार्थः— सांसारिक सुख दुखादि जो पुद्गल कर्मों के फल हैं उनका ज्ञानी जीव कर्त्ता नहीं बनता; क्योंकि पुद्गल कर्मों के जो फल हैं

वे भी पुद्गल निमित्तक हैं ज्ञानी उनमें न तो तन्मय होता है न उन्हें ग्रहण करता और न फल बनकर उत्पन्न ही होता। वह उनमें उदासीन बना रह कर केवल जानता है कर्म फलों में हर्ष बिषाद नहीं करता।

(७९)

पुद्गल कर्म भी परभाव (जीवभाव) रूप परिणमन नहीं करता

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण पर दव्वपज्जाए।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सगेहि भावेहिं ॥७९॥

ज्यों न जीव पुद्गल कर्मों वा
विविध फलों का कर्त्ता है।
त्यों पुद्गल भी नहि निश्चय से
जीव भाव परिणमता है॥
उन्हें ग्रहण करता न कभी वह
साभिप्राय चैतन्य विहीन।
एवं जीव रूप धारण कर—
भी न उपज सकता जड़ दीन॥

भावार्थः— जिस प्रकार जीव पुद्गल कर्मों और उनके फलों का कर्त्ता नहीं है उसी प्रकार पुद्गल कर्म भी जीव के भावों का निश्चय नय से कर्त्ता नहीं है; क्योंकि पुद्गल के ज्ञानावरणादि कर्म न तो जीवों के भावों रूप परिणमन करते हैं, न उन्हें ग्रहण करते हैं और न भाव रूप धारण कर उत्पन्न ही होते हैं। द्रव्य जड़ कर्म जड़ ही बने रहते हैं।

(८०)

जीव और पुद्गल कर्मों में निमित्त नैमित्तिक संबंध है

जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥

जीवों के परिणाम निरन्तर—
होते जो कि शुभाशुभ रूप—।

पुद्गलाणु इनका निमित्त पा
कर्म रूप परिणमें विरूप ॥
वैसे ही उदयागत पुद्गल–
कर्मोदय निमित्त पा जीव–।
रागद्वेष भावों को धारण
कर बन रहता विकृत अतीव ॥

भावार्थः— जीवों में जो शुभ या अशुभ भाव होते हैं इनका निमित्त पाकर पुद्गल की कार्माण बर्गणाएँ कर्मरूप स्वयं परिणम जाती हैं। जीव उन्हें कर्म रूप नहीं परिणमाता। उसी प्रकार पूर्व बद्ध कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव भी राग-द्वेषादि भाव रूप स्वयं परिणमन करने लगता है। इस प्रकार जीव के भावों और पुद्गल कर्मों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है। कर्त्ता कर्म संबंध नहीं है।

(८१)

उक्त कथन का खुलासा

णवि कुव्वदिकम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीव गुणे।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८१॥

पुद्गल के गुण पर्यायों का
कर्त्ता रंच नहीं चैतन्य।
और न चेतन के गुण पर्यय
हैं पुद्गल कर्मों से जन्य ॥
किंतु परस्पर उभय द्रव्य में
है निमित्त नैमित्तिक भाव।
जिसका यह परिणाम दिख रहा–
द्रव्य भाव गत राग विभाव ॥८१॥

(८२)

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गल कम्म कदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥

स्वाभाविक ही चेतन अपने-
भाव स्वयं कर्त्ता निष्पन्न।
सकल पौद्गलिक कर्म-भाव वह
नहिं कदापि कर्त्ता उत्पन्न॥
शुद्ध भाव ज्ञानी करता है-
अज्ञानी रागादि विकार।
ज्ञानावरणादिक का कर्त्ता-
कहना है केवल उपचार॥८२॥

भावार्थः— अभिप्राय यह है कि जीव पुद्गल के गुणों और भावों (पर्यायों) का रंचमात्र भी कर्त्ता नहीं है और न पुद्गल कर्म जीव के गुणों या भावों के कर्त्ता या उत्पादक हैं। किन्तु इन दोनों में जैसा कि पूर्व में कहा गया है—परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव अवश्य है-जिससे एक दूसरे का विभाव रूप परिणमन होता रहता है।८१।

इस प्रकार दोनों द्रव्य अपने-अपने भावों के निश्चय नय से स्वयं कर्त्ता है। किन्तु ज्ञानी जीव अपने शुद्ध भावों का कर्त्ता होता है और अज्ञानी जीव अपने विकार भावों (रागद्वेषादि) का कर्त्ता है। अतः जीव को ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्त्ता कहना केवल निमित्त मात्र होने से कारणत्व का उपचार है।

(८३)

निश्चय नय से आत्मा अपना ही कर्त्ता भोक्ता है

णिच्चयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥८३॥

८३/१

निश्चय नय से चेतन केवल अपने ही करता परिणाम।
शुद्ध अशुद्ध मिश्र परणतियाँ जो कुछ भी होती अविराम॥
भोक्ता भी वह अपने भावों का ही रहता है तत्काल।
स्वयं स्वयं का कर्त्ता भोक्ता निश्चय से वह है त्रयकाल॥

भावार्थः—आत्मा निश्चय नय से अपने ही शुद्ध शुभ एवं अशुभ भावों का उपादान होने से स्वयं का कर्त्ता है और उन भावों का स्वयं भोक्ता है।

८३/२

उक्त कथन का दृष्टान्त

उदधि शांत हो या लहरावें उठने पर भीषण तूफान।
वह अपनी परणति अपने में ही करता स्वयमेव, न आन ॥
तीव्र, मंद, मध्यम गति परिणत बहने वाला वायु-प्रवीण !
रहता है निमित्त ही केवल सागर की परणति स्वाधीन ॥

भावार्थः— जैसे समुद्र तूफान से लहरा रहा हो—तरंगित हो या निस्तरंग (शान्त) हो—उसकी दोनों परणतियाँ स्वयं समुद्र की हैं। उस समय तीव्र मंद या मध्यम गति से बहने वाली वायु समुद्र की परणति में केवल निमित्त है। यह कथन उपादान कारण और निश्चय नय की दृष्टि की मुख्यता से जानना।

(८४)

व्यवहार नय से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता कहलाता है

ववहारस्स दु आदा पोग्गल कम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

यथा मृत्तिका से कुलाल –
मृद् पात्रों का करता निर्माण।
वह उनका कर्त्ता भोक्ता है–
यह कहता व्यवहार विधान ॥
त्यों सविकारी जीव कर्म का–
कर्त्ता नय व्यवहार प्रमाण।
सुख दुख कर्म फलों का भोक्ता–
भी कहलाता है, मतिमान् !

भावार्थ:— यद्यपि कुम्हार मिट्टी से ही मिट्टी के बर्तन बनाता है-फिर भी व्यवहार से मिट्टी के बर्तनों का कर्त्ता कहलाता है। उसी प्रकार जीव भी व्यवहार नय से कर्मों (ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों) का कर्त्ता और इनके फलों (सुख दुखादि) का भोक्ता कहा जाता है।

(८५)

निश्चय से जीव कर्मों का कर्त्ता क्यों नहीं ?

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरिया वादित्तं पसज्जदे सो जिणावमदं ॥८५॥

निश्चय से यदि जीव कर्म का—
कर्त्ता माना जाय नितांत—।
तो जड़-चेतन उभय क्रिया का
कारक जीव ठहरता, भ्रांत ॥
जिनमत से विरुद्ध वा बाधित—
भी है यह सिद्धांत प्रवीण !
जड़ में जड़—चेतन में चेतन—
क्रिया हुआ करती स्वाधीन ॥

भावार्थ:— यदि निश्चय से जीव को ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और उन्हीं का भोक्ता भी माना जावे तो जड़ व चेतन इन दोनों क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा को मानना पडेगा। यह मान्यता जिनेन्द्र भगवान् के मत से विरुद्ध है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य वास्तव में अपनी क्रिया का ही कर्त्ता और व भोक्ता कहा जा सकता है। किसी एक द्रव्य की क्रिया अन्य द्रव्य नहीं कर सकता।

(८६)

द्वि क्रियावादी मिथ्यादृष्टि है

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गल भावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति ॥८६॥

८६/१

निज में निज की पर में पर की सर्व क्रिया होती निष्पन्न।
कर्म कर्त्तृता चेतन में तुम करना चाह रहे सम्पन्न ॥
किंतु न जड़ की क्रिया कभी भी चेतन कर सकता निष्पन्न।
द्वि क्रियावाद इसी से मिथ्या हो जाता संसिद्ध-विपन्न ॥

भावार्थः— चूंकि जड़ की परणति जड़ में और चेतन की परणति (क्रिया) चेतन में होती हैं और द्विक्रियावादी आत्मा एवं जड़ कर्मों की परणति का कर्त्ता भी चेतन को मानता है। अतः द्विक्रियावादी मिथ्या दृष्टि हैं जबकि जड़ की क्रिया चेतन नहीं कर सकता। ऐसा जिनेन्द्र का उपदेश है।

८६/२

निश्चय नय से कर्त्ता कर्म और क्रिया का स्वरूप

जो परिणमन करै वह कर्त्ता-कर्म वही जो हो परिणाम।
परणति क्रिया कही जाती है वस्तु एक त्रय दृष्टि ललाम ॥
स्वतः प्रत्येक द्रव्य परिणामी-परिणमता कर निज परिणाम।
पुद्गल की परणति पुद्गल में, चेतन में उसका क्या काम ॥

भावार्थः— जो परिणमन (क्रिया) करता है वह कर्त्ता कहलाता है और जो उसका परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं। तथा उसकी परणति को क्रिया कहते हैं। परिणमनशील एक ही वस्तु में विभिन्न दृष्टियों से यह कर्त्ता, कर्म, क्रिया का भेद व्यवहार होता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने परिणमन स्वभाव से स्वयं ही परिणमन करती रहती है। अतः पुद्गल की परणति पुद्गल में और चेतन की चेतन में हुआ करती है।

८६/३

अज्ञानी जीव की भ्रामक कल्पना

भ्रमतम ग्रसित जीव अज्ञानी बन रहता सद् दृष्टि विहीन।
'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ पर का यों विचार कर बने मलीन ॥
इस अनादि भ्रम का हो जाये यदि परिहार एक ही बार।
तो निश्चित हो जाय हमारा भव सागर से बेड़ा पार ॥

भावार्थः—कर्त्ता, कर्म क्रिया के उक्त वास्तविक (निश्चय के) ज्ञान से शून्य अज्ञानी जीव ऐसा मानता रहता है कि मैं पर द्रव्यों का कर्त्ता एवं भोक्ता हूँ। इस जीव की यह भ्रमपूर्ण मिथ्या धारणा यदि एक बार भी दूर हो जाय तो स्वाश्रित वास्तविक अपने शुद्ध भावों का आश्रय लेकर आत्मा, अपनी शुद्ध परणति द्वारा संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जावे। तथास्तु ! तात्पर्य यह कि यह जीव अपनी संसार अवस्था का स्वयं कर्त्ता होने से स्वयं अपराधी है और स्वयं अपनी भ्रमपूर्ण परिणति सुधार कर स्वयं मुक्त हो सकता है। ईश्वरादि कोई पर व्यक्ति—इसका बंधक व मोचक नहीं है।

(८७)

मिथ्यात्वादि भाव दो प्रकार के हैं—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

८७/१

मिथ्यात्वादि भाव जीव के हैं या पुद्गल के

एक प्रश्न

मिथ्यात्वादि जीव के कहते—भगवन् तुम अनन्य परिणाम—।
फिर उन ही को पुद्गल के भी घोषित करते क्यों अविराम !
हमें समझ नहि आता यह सब कथन परस्पर नियम विरुद्ध।
उन्हें जीव या पुद्गल के ही निश्चित कहियेगा अविरुद्ध ॥

८७/२

समाधान

सुनो भव्य ! इसमें रहस्य है एक नहीं मिथ्यात्व मलीन।
अविरति योग कषाय-जीव वा जड़गत हैं द्वय भाव मलीन ॥
जीव और पुद्गल दोनों में होते य वैभाविक भाव।
मिथ्या श्रद्धा-भाव जीव का इतर पौद्गलिक कर्म विभाव ॥

भावार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! आपने मिथ्यात्वादि परिणामों को जीव के दरशाया है। फिर उन्हीं को पुद्गल के भी कहते हैं। आपका यह कथन

परस्पर विरुद्ध होने से हमारी समझ में ठीक से नहीं आ रहा है। या तो मिथ्यात्वादि को जीव के ही कहें या पुद्गल के।

उत्तर:—हे भव्य ! मिथ्यात्वादि भाव जीव के हैं और इन भावों के होने में मिथ्यात्वादि नाम की जड़ कर्मों की प्रकृतियों में जो शक्तियाँ हैं वे पुद्गल की हैं। यतः जीव के मिथ्यात्व भाव के होने में पुद्गल कर्मों की जड़ शक्तियाँ निमित्त होती हैं अतः उन्हें भी मिथ्यात्वादि नाम से कहा जाता है। पुद्गल कर्मों की प्रकृतियों को जो आत्मा के भावों को मिथ्यात्वादि रूप परिणमन करने में निमित्त होती हैं उन्हें द्रव्य कर्म और आत्मा के मिथ्यात्वादि भावों को भावकर्म कहते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्वादि द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं।

८७/३

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथन का स्पष्टीकरण

ज्यों मयूर का रूप झलकता जब दर्पण तल में अभिराम—।
तब मयूर रहता मयूर में, दर्पण में उसका क्या काम ?
दर्पण का प्रतिबिंब उसी की परणति है, न मयूर स्वरूप।
मिथ्या श्रद्धा भाव जीव का है मिथ्यात्व प्रकृति जड़रूप ।।

भावार्थ:—जैसे दर्पण में मयूर (मोर) के सामने आने पर उसका प्रतिबिम्ब झलकता है। तब मयूर तो मयूर ही रहता है; किन्तु उसका प्रतिबिंब ही दर्पण में पाया जाता है। दर्पण में मयूर के प्रतिबिंब का झलकना दर्पण की परणति है—न कि वह प्रतिबिंब मयूर है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप कर्म प्रकृति पुद्गल की है। और इसके उदय में होने वाले जो जीव के भाव हैं—जिन्हें मिथ्या श्रद्धा कहते हैं—जीव के परिणाम हैं। दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

(८८)

उक्त कथन का उपसंहार

पोग्गल कम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरति मिच्छं च जीवो दु ।।८८।।

जीव और जड़ उभयाश्रित हैं—
मिथ्यात्वादिक उभय विकार।

जीवाश्रित मिथ्यात्वभाव वा
अविरति योगाज्ञान विकार ।।
हैं मिथ्यात्व योग अविरति–
ज्ञानावरणादि पौद्गलिक नाम ।
यों पुद्गल अरु जीवाश्रित हैं–
मिथ्यात्वादिक द्वय सम नाम ।।

भावार्थः— कहने का अभिप्राय यह है कि जो मिथ्यात्व अविरति अज्ञान और योगमयी जीव के उपयोग की परणतियाँ हैं वे जीव हैं और जीव के इन भावों में निमित्त भूत पुद्गल कर्मों की जो शक्तियाँ हैं वे पुद्गल (अजीव रूप मिथ्यात्वादि नाम से कही गई) वे की परणतियाँ हैं। इस प्रकार नाम दोनों के मिथ्यात्वादिक समान हैं; किन्तु वें भिन्न-भिन्न दो द्रव्यों की भिन्न-भिन्न परणतियाँ हैं ।

(८९)

मोही जीव के तीन प्रकार के अनादि कालीन विकारी परिणाम

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो ।।८९।।

किस कारण चेतन में होते
मिथ्यात्वादि मलिन परिणाम ?
भव्य ! सुनो चेतन अनादि से
कर्म बद्ध ही है अविराम ।।
मोहयुक्त उपयोगमयी ये–
मिथ्या, अवरति अरु अज्ञान ।
चेतन की परणतियाँ होतीं
भूतग्रस्त जनवत् त्रय म्लान ।।

भावार्थः— हे भव्य ! संसार में आत्मा अनादिकाल से कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ है । जब आत्मा में मोहादिक कर्मों का उदय आता है

तब उसके निमित्त से आत्मा का उपयोग मलिन हो जाता है और उपयोग के मलिन होने से इसमें मिथ्यात्व कषायादि भावों, रूप परिणमन होने लगता है। जैसे भूत ग्रस्त जीव पागल के समान चेष्टाएँ करता है उसी प्रकार मोह जाल में फँसा हुआ जीव भी क्रोधमान रूप विकारी भाव व चेष्टाएँ करने लगता हैं।

(९०)

मोही जीव अपने विकारी उपयोग के द्वारा
तीन प्रकार के विकारों का कर्त्ता है।

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं जो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

निश्चय कथित शुद्ध उपयोगी—
निरावरण चैतन्य प्रवीण !
मिथ्या अविरति अज्ञानी बन
परिणत हो बन रहा मलीन ॥
जब जैसे उपयोग निरत बन
करता त्रिविध मलिन परिणाम।
उनका वह कर्त्ता बन जाता
पा निमित्त कर्मोदय वाम ॥

भावार्थः— निश्चय नय से जो जीव शुद्ध उपयोगी कर्म मल रहित ज्ञाता दृष्टा कहा गया है वही कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ मिथ्यात्व अविरति एवं अज्ञानमयी अपने उपयोग को करता हुआ मलिन बन रहा है। यह जब जिस उपयोग रूप (मिथ्यात्व अविरति या अज्ञान रूप) परिणामों को करता है तब उन अज्ञान रूप विकार भावों का कर्त्ता बन जाता है। तथापि इस विकार रूप जीव के परिणमन में पुद्गल कर्मोदय निमित्त अवश्य होता है।

(९१)

उक्त कथन का तात्पर्य

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९१॥

शुद्धाशुद्ध भाव कर चेतन—
परिणमता जैसा जिस बार।
उन भावों का कर्त्ता भी वह
निश्चित ही होता साकार ॥
जब अशुद्ध भावों कर परिणत
होता है चैतन्य मलीन।
स्वतः तदा पौद्गलिक वर्गणा
कर्म रूप परिणमें मलीन ॥

भावार्थः— आत्मा जब जैसे शुद्ध या अशुद्ध भावों रूप परिणमन करता है तब वह उन्हीं भावों का निश्चित ही कर्त्ता है। किन्तु इसके रागादि अशुद्ध भावों के करने पर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ (अशुद्ध भावों के निमित्त से) स्वयं ही कर्म रूप धारण कर लेती हैं। अतः कर्म वर्गणाओं का जीव कर्त्ता नहीं है।

(९२)

जीव कर्मों का कर्त्ता अज्ञानमयी भावों के होने से है

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९२॥

मोह भ्रमित अज्ञान ग्रसित बन—
प्राणी स्वयं विकाराक्रांत—।
पर को निज, निज को पर कल्पित—
मान भ्रमित हो रहा नितांत ॥

राग द्वेष मोहादि विकृतियाँ
कर्म निमित्तज हैं परिणाम।
अपना कर वह उन्हें कर्म का–
कर्त्ता बना हुआ अविराम ॥

भावार्थ:— मोह जनित अज्ञान भाव से यह जीव पर को (देहादि को) अपना और स्वयं को पराया मानता रहता है और इसीलिए राग-द्वेषादि पुद्गल कर्मोदयजन्य विकारों तथा शरीरादि को अपनाकर (अपना मानकर) कर्मों का कर्त्ता होता है। जैसे किसी उष्ण वस्तु के छूने पर जो उष्णता का ज्ञान होता है इससे ज्ञान को ही उष्ण मान लेने वाला अज्ञानी है उसी प्रकार कर्म के निमित्त से होने वाले राग-द्वेषादि या सुख दुखादि को—जो कर्मजन्य विकार हैं—उनको अपनामान लेने वाला भी अज्ञानी है। अत: अज्ञान से उन्हें अपनाकर वह कर्म का कर्त्ता बन जाता है।

(९३)

ज्ञानी कर्म का कर्त्ता नहीं होता

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

अनुभव का शुद्धात्म तत्व का
ज्ञानी बन विभ्रांति विहीन।
पर को अपना मान कभी वह
होता नहि मिथ्यात्व-मलीन ॥
निज को पर का भी न बनाता
वीतराग विज्ञान निधान।
ज्ञाता दृष्टा बन रहने से–
कर्म अकारक है संज्ञान ॥

भावार्थ:— पर द्रव्य या भाव को आत्मा का और आत्मा को पर का न मानने वाला भेद ज्ञानी—जो स्व को स्व और पर को पर अनुभव कर चुका है—अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव को प्राप्त हो जाने से रागादि

पुद्‌गल जन्य भावों को न अपनाने के कारण मात्र ज्ञाता दृष्टा बना रहता है। और ऐसा बन कर वह कर्म का कर्त्ता नहीं होता।

(९४)

किन्तु अज्ञानी अपने विकारी भाव का कर्त्ता है

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोहं।
कत्तातस्सुवओगस्स होदि सो अत्त – भावस्स ॥९४॥

भ्रमित जीव का होता जिस क्षण
त्रिविध विकृत उपयोग नितांत।
कलुषित भावमयी वह करता—
आत्म विकल्प तभी मतिभ्रांत॥
क्रोध मग्न क्रोधी बन जाता—
मान निरत मानी विभ्रांत।
यों उपयोग विकृत कर अपना
तत्कर्त्ता बन रहे नितांत॥

भावार्थः— अज्ञानी जीव का जिस क्षण मिथ्यात्व अज्ञान या अविरति रूप उपयोग होता है उसी क्षण वह अपने भावों को—जो कि कषायादि से अलुषित होते हैं—अपना लेता है। तब वह अपना उपयोग विकृत बनाकर व क्रोध को अपनाकर क्रोधी व मान को अपनाकर मानी आदि स्वयं को मान कर क्रोधादि भावों का कर्त्ता बना रहता है।

(९५)

अज्ञानी अन्य किस प्रकार कर्त्ता है ?

तिविहो एसुवओगो अप्प वियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्त भावस्स ॥९५॥

मिथ्या दर्शन ज्ञान चरण रत
त्रिविध भ्रांति वश जीव अयान।
धर्मादिक पर द्रव्य ज्ञान ज्ञेयों
को रहता अपना मान॥

जब उपयोग ज्ञेय में होता
तब रहता वह निज को भूल।
पर में रम तद्रूप ज्ञान का
कर्त्ता बन चलता प्रतिकूल ।।

भावार्थः— मिथ्यात्व अविरति और अज्ञानवश भ्रमित जीव अन्य धर्मादि द्रव्यों को भी—जो ज्ञान के विषय—ज्ञेय हैं—'जानता हुआ उन्हीं में रम जाता और उन्हें अपना मान स्वयं को भूल जाता है। इस प्रकार ज्ञान के ज्ञेय पर द्रव्यों को अपना मान कर और उन्हें ही अपना कर्म, मान उनका कर्त्ता बन जाता है।

(९६)

उक्त कथन का तात्पर्य

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अप्पाण भावेण ।।९६।।

भूत ग्रस्त जन वत् करता है—
मंद बुद्धि संकल्प विकल्प।
निज में पर—पर में निज की कर—
भ्रांत कल्पना अन्तर्जल्प ।।
कारण है अज्ञान भाव ही—
जिससे यह चिद्रूप अनूप—।।
पर में होकर मुग्ध स्वयं का—
भूला ज्ञानानंद स्वरूप ।।

भावार्थ—इस प्रकार जैसे भूत ग्रस्त जन स्वयं को भूल नाना प्रकार के विचार व संकल्प विकल्प कर कुचेष्टाएँ करता है उसी प्रकार मोहजन्य अज्ञान से भ्रमित हुआ यह मंदबुद्धि जीव पर में निज की और निज में पर की कल्पना कर नाना विकार भावों और चेष्टाओं को करता हुआ दुखी बना रह कर अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को भूला रहता है।

(९७)

उक्त ज्ञान से पर कर्त्तृत्व भाव का अभाव

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुञ्चदि सव्व कत्तित्तं ।।९७।।

९७/१

पर में आत्म विकल्प यही है भ्रम मूलक अतिशय अज्ञान ।
अज्ञानी अज्ञान भाव का यों निश्चित कर्त्ता भ्रमठान् ।।
'निज निज है–पर पर' एवं जब हो उत्पन्न भेद विज्ञान ।
तब निज पर संबंधित भ्रामक कर्त्तृ भाव का हो अवसान ।।

९७/२

शंका - समाधान

ज्ञान मात्र से मिट जाता क्या–चिर कर्त्तृत्व भाव भगवन् !
गुरू उवाच–हो प्रथम तत्व का ज्ञान और श्रद्धान गहन ।।
तब सराग समदृष्टि बन करे अशुभ कर्म कर्त्तृत्व विनाश ।
वीतराग समदृष्टि बन करे सकल शुभाशुभ कर्म विनाश ।।

भावार्थः—पर वस्तु में आत्म कल्पना ही भ्रमपूर्ण होने से वह ज्ञान अज्ञान कहलाता है । तथा उक्त कल्पना (मान्यता) वश जीव अज्ञान भाव का कर्त्ता है । किन्तु जब जीव को निज क्या है और पर क्या है—ऐसा भेद विज्ञान हो जाता है तब स्व पर संबंधी भ्रम के दूर हो जाने पर कर्त्तृत्व भाव भी समाप्त हो जाता है ।

शंका-समाधान

हे भगवन् ! क्या ज्ञानमात्र से पर कर्त्तृत्व भाव नष्ट हो जाता है ? हे भव्य ! प्रथम तत्वज्ञान पूर्वक श्रद्धान होता है और ,तब यह जीव सराग सम्यग्दृष्टि कहलाता है । तभी अशुभ कर्म के कर्त्तृत्व से बचता है। और जब वीतराग सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब शुभाशुभ सभी कर्मों के कर्त्तृत्व से छुटकारा' पाकर किसी भी कर्म का कर्त्ता नहीं होता ।, तात्पर्य यह कि भेद ज्ञान के द्वारा जीव जब सम्यग्दृष्टि बनता है तब वह मिथ्यात्व

अविरति और अज्ञान भावों को विकार जानकर इनसे विरत हो जाता है। विरत होकर जब त्याग भी कर देता है तब त्याग के बल से सकल कर्म कर्तृत्व से मुक्त हुआ नवीन बंध को प्राप्त नहीं होता। तभी वह ज्ञानानन्द स्वरूप में लीन 'समयासार' कहलाता है।

(९८)

व्यवहार नय से पर द्रव्य का कर्त्ता जीव को कहा जाता है

ववहारेण दु आदा करेदि घटपटरथादिदव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

कहलाता उपचार नयाश्रित
घट पट का कर्त्ता चैतन्य।
इन्द्रियादि करणों का या
नोकर्म-कर्म का जो परजन्य॥
इस प्रकार निज भिन्न द्रव्य का
कर्त्ता है व्यवहार प्रमाण॥
है उपचार मात्र यह केवल
निश्चय पर कर्तृत्व न जान॥

भावार्थः— व्यवहार नय से आत्मा को घट पट, रथादि का तथा इन्द्रियों का और कर्म (ज्ञानावरणादि) एवं नो कर्म (शरीरादि) का कर्त्ता कहा जाता है। जैसे मैंने घड़ा बनाया या कर्म किये। किन्तु निश्चय नय से आत्मा पर द्रव्य का कर्त्ता नहीं है।

(९९)

पर द्रव्य का कर्त्ता मानने में हानि

जदि सो पर दव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि चेतन पर द्रव्य भाव का
कर्त्ता माना जाय नितांत।

तब चेतन पर रूप परिणमन–
कर जड़ बन जाये, मतिभ्रांत ।।
यतः जीव पर रूप परिणमन–
कर न बने चैतन्य विहीन !
यों पर का कर्त्तृत्व सिद्ध है–
निरा बुद्धि भ्रम चिरकालीन ।।

भावार्थः— यदि आत्मा को निश्चय (वास्तविक) दृष्टि से पर द्रव्य का कर्त्ता माना जावेगा तो फिर चेतन को जड़ रूप परिणमन करने से उसमें जड़ता आ जाने का प्रसंग आवेगा–जबकि वह जड़ रूप परिणमन नहीं कर सकता। अतः आत्मा को पर द्रव्य का कर्त्ता मानना भ्रम ही है।

(१००)

जीव फिर किसका कर्त्ता है

जीवो ण करेदि घडं ण पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।१००।।

घट पटादि में ज्यों न जीव का
करता है कर्त्तृत्व प्रवेश।
कर्मों नोकर्मों का भी त्यों–
जीव नहीं कर्त्ता है लेश ।।
तो फिर चेतन किसका कर्त्ता ?
सुनो–योग उपयोग अभिन्न–।
आत्म शक्तियाँ है चेतन में
उन ही का कर्त्तृत्व अछिन्न ।।

भावार्थः— जैसे जीव में घटपटादि का कर्त्तापन सिद्ध नहीं है वैसे पुद्गल के ज्ञानावरणादि कर्मों और शरीरादि नो कर्मों का भी वह कर्त्ता नहीं है।

प्रश्न—फिर जीव किसका कर्त्ता है ?

उत्तर—आत्मा में जो योग और उपयोग रूप शक्तियाँ हैं उनकी परिणतियों का ही वह कर्त्ता है ।

(१०१)

ज्ञानी कौन है ?

जे पोग्गल दव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।१०१।।

ज्ञानावरणादिक प्रसिद्ध हैं –
कर्मागम में विविध प्रकार ।
वे परणतियाँ पुद्गल की हैं
नहिं चेतन वे किसी प्रकार ।।
स्व पर द्रव्य की स्व पर रूप ही
परिणति होती है स्वाधीन ।
निश्चय नय के इस रहस्य का
ज्ञाता ही ज्ञानी अमलीन ।।

भावार्थः— ज्ञानावरण दर्शनावरणादि रूप जो कर्म की परणतियाँ हैं उन्हें आत्मा नहीं करता—ऐसा जो जानता है वही ज्ञानी है—क्योंकि स्व द्रव्य की परिणति स्वरूप और पर द्रव्य की परिणति पर रूप ही निश्चय से हुआ करती है ।

(१०२)

ज्ञानी जीव अपने शुभाशुभ भावों का कर्त्ता है

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ।।१०२।।

संसारी जन भाव शुभाशुभ
जितने करता बन सविकार– ।
उनका वह निश्चित कर्त्ता है–
उपादान कारण अनुसार ।।

यतः शुभाशुभ रूप परिणमन--
स्वयं किया करता चैतन्य।
उन भावों का वेदन कर्त्ता
भोक्ता भी है वही, - न अन्य ।।

भावार्थः— संसारी अज्ञानी प्राणी सविकारी बन कर जो भी शुभ या अशुभ भाव करता है यह उनका (उपादान कारण होने से) निश्चित ही कर्त्ता है और उसके वे शुभाशुभ भाव कर्म हैं। चूंकि शुभाशुभ भाव रूप आत्मा ही परिणमन करता है—पुद्गल कर्म नहीं। तथापि पुद्गल कर्मोदय उस परिणमन में निमित्त अवश्य होता है। तथा शुभाशुभ भावों और कर्मफलों (सुख दुखादि) का वेदन भी वही करता है अतः उनका वह भोक्ता भी है।

तात्पर्य यह कि ज्ञानी जीव शुभाशुभ भाव न करने के कारण उन भावों का कर्त्ता नहीं होता और कर्मफलों का वेदन न करने से उनका भोक्ता भी नहीं होता—जबकि अज्ञानी उक्त कारणों से कर्त्ता व भोक्ता दोनों है।

(१०३)

एक द्रव्य दूसरे का कर्त्ता क्यों नहीं है ?

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।।१०३।।

जो होते हैं जिन द्रव्यों में
गुण एव पर्याय स्वकीय।
वे न अन्य में जा सकते हैं
और न आ सकते परकीय ।।
नहि संक्रमण गुणों में संभव
तब कर्मों को जो पर जन्य--।
किस प्रकार परिणमा सकेगा
नियम विरुद्ध बंधु! चैतन्य ?

भावार्थ:— जो जिस द्रव्य के गुण व पर्याय होते हैं वे न तो उससे भिन्न हो सकते और न अन्य द्रव्य में जा सकते, तथा न अन्य द्रव्य के गुण पर्याय इसमें आ सकते और न गुणों में ही परस्पर संक्रमण हो सकता है। तब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिणमन कैसे करा सकता है?

(१०४)

उक्त नियम से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता नहीं

दव्व गुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

यों जब जीव कर्म में गुण या
पर्यय नहिं करता उत्पन्न।
उन्हें न कर भी किस प्रकार वह–
तत्कर्त्ता होगा निष्पन्न?
जड़ कर्मों का कर्त्ता जड़ ही
चेतन का चेतन अविराम।
जड़ कर्मों का कर्त्ता कैसे–
हो सकता चेतन परिणाम?

भावार्थ:— इस प्रकार जबकि आत्मा पुद्गल कर्मों में अपने गुणों या पर्यायों का प्रवेश नहीं करता और न किसी प्रकार परिणमन या परिवर्तन कराता है तब वह पुद्गल कर्मों का कर्त्ता कैसे सिद्ध होगा? वस्तुतः पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं का कर्म रूप में परिणमन का होना पुद्गल की ही पर्याय है। आत्मा की नहीं। परमाणुओं के कर्म रूप परिणमन में जीव के विकार भाव निमित्त अवश्य हैं।

(१०५)

जगत में आत्मा को कर्म का कर्त्ता क्यों कहा जाता है?

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार मेत्तेण ॥१०५॥

जब कि जीव कर्मों का कर्त्ता
इस प्रकार होता प्रतिषिद्ध—।
'जीव कर्म कर्त्ता है' जग में—
फिर क्यों यह लोकोक्ति प्रसिद्ध ?
कर्म बंध में कारण होते—
जीवों के परिणाम मलीन।
यह लख कारण में कर्त्ता का
होता है उपचार प्रवीण !

भावार्थः—हे भगवन् ! आपके कथनानुसार जबकि जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है तब फिर संसार में सर्व जनों मे यह लोकोक्ति क्यों प्रसिद्ध है कि जीव ही कर्म कर्त्ता है ? इसमें रहस्य क्या है ?

हे भव्य ! यह जीव जब रागादि भाव रूप परिणमन करता है तब इसके विकारी भावों का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ स्वयं ही कर्म रूप परिणमन कर आत्मा के साथ बंध को प्राप्त हो जाती हैं। यह देख कर लोग कहते हैं कि जीव ने कर्म किया। यह व्यवहार में उपचरित कथन ही जानना चाहिए।

(१०६)

उक्त कथन का दृष्टान्त द्वारा समर्थन

जोधेवि कदे जुद्धे रायेण कदं त्ति जम्पदे लोगो।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

सुभट समर में रण करते हैं,
उन्हें विलोकन कर तत्काल—।
लोक कहें साश्चर्य कि नृप ने—
किया युद्ध कितना विकराल ?
पुद्गलाणु त्यों कर्म रूप धर
स्वयं परिणमें विविध प्रकार।

जीव भाव केवल निमित्त हों—
यों कर्त्तृत्व मात्र उपचार ॥

भावार्थः— जैसे रणभूमि में योद्धागण तो युद्ध करते हैं, किन्तु लोग आश्चर्यचकित हो कहते हैं कि राजा ने कितना भयंकर युद्ध किया। जैसे राजा उपचार से युद्ध का करता है, वास्तव में तो सैनिक ही युद्धकर्त्ता हैं। इसी प्रकार कर्म रूप परिणमन तो स्वयं परमाणु करते हैं; किन्तु आत्मा के भावों का इस परिणमन में निमित्त होने से आत्मा को उपचार से ही कर्म कर्ता जानना चाहिए।

(१०७)

उक्त कथन का समर्थन

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदापोग्गल दव्वं ववहार णयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

नय उपचार यही कहता है—
जीव कर्म करता उत्पन्न।
स्थिति बंधन का कर्त्ता या सुख—
दुख का भोक्ता वही विपन्न ॥
कर्म ग्रहण करता, परिणमता
कर्म विवश हो वह अविराम।
यह सब है उपचार कथन ही
लोक जहाँ पाता विश्राम ॥

भावार्थः— उपचार से यह कहा जाता है कि जीव कर्म का कर्ता है, भोक्ता है स्थिति बंध करता है। कर्मों को ग्रहण करता है, तदनुसार परिणमन करता है, आदि आदि।

(१०८)

उक्त कथन का दृष्टान्त द्वारा समर्थन

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

राजा जैसी प्रजा विश्रुत है—
अगती पर लोकोक्ति, निदान—।
प्रजा मात्र के गुण दोषों का—
नृप निमित्त है एक प्रधान।
अतः दोष गुण उत्पादकता—
का है ज्यों नृप में व्यवहार—।
त्यों जीवों में जड़ कर्मों प्रति
है कर्त्तृत्व मात्र उपचार ।।

भावार्थः— 'यथा राजा तथा प्रजा' संसार में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि प्रजा में गुणों या दोषों का होना राजा के गुण-दोषों पर प्रायः निर्भर है यदि राजा सच्चरित्र, न्यायकर्ता और धर्मात्मा है तो प्रजा भी उसका अनुकरण कर सच्चरित्र बनेगी और राजा के दुश्चरित्र होने पर प्रजा भी वैसी ही बनेगी। इस प्रकार प्रजा में—गुण दोषों की उत्पत्ति में राजा एक निमित्त मात्र है, उसी प्रकार जीव भी पुद्गल की कर्मरूप परिणति में निमित्त मात्र होने से कर्मों का कर्ता उपचार से कहा जाता है।

(१०९)

कर्म बंध के चार मूल कारण

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंध कत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ।।१०९।।

(११०)

तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ।।११०।।

जैनागम में मिथ्या – दर्शन
अविरति एवं योग कषाय।
यही चार बंधन के कारण
प्रतिपादन करते जिनराय ।।

भ्रम होता मिथ्यात्व उदय में—
हों कषाय वश राग द्वेष।
अविरति से इन्द्रियासक्ति—
त्रय योगों से चाञ्चल्य विशेष ॥१०९॥

(११०)

इनके भेद त्रयोदश, मिथ्या—
सासादन, सम्यक् मिथ्यात्व।
अविरति—समकित, देश विरत वा
विरत—प्रमत्त इतर विख्यात ॥
करण अपूर्व तथा अनिवृत्तिज
सूक्ष्म कषाय और उपशांत।
क्षीण कषाय सयोग केवली—
ये हैं गुणस्थान निर्भ्रांत ॥

भावार्थः— वास्तव में सामान्यतया आस्रव के चार प्रत्यय बंध के कारण कहे गए हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. कषाय, ४. योग। इनमें मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के उदय में जीव भ्रमित हो स्व पर भेद ज्ञान रहित होकर हिताहित को भूल जाता है। जैसे मदिरा पीकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है उसी प्रकार की दशा मिथ्यादृष्टि की हो जाती है। अविरति के उदय में इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति और पापों में प्रवृत्ति हुआ करती है। कषाय के उदय में क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं और योग के उदय में मन वचन काय में चञ्चलता होने लगती है।

इन्हीं चार भेदों के विशेष भेद तेरह गुणस्थान कहे गये हैं:— १. मिथ्यात्व, २. सासासन ३. मिश्र ४. अविरत ५. देशविरत ६. प्रमत्त संयत ७. अप्रमत्त संयत ८. अपूर्व करण ९. अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्म साम्पराय ११. उपशान्त मोह १२. क्षीण मोह १३. सयोगी जिन इन तेरह प्रकार के गुण स्थानों रूप जीव के भावों की परणतियाँ जीव में यथा योग्य आस्रव के कारण होने से बंध की कारण कही गयी हैं।

(१११)

ये प्रत्यय (मिथ्यात्वादि) ही बंध कर्ता है

एदे अचेदना खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंदि कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥

शुद्ध दृष्टि में गुणस्थान ये
यतः नहीं हैं जीव स्वभाव।
पुद्गल कर्मोदय से होते—
अतः अचेतन सकल विभाव ॥
कर्त्ता भोक्ता भी कर्मों का
इसी दृष्टि से नहि चैतन्य।
निश्चय कर्त्ता निज स्वभाव का
नहि विभाव का जो पर जन्य ॥

भावार्थः— यतः शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में गुणस्थान गत भाव जीव के विकारी भाव हैं : स्वभाव नहीं। ये पुद्गल कर्मोदय के निमित्त से निर्मित होते हैं अतः ये चेतन नहीं है इसीसे इन विकारी भावों को अचेतन या पुद्गल कहा जाता है। यदि इन पौद्गलिक भावों को कर्मों का कर्ता माना गया है तो इन भावों का आत्मा को भोक्ता भी नहीं माना जा सकता।

(११२)

शुद्ध निश्चय नय से गुण स्थान ही कर्मों के कर्ता हैं

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

११२/१

गुण स्थान संज्ञक प्रत्यय ही कर्मों के कर्त्ता निर्भ्रांत।
जीव यों न जड़ कर्मों का प्रिय ! कर्त्ता होता सिद्ध नितांत ॥
यह निश्चय नय से कथनी है, जो कि एक है दृष्टि विशेष।
नैमित्तिक भावों का कर्त्ता कहलाता निमित्त सविशेष ॥

भावार्थः— इस प्रकार गुण स्थान नाम के प्रत्यय ही कर्मों के कर्ता सिद्ध होते हैं। यह निश्चय नय की दृष्टि की प्रधानता से कथन है। जो पर द्रव्य या उसके भावों के निमित्त से होने वाले जीव के भावों को स्व के न मान कर पर के ही कथन करता है।

११२/२

पति-पत्नी संयोग निमित्तज—होती जो कोई संतान।
किसी दृष्टि से पति की या फिर पत्नी की ली जाती मान॥
यो मिथ्यात्वादिक संयोगज हैं जितने परिणाम अशेष—।
होते समुत्पन्न जीवों में पुद्गल कर्म जनित निःशेष॥

११२/३

देखें जब परमार्थ दृष्टि से—जीव रूप नहिं दिखें नितांत—।
और न पुद्गल रूप बंधु! वे शुद्ध दृष्टि में रहें नितांत॥
सूक्ष्म शुद्ध निश्चय कहता है—एक बात गंभीर महान्।
अज्ञानोद्भव कल्पित ही हैं राग द्वेष परिणतियाँ म्लान॥

भावार्थः— जैसे पति और पत्नी के संयोग से जो सन्तान होती है उसे एक दृष्टि से पिता की और दूसरी दृष्टि से माता की भी मानी और जानी जाती है। उसी प्रकार मिथ्यात्वादिक संयोगज भाव— जो कर्म के संयोग से उत्पन्न होते हैं उन्हें किसी दृष्टि से कर्म कृत और किसी दृष्टि से जीव कृत कहा जाता है।

वस्तुतः परमार्थ दृष्टि से देखने पर वे जीव के शुद्ध स्वभाव न होने से जीव के नहीं दिखते और न इस दृष्टि में वे पुद्गल के भी माने जा सकते। किन्तु सूक्ष्म निश्चय की दृष्टि में ये परिणाम अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और संयोगज हैं अतः इन्हें कथंचित् जीव के और कथंचित् पुद्गल के कहे जाते हैं। यह नयों की अपनी-अपनी दृष्टि की विशेषता है।

११२/४

इसका यह तात्पर्य कि जो जन मन में धारण कर एकांत—।
इन्हें जीव के ही कहता या कहता पुद्गल के वह भ्रांत॥

ज्यों संयोगज संतति में नहिं—पति पत्नी का ही एकांत।
त्यों रागादिक परिणतियाँ भी संयोगज ही हैं निर्भ्रांत।।

भावार्थः— उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वादिक भावों को एकांत से केवल जीव के मानना या केवल पुद्गल के मानने से भ्रम उत्पन्न होता है क्योंकि ये संयोगी भाव हैं—अशुद्ध उत्पादन की दृष्टि से जीव के और निमित्त प्रधान दृष्टि से कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण पुद्गल के कहे जाते हैं। यदि ये पुद्गलोपादान होते तो निश्चय से पुद्गल के होते, अतः विचार किया जावे तो निश्चय में उनका अस्तित्व न तो शुद्ध जीव में है और न पुद्गल में। संयोगज भाव होने से वे व्यवहार के विषय हैं। किन्तु अशुद्ध निश्चय नय से जीव के हैं; क्योंकि अशुद्धोपादान उनका अशुद्ध जीव है।

(११३)

मिथ्यात्वादिक प्रत्ययों और जीव को एक मानने में दोष

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ।।११३।।

भव्य ! जीव में ज्यों है दर्शन—
ज्ञान रूप उपयोग अनन्य—।
त्यों यदि जीव मयी ही होवें—
क्रोध मान रागादि अनन्य—।।
तो फिर जीव और पुद्गल में—
हुई एकता ही सम्पन्न।
यों अजीव एवं सजीव में
अनन्यत्व होगा निष्पन्न।

भावार्थः— हे भव्य ! जैसे ज्ञान दर्शन सुखादि जीव के अनन्य भाव हैं वैसे ही यदि क्रोधमान मायादि विकारों को भी जीव से अनन्य माना जावे तो जीव और पुद्गल में कोई भेद न रह कर दोनों में एकता सिद्ध होगी।

(११४)

उक्त मान्यता सदोष है

एवमिह जो दु जीवो सो चेवणियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चय णोकम्मकम्माणं ११४॥

इस प्रकार सब जीव नियम से
होंगे सिद्ध स्वयं निर्जीव।
जीव द्रव्य का नाश दूसरे–
शब्दों में हो जाय अतीव॥
यही दोष प्रत्यय शरीर वा
जीव एकता में गंभीर।
जब कि जीव नहिं कर्म बन सके–
और न प्रत्यय या कि शरीर॥

भावार्थः— ज्ञानादि गुणों के समान रागादि को भी जीव से अभिन्न मानने पर सभी जीव निर्जीव ही सिद्ध होंगे जिससे जीव द्रव्य का नाश ही हो जावेगा। यही दोष गुणस्थानरूप प्रत्यय या शरीर से जीव की एकता मानने पर आवेगा–जबकि जीव न तो कर्म या प्रत्यय है और न वह शरीर है।

(११५)

शुद्ध निश्चय नय से उक्त कथन का समर्थन

अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवादिचेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं॥११५॥

११५/१

जीव तत्व से क्रोध भिन्न हैं, यदि यह मान्य तुम्हें सिद्धांत।
यतः क्रोध जड़; किंतु जीव उपयोगमयी संसिद्ध नितांत॥
त्यों नोकर्म कर्म प्रत्यय भी जीव भिन्न होते हैं सिद्ध।
मिथ्यात्वादि विकारों से हैं भिन्न शुद्ध चैतन्य प्रसिद्ध॥

भावार्थ:—'जीव से क्रोध भिन्न है' यदि यह सिद्धान्त तुम्हें मान्य है; क्योंकि क्रोध जड़ और जीव चेतन है—उपयोगमयी है, तब जीव से क्रोध के समान कर्म, नोकर्म तथा मिथ्यात्वादि विकार भी शुद्ध नय से भिन्न ही जानना चाहिए।

११५/२

शुद्ध निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टियों में अन्तर

यों विशुद्ध नय से कर्मों का कर्त्ता जीव न होता सिद्ध।
किंतु वही व्यवहार दृष्टि से कर्त्ता भोक्ता नहीं असिध्द ॥
यतः जीव अज्ञान दशा में करता है परिणाम मलीन।
अतः जीव ही उनका कर्त्ता कहलाता व्यवहाराधीन ॥

भावार्थ:— उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि में जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं है; किन्तु व्यवहार नय से वह कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता भी है; क्योंकि अज्ञान दशा में कर्मोदय का निमित्त पाकर वह राग द्वेष करता है और फिर उनके फलस्वरूप सुख-दुखादि फलों को भोक्ता है। उक्त कथन दोनों नयों से सापेक्ष होकर विरोधी नहीं है।

११५/३

व्यवहार निरपेक्ष निश्चयैकान्त सॉंख्य सदाशिव मतानुयायियों का मत है-

वाम नेत्र से देवदत्त अवलोकन करता इसका अर्थ-।
यही कि दक्षिण से न विलोके, भिन्न अर्थ सब होंगे व्यर्थ ॥
यों सापेक्ष नयों को जो नहि मान्य करें मतिभ्रांत नितांत।
सांख्य सदाशिव मत अनुयायी बन जाते हैं वे निर्भ्रांत ॥

भावार्थ:— जैन दर्शन अनेकांतवादी है। इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को परस्पर सापेक्ष रहकर ही वस्तु तत्व का यथार्थ रूप में प्रतिपादक माना गया है। वह सांख्य सदाशिव मतानुयायियों के समान सर्वथा एकान्तवादी नहीं है। जैसे देवदत्त अपने वामनेत्र (बायीं आँख) से देखता है: इस कथन का यही अर्थ है कि वह दक्षिण नेत्र (दायीं आँख) से नहीं देख रहा। किन्तु वह दक्षिण नेत्र से नहीं देख सकता—इसका यह अर्थ नहीं है।

११५/४

सर्वथा एकान्त दृष्टि के अपनानें का परिणाम

यदि यह जीव सर्वथा ही नहिं होता कभी विकाराक्रांत ।
　　क्रोध मान मायादि कषायों से अलिप्त ही रहे नितांत ।।
तो फिर कर्म बंध नहि होगा इसे सिद्ध भगवान् समान ।
　　संसारी जन रहे न कोई संसृति का भी हो अवसान ।।

भावार्थः— यदि निश्चय नय के उक्त कथन को सर्वथा ही सत्य मान लिया जावे और यह कहा जावे कि जीव सर्वथा ही विकारी नहीं बनता और वह क्रोधादि विकारों से सदा ही अलिप्त रहता है, तब इस मान्यता के कारण जीव को कर्मों का बंध भी नहीं होना चाहिए तथा सभी जीवों को सिद्ध भगवान् के समान ही निरंजन निर्विकार शुद्ध ही दिखाई देना चाहिए । जो प्रत्यक्ष से ही असिद्ध है ।

इसके सिवाय मोक्ष मार्ग का उपदेश भी फिर किसके लिए है ? यह प्रश्न भी उपस्थित हो जायगा—यदि संसारी जीव सर्वथा शुद्ध है ।

११५/५

निरपेक्ष निश्चयैकान्त प्रमाण बाधित है

यह प्रमाण से बाधित है सब जबकि प्रत्यक्ष दुखी संसार ।
　　और जीव से भिन्न न होते क्रोधादिक चैतन्य विकार ।।
एक नयाश्रित कथन सर्वथा है न कदाग्रह योग्य निदान ।
　　जिस नय से जो कथन किया वह आपेक्षिक ही सत्य सुजान ।।

भावार्थः— एकान्त दृष्टि से जीव को संसार में सर्वथा शुद्ध और क्रोधादि विकारों से रहित मान लेना प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध ही है; जबकि कर्म बंधनबद्ध संसारी प्राणी स्पष्ट ही दुखी और क्रोधी मानी आदि दिखाई दे रहे हैं और उनके क्रोधादि भाव जीव में ही उत्पन्न होते अनुभव में भी आ रहे हैं । अतः किसी भी नय का कथन आग्रह करने योग्य न होकर जिस दृष्टि से जो कथन किया गया है उस दृष्टि से वह आपेक्षिक ही सत्य है । क्योंकि वह एक दृष्टि से किया गया है—सभी दृष्टियों से नहीं । अतः सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना ही श्रेयस्कर है जबकि वस्तु का स्वरूप भी अनेकान्तात्मक है ।

(११६)

पुद्गल को स्वयं परिणमनशील न मानने में दोष

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जदि पोग्गल दव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ।।११६।।

जीव तथा पुद्गल में होती—
वैभाविक इक शक्ति विशेष ।
जिससे उभय द्रव्य में होता
विकृत परिणमन स्वतः अशेष ।।
यदि पुद्गल नहि बँधे स्वयं ही
या न परिणमें कर्म स्वरूप ।
पुद्गल का फिर हो जायेगा—
अपरिणामि कूटस्थ स्वरूप ।।

भावार्थः— कथित मान्यतानुसार जीव की भाँति यदि पुद्गल भी स्वयं ही बंध को प्राप्त न हो और न कर्मरूप में उसका परिणमन हो तो पुद्गल भी कूटस्थ रूप में अपरिणामी ठहरेगा, जबकि उसका भी विभाव रूप में परिणमन प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। वस्तुतः जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों में वैभाविकी नामा शक्ति है जिससे दोनों द्रव्यों में विकार रूप परिणमन होता है—जीव में रागादि, रूप और पुद्गल में कर्म परिणति रूप ।

(११७)

पुद्गल कर्म वर्गणाओं का कर्म रूप परिणमन न मानने में दोष

कम्मइयवग्गणासु अपरिणमंतीसु कम्म भावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।।११७।।

यदि स्वयमेव पौद्गलिक अणु भी
कर्म रूप धर बँधे न म्लान।
तब संसृति का ही समग्रतः
हो जाये निश्चित अवसान ।।

क्योंकि कर्म के बंध बिना
संसार दशा होती नहिं सिध्द ।
या फिर सांख्यमती बनने का
आ जायेगा दोष प्रसिध्द ।।

भावार्थः— यदि पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं को अपरिणामी मान कर उनके कर्मरूप होने का निषेध किया जावेगा तो जीव के संसार परिभ्रमण करने का अंत हो जायगा; क्योंकि बिना कर्म बंधन के जीव की संसार दशा हो नहीं सकती । या फिर साँख्य मती बनने का प्रसंग आवेगा जो जीव की सर्वथा अपरिणामी कूटस्थ नित्यता का पक्षधर है तथा आत्मा को सदा अविकारी ही मानता है ।

(११८)

एक अन्य मान्यता में दोष

जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयं परिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा ।।११८।।

यदि यह माना जाय कि पुद्गल—
द्रव्यों को वसु कर्म स्वरूप—।
जीव परिणमाता है स्व शक्ति से,
तब यह बने प्रश्न का रूप ।
स्वयं परिणमनशील द्रव्य को—
या नितांत परिणाम विहीन ?
अपरिणामि यदि स्वयं-अन्य फिर—
कर सकता क्या तत्र नवीन ?

भावार्थः— यदि यह मान लिया जावे कि पुद्गल की कर्म वर्गणाओं को ज्ञानावरणादि आठ प्रकृतियों के रूप में जीव अपनी शक्ति के द्वारा परिणमा लेता है ।—तो ऐसी दशा में प्रश्न के दो रूप हो सकते हैं । प्रथम यह कि जीव परिणमनशील वर्गणाओं को ज्ञानावरणादि रूप परिणमाता है या अपरिणमनशील को ? यदि स्वयं अपरिणमनशील वर्गणाओं को मानोगे—तो जीव उनमें परिणमन कैसे करा सकेगा ?

(११९)

अह सयमेव हि परिणमदि कम्म भावेण पोग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदिमिच्छा ॥११९॥

यदि मत हो कि पौद्गलिक सब ही
कर्म वर्णणाएँ वसु रूप—।
स्वयं परिणमें कर्ममयी बन
है निमित्त चिद्भाव विरूप ॥
तब फिर यह तव कथन कि—
चेतन उन्हें परिणमाता है म्लान ।
मिथ्या स्वयं सिद्ध हो जाता—
कथन पुरस्सर तव मतिमान ॥

भावार्थः— यदि परिणमनशील कर्म वर्गणाओं को जीव कर्म रूप परिणामता है तो वर्गणाएँ जब स्वयं परिणमनशील हैं तब जीव के विकारी भावों का निमित्तमात्र पाकर वे स्वयं ही परिणम जावेंगी। जीव ने उन्हें कर्म रूप परिणमाया—यह कथन स्वयं ही मिथ्या हो जावेगा।

(१२०)

निष्कर्ष

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

यों होता है सिध्द कि पुद्गल
कर्म वर्गणा स्वतः स्वभाव—।
कर्म रूप परिणमें; किंतु हो—
तन्निमित्त रागादि विभाव ॥
जीवो के परिणामों का वे—
पा निमित्त बन कर्म विशाल ।
जीव प्रदेशों में बँधते—
बन ज्ञानावरणादिक तत्काल ॥

भावार्थः— इससे यह निष्कर्ष निकला कि पुद्गल कर्म वर्गणाएँ अपनी योग्यता के कारण कर्म रूप स्वयं परिणमती है, और जीव के रागादि भाव उसमें निमित्त होते हैं जिससे वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि रूप-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध को प्राप्त हो जाती हैं। यह कथन उपादान कारण की अपेक्षा जानना चाहिए।

(१२१)

जीव को सर्वथा अपरिणामी मानने में दोष

ण सयं बद्धो कम्मेण सयं परिणमदि कोहमावोहिं।
जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ।।१२१।।

'पुद्गलवत् यदि जीव स्वयं नहिं—
बंधन करता रह स्वाधीन।
और न क्रोधादिक विकार मय—
परिणम कर बन रहे मलीन ।।'
यह सिध्दाँत भ्रमात्मक है, तब—
इसका होगा यह परिणाम।
कहलायेंगे सदा सर्वथा —
अपरिणामि ही चेतन राम ।।

भावार्थः— यदि यह माना जावे कि जीव स्वयं कर्मों से नहीं बँधता और न स्वयं क्रोधादि विकारों को करता तो इस मान्यता में जीव सर्वथा अपरिणामी मानना पड़ेगा—जो कि भ्रमपूर्ण है।

(१२२)

उक्त कथन का समर्थन

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।।१२२।।

स्वयं परिणमित जीव करे नहिं—
यदि क्रोधादि भाव विद्रूप।

कर्म बंध होगा न जीव को–
फिर इसके परिणाम स्वरूप ।।
संसृति के अभाव का आता–
तब प्रसंग, जो दृष्ट विरुध्द ।
अथवा सांख्य मती बनने का
भी प्रसंग है इष्ट विरुध्द ।।

भावार्थः—जीव को स्वयं अपरिणामी मानकर यदि क्रोधादि विकारों का कर्त्ता नहीं माना जावेगा, तब इसका यह परिणाम होगा कि जीव में कर्म बंध भी नहीं होगा और संसार का अभाव भी हो जायगा—जो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है । या इसीके फलस्वरूप सांख्यमती बन जाने का प्रसंग भी आ जावेगा । जो इष्ट नहीं है और प्रमाण बाधित भी है ।

(१२३)

जीव में पुद्गल कर्म कृत परिणमन मानने में दोष

पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं किह परिणामयदि कोहत्तं ? ।।१२३।।

यदि चेतन में क्रोधादिक का
उत्पादक है पुद्गल कर्म-
स्वयं अपरिणामी को कैसे–
परिवर्तित करता जड़ कर्म ?
किसी द्रव्य के निज स्वभाव को
पलट नहीं सकता है अन्य ।
जड़ कर्मों के तीव्र उदय में–
जड़ नहिं बना कभी चैतन्य ।।

भावार्थः— यदि आत्मा में क्रोधादि भावों को पुद्गल कर्म उत्पन्न करता है—तो जीव को स्वभावतः अपरिणामी मान लेने पर जड़ कर्मों द्वारा क्रोधादि की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ? क्योंकि किसी द्रव्य के स्वकीय स्वभाव

को अन्य द्रव्य परिवर्तित करने में समर्थ नहीं हो सकता। जब कर्मों का तीव्र उदय भी होता है तब भी चेतन में जड़ता नहीं आती।

(१२४)

अह सयमप्पा परिणमदि कोह भावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।

यदि यह मान्य तुम्हें कि क्रोधमय—
स्वयं परिणमन करता जीव।
क्योंकि परिणमन उपादान की—
दृष्टि द्रव्य में स्वतः अतीव।।
तब मिथ्या स्वयमेव सिद्ध—
हो जाता तब प्यारा सिद्धांत—।
द्रव्य क्रोध परमाणु जीव को
क्रोधमयी करते, विभ्रांत !

भावार्थः— यदि तुम्हारी यह मान्यता हो कि जीव उपादान की दृष्टि से स्वयं ही क्रोधादि रूप परिणमन करता है, तब ऐसा मान लेने पर तुम्हारी यह बात स्वयं मिथ्या हो जाती है कि द्रव्य क्रोध के परमाणु जीव को क्रोधी बनाते हैं।

(१२५)

निष्कर्ष

कोहव जुत्तो कोहो माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।१२५।।

अभिप्राय यह है कि चेतना—
परिणामी है स्वतः स्वभाव।
क्रोधमयी उपयोग करे तब
क्रोधी बनता चेतन राव।।

मान युक्त हो मानी बनता—
मायावी माया कर म्लान।
लोभी लुब्ध वृत्ति धारण कर
उपादान की दृष्टि प्रमाण ।।

भावार्थः—उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी वैभाविकी शक्ति के कारण स्वयं ही परिणमनशील होने से जब अपना उपयोग क्रोधमयी करता है तब वह क्रोधी और मानकर मानी, मायाकर मायावी और लोभ वृत्ति कर लोभी आदि बनता है। पुद्गल कर्म राग द्वेषी नहीं बनाता।

(१२६)

आत्मा अपने भावों का स्वयं कर्त्ता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णाणस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ।।१२६।।

इससे सिद्ध हुआ निश्चय से
निज भावों को कर निष्पन्न।
जीव उन्हीं का कर्त्ता होता
जो उससे होते नहिं भिन्न ।।
ज्ञानी का परिणमन ज्ञानमय,—
अज्ञानी का ज्ञान विहीन।
जीवों की परिणतियों द्वय विधि
होती स्वयं सतत स्वाधीन ।।

भावार्थः— उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव का वही कर्त्ता है। विशेष बात यह है कि ज्ञानी जीव के भाव ज्ञानमय होने से उसका परिणमन शुद्ध कहलाता है और अज्ञानी अपने मलिन भावों के द्वारा मलिन बनता है अतः उसका परिणमन अशुद्ध कहलाता है। क्योंकि उसमें होने वाले भाव उससे भिन्न न होकर अभिन्न होते हैं।

(१२७)

ज्ञानी और अज्ञानी के भावों का परिणाम

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ।।१२६।।

अज्ञानी जन स्व पर ज्ञान से
शून्य रहा करता मतिभ्रांत ।
पर में सुख दुख मान सदा ही–
बनता स्वयं विकाराक्रांत ।।
फल स्वरूप खुल जाते हैं तब–
इसे कर्म बंधन के द्वार ।
ज्ञानी बन जाने पर होता
जीवन बंध मुक्त अविकार ।।

भावार्थ— स्व और पर के भेद ज्ञान से शून्य होने के कारण अज्ञानी मोही जीव पर वस्तु में सुख दुख की कल्पना कर स्वयं ही विकारी बनता है और विकारी बन जाने पर इसे स्वयं ही कर्म बंध होने लगता है । जबकि ज्ञानी जीव स्व पर भेद जानने के कारण पर वस्तु में सुख दुख न मान रागी द्वेषी नहीं बनता । अतः कर्म बंधन को प्राप्त नहीं होता ।

(१२८–१२९)

एक अकाट्य तर्क पूर्ण नियम

णाणमया भावादो णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वेभावा हु णाणमओ ।।१२८।।
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ।।१२९।।

ज्ञानमयी भावों से होती
ज्ञानमयी भावों की सृष्टि ।

कारण के अनुसार कार्य हों–
निश्चित उपादान की दृष्टि ।।
एवं अज्ञानी जन में भी–
हों जितने जैसे परिणाम–
वे विवेक से शून्य विकृत हों
राग द्वेष रंजित अविराम ।।

भावार्थः— जैसा उपादान कारण होता है उसी के अनुसार कार्य हुआ करते हैं। इस नियम के अनुसार ज्ञानी ज्ञानमय भावों से ज्ञानमय भाव और अज्ञानी जीव अज्ञानमयी भावों से अज्ञानमयी राग द्वेषादि भाव करता है।

(१३०–१३१)

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथन का स्पष्टीकरण

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी ।।१३०।।
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा विजायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति १३१।।

भावार्थः— जैसे स्वर्ण से ही स्वर्णमयी कुंडल का निर्माण होता है और लोह धातु से लोहमयी चूड़ी आदि बनती है वैसे ही ज्ञानी जीव के ज्ञानमयी भाव और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव हुआ करते हैं।

(१३२–१३३–१३४)

अज्ञानी में कर्म बंध के चार कारण और उनके फल

अण्णाणस्स दु उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ।।१३२।।
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ।।१३३।।
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठ उच्छाहो ।।
सोहणमसोहणं वा कादव्वो विरदि भावो वा ।।१३४।।

१३२

जिसके उदय जीव को होती—
तत्वों की उपलब्धि सदोष।
वह दूषित अज्ञान भाव है—
इसके भेद चार निर्दोष ॥
प्रथम भेद मिथ्यात्व विश्रुत है—
हो जिससे मिथ्या श्रद्धान।
जीवाजीवादिक तत्वों में
तथा कथित विभ्रांति महान ॥

१३३

उदय असंयम का हो—तब हों
अविरति रूप मलिन परिणाम।
जिसके उदय पाप तज चेतन
व्रत धारण नहिं करे अकाम ॥
जब कषाय का उदय प्राप्त हो—
तब कलुषित हों भाव अशेष।
राग द्वेष में सना हुआ है—
जिससे जन जीवन निःशेष ॥

१३४

योग उदय चेष्टाएँ होती—
मन वच-काय जनित अविराम।
इष्टानिष्ट कार्य में तब जन
हों सचेष्ट निश्चेष्ट सकाम ॥
यों मिथ्यात्व-कषाय-असंयम—
योग विवश हो जीव-प्रवीण !

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण से
वंचित रहता सतत मलीन ॥

भावार्थ— जिसके उदय से जीव को ज्ञान नहीं होता उसे अज्ञान भाव कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—उनमें प्रथम मिथ्यात्व है—जिसके उदय से तत्वों की यथार्थ श्रद्धा नहीं होने पाती और जीव नाना भ्रान्तियों में फँसा रहता है। दूसरे असंयम का उदय होने पर अविरति रूप भाव होते हैं जिसके फवस्वरूप जीव पापों का त्याग कर व्रत धारण नहीं कर पाता। तीसरे कषाय का उदय होने पर क्रोधादि कलुषित भाव होते और चौथे योग के उदय में जीव इष्टानिष्ट वस्तुओं के ग्रहण और त्याग करने की चेष्टाओं को करता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव इन भावों को करता हुआ हुआ मिथ्या दर्शन ज्ञान चरित्र के वश हुआ संसार परिभ्रमण कर दुखी बना रहता है।

(१३५)

जीव के उक्त चार भावों से द्रव्य कर्मों का संबंध

एदेसु हेदुभूतेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादि भावेहिं ॥१३५॥

इन दुर्भावों के निमित्त से
कर्म वर्गणाएँ तत्काल—।
ज्ञानावरणादिक वसु विधि कर
कर्म रूप धर रहें विशाल ॥
यथा उदर में भुक्त असन का
रस रुधिरादि रूप परिणाम।
सप्त धातुमय हो त्यों संचित—
कर्म परिणमें स्वयं स्वनाम ॥

भावार्थ:— जीव के मिथ्यात्वादि अज्ञान भावों के निमित्त से पुद्गल की कर्म वर्गणाएँ तत्काल अष्ट कर्म रूप धारण कर आत्मा के साथ बंध को प्राप्त हो जाती हैं। जैसे मनुष्य द्वारा किया हुआ आहार उदर में जाकर

स्वयं ही सप्त धातु रूप परिणत हो जाता है। उसी प्रकार कर्म वर्गणाएँ स्वयं कर्म रूप परिणत हो जाती हैं।

(१३६)

इन अज्ञान रूप भावों का जीव ही हेतु है

तं खलु जीव निबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणाम – भावाणं ॥१३६॥

१३६/१

कर्म रूप धर कर जब पुद्गल बँधता है चेतन के संग।
तब चेतन के भाव स्वयं की परिणति में हों हेतु न अन्य ॥
अश्रद्धान अज्ञान असंयम रूप विविध होते परिणाम।
कर्त्ता बन रहता तन्मय हो अभिनय कर जिय आठोयाम ॥

१३६/२

बंध कब होता और कब नहीं होता

सुख दुख कर्म फलास्वादन कर उदय काल में जब अविराम।
जीव विकारी बन जाता है राग द्वेष कर नव परिणाम– ॥
तब बँधता है; किंतु मान ले यदि सुख दुख वह एक समान।
तब सम भावाश्रित संवर हो आस्रव का होता अवसान ॥

१३६/३

द्रव्य कर्म के उदय मात्र से होता नहीं जीव को बँध।
उपसर्गों में भी सम भावी बन रहता निश्चित निर्बंध ॥
राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर बन समाधि में लीन प्रवीण।
कर्म शक्तियाँ इक क्षण में ही क्षीण बना होता स्वाधीन ॥

१३६/४

विधि के उदय जन्य सुख दुखमें यदि रति अरति क्रिया अनिवार्य-।
मान चलें तो बुद्धि पुरस्सर तपध्यानादि न हों सत्कार्य ॥

यतः निरंतर ही रहता है जीवों में कर्मोदय वाम।
अतः बंध अनिवार्य सिसिद्ध हो मुक्ति न हो संभव निष्काम ।।

भावार्थः—जब कर्म वर्गणाएँ जीव के विकृत भावों का निमित्त पाकर कर्मरूप धारण करती हैं उस समय चेतन अपने विकृत भावों का स्वयं ही कर्त्ता होता है और कर्म रूप परिणत वे वर्गणाएँ जब उदय में आती हैं तब जीव अश्रद्धान अज्ञान और असंयमरूप भावों को स्वयं करने लगता है। इस प्रकार वह इन भाव कर्मों का स्वयं कर्त्ता बन जाता है। इस प्रकार यह बंध का चक्र चलता रहता है। यदि यह जीव बद्ध कर्मों के फल सुख-दुखादि में तन्मय न होकर समभावों से भोग ले तो नवीन आस्रव एवं बंध न होकर संवर पूर्वक निर्जरा हो जावे।

तात्पर्य यह कि बद्ध कर्मों के उदयमात्र से बंध नहीं होता। जैसे घोर उपसर्ग के होने पर भी—जो तीव्र अशुभ कर्मों के उदय से होता है—साधु के समभावी बने रहने पर उसे बंध नहीं होता तथा वीतराग भाव से कर्मों की निर्जरा कर वह निर्वाण भी प्राप्त कर लेता है। यदि कर्मोदय होने पर जो सुख दुखादि फलों के रूप में होता है—जीव को राग द्वेष होना अनिवार्य हो तो तपस्या, ध्यानादि पुरुषार्थ कर वीतरागता प्राप्त करना असंभव ही हो जायगा; क्योंकि जीव में पूर्व बद्ध कर्मों का उदय सदा आता ही रहता है। अतः यह विवेकी जीव के सम्यक् पुरुषार्थ पर निर्भर है कि वह सुख दुखादि कर्म फलों में राग द्वेष न करता हुआ उन पर विजय प्राप्त कर समभावी बनें।

(१३७)

कर्म और जीव द्वारा मिलकर रागादि भावों की उत्पत्ति मानने में दोष

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी।
एवं जीवं कम्मं च दोवि रागादि मावण्णा ।।१३७।।

(१३८)

एकस्सदु परिणामो जायदि जीवस्स रागभावीहिं।
ता कम्मोदय हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ।।१३८।।

'पुद्गल कर्म संग जीवों के—
होते रागादिक परिणाम।

यथा रक्त होकर परिणमती—
सुधा—हरिद्रा मिल अविराम ।।'
यों माने तो जीव कर्म द्वय
हों रागादि भाव सम्पन्न ।
तब पुद्गल को भी चेतनवत्
बंध भाव होगा निष्पन्न ।।

१३८

इष्ट विरुद्ध मान्यता है यह—
यतः राग चेतन परिणाम ।
पुद्गल कर्म परिणमन से है—
भिन्न भाव चैतन्य सकाम ।।
कर्मोदय केवल निमित्त है—
जो कि जीव से रहता भिन्न ।।
कामीजन परनारि निरख ज्यों
होता स्वयं विकारापन्न ।।

भावार्थः— 'जीव और पुद्गल दोनों मिलकर रागादि भाव उत्पन्न करते हैं जैसे हल्दी और चूना मिलकर लाल रंग बन जाता है'—यदि ऐसा मान लिया जावे तो जीव और पुद्गल दोनों को रागादि युक्त मानना पड़ेगा तब जीव के साथ पुद्गल को भी कर्मबंध होने का प्रसंग आवेगा ।

यह मान्यता सिद्धान्त विरुद्ध है, क्योंकि राग एकमात्र जीव का ही परिणाम है कर्मोदय अपनी वैभाविकी शक्ति के कारण जीव को रागी बनाते हैं—ऐसा नहीं है । कर्मोदय जीव के रागी बनने में निमित्त मात्र है । जैसे कामी पुरुष परस्त्री को देखकर स्वयं कामातुर होता है वैसे ही कर्मोदय जन्य सुख-दुखादि में जीव भी स्वयं रागी-द्वेषी बनता है । कर्म रागी-द्वेषी नहीं बनाते ।

(१३९-१४०)

ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन भी केवल पुद्गल का परिणाम है

जदि जीवेण सहच्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पोग्गल जीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥

एकस्सु दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्म भावेण ।
ता जीव भावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥

१३९

ऐसे ही पुद्गल परिणमता—
कर्म रूप जो विविध प्रकार ।
वे परिणाम पौद्गलिक ही हैं
ज्ञानावरणादिक साकार ॥
तन्निमित्त यद्यपि रागादिक
चिद्विकार होते तत्काल ।
फिर भी पुद्गल-परिणति होती—
जीव - भिन्न ही रह त्रयकाल ॥

१४०

तात्पर्य यह है कि पौद्गलिक—
परिणतियाँ वसु कर्म स्वरूप ।
जीवों या उनके भावों से—
हों स्वतंत्र निश्चित जड़ रूप ॥
त्यों ही जीव भाव रागादिक
हैं स्वतंत्र कर्मों से भिन्न ।
यों जड़ वा चेतन की परिणति—
भिन्न-भिन्न ही हों, न अभिन्न ॥

भावार्थ:— जीव के रागादि भावों के समान पुद्गल का कर्मभाव रूप परिणमन एकमात्र पुद्गल का ही है । जो जीव के रागादि भावों से

भिन्न हैं। यद्यपि पुद्गल क कर्म भाव रूप परिणमन में जीव के रागादि भाव निमित्त अवश्य हैं; किन्तु पुद्गल परमाणुओं के ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन करने में उपादान पुद्गल ही है। इस प्रकार दोनों—जीव और पुद्गलों के परिणमन भी दोनों द्रव्यों में भिन्न-भिन्न होते हैं, ऐसा जानने योग्य है।

(१४१)

कर्म जीव से बद्ध हैं या अबद्ध ? एक प्रश्न

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयं भणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं ।।१४१।।

कर्म जीव में बद्ध और—
संस्पर्शित हैं या नहिं भगवन् !
क्या यथार्थ इसमें रहस्य है—
सरल करें यह प्रश्न गहन।
बंधु ! सुनो – है जीव कर्म से—
बद्ध और संस्पर्शित म्लान।
यह व्यवहार कथन सम्यक् है—
निश्चय बद्ध नहीं – अम्लान ।।

हे भगवन् ! जीव कर्मों से बँधा हुआ है या नहीं ? तथा कर्मों को स्पर्श कर रहा है या नहीं ? इसे स्पष्टतया समझाइये।

हे भव्य ! व्यवहार नय से जीव कर्मों से बँधा हुआ भी है और उन्हें स्पर्श भी कर रहा है। क्योंकि संसार की बंध दशा में यह सब होरहा है। जीव और कर्म एकमेक से हो रहे हैं अतः व्यवहार नय से यह कथन ठीक है; किन्तु निश्चय नय से जीव जीव है और कर्म कर्म है—दोनों भिन्न-भिन्न हैं। तथा उनकी परिणतियाँ भी भिन्न हैं। अतः शुद्ध निश्चय नय से जीव न बद्ध है और न स्पृष्ट है।

(१४२)

जीव की कर्मबद्धता और स्पृष्टता में दो नयों की दो दृष्टियां हैं

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।
णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो ।।१४२।।

१४२/१

कर्म जीव से बँधे हुए या नहीं बँधे हैं—यों दो पक्ष।
दिखते हैं व्यवहार और निश्चय से यद्यपि पक्ष-विपक्ष ॥
किंतु उभय नय पक्ष मानसिक ही विकल्प हैं एक प्रकार।
समयसार विज्ञान घनमयी निर्विकल्प ही है अविकार ॥

भावार्थ:— व्यवहार नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बंधा हुआ है और जीव कर्मों से नहीं बँधा है—यह निश्चय नय का पक्ष है। इस प्रकार जीव की कर्मों से बद्धता और अबद्धता पक्ष विपक्ष जैसी दिखाई देती है। यह दो नयों के पक्ष जन्य मानसिक विकल्पों का परिणाम है। किंतु समयासार (शुद्धात्म तत्व) तो दोनों पक्षों के विकल्पों से रहित विज्ञानघन स्वानुभव गम्य वस्तु है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

जीव की बद्धता और अबद्धता जैसे व्यवहार और निश्चय नयों के पक्ष हैं उसी प्रकार मोही-निर्मोही, रागी-विरागी, कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता, सूक्ष्म-स्थूल, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, दृश्य-अदृश्य, रूपी-अरूपी आदि रूप कथन भी दोनों नयों के पक्ष-विपक्ष हैं, किंतु आत्मा परम शुद्ध नय से सभी विकल्पों के पक्षपात से रहित स्वानुभूति के समय निर्विकल्प चिदानन्द स्वरूप अनुभव में आता है।

१४२/२

उक्त कथन का अभिप्राय

सर्व नयों का पक्षपात तज साम्यभाव द्वारा चिद्रूप।
निर्विकल्प बन सत्समाधि में तन्मय हो शुद्धात्म स्वरूप ॥
राग, द्वेष, मोहादि सकल तज वैभाविक परणतियाँ म्लान।
निर्विकार शुद्धोपयोग में करता चिदानंद रसपान ॥

भावार्थ:— आत्मा शुद्ध है कि अशुद्ध है, बद्ध है कि अबद्ध है—आदि नय पक्ष जन्य समस्त विकल्पों से मुक्त होकर ज्ञानी साम्यभाव धारणकर जब आत्म स्वरूप में लीन होता है तब समस्त रागादि विकारों से रहित हो जाने के कारण वीतरागता जन्य सहज ज्ञानानंदमयी स्वरूप का अनुभव करने लगता है—यही समयसार का सार है।

(१४३)

पक्षातिक्रन्त कैसा होता है ?

दोण्हवि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ।।१४३।।

१४३/१

उभय नयों का पक्षपात तज वस्तु स्वरूप यथावत् जान ।
कभी किसी नय का नहिं करता-जब किंचित् भी पक्ष, निदान ।।
तब समस्त नय पक्ष परिग्रह से विहीन बन साधु प्रवीण ।
समयसार सर्वस्व प्राप्त कर निष्कलंक बनता स्वाधीन ।।

भावार्थः—नय क्या हैं ? वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराने के साधन हैं । अतः इनके द्वारा विभिन्न दृष्टियों से वस्तु स्वरूप का निष्पक्ष भाव से यथावत् ज्ञान प्राप्त कर जब ज्ञानी जीव समस्त नयों के पक्षपात रूप परिग्रह का त्यागकर आत्म स्वरूप में लीन होता है तभी वह समयसार सर्वस्व प्राप्त कर पाता है अर्थात् शुद्धोपयोग द्वारा स्वरूपानुभूति में निमग्न होकर परमात्मा बन पाता है

तात्पर्य यह कि नय वस्तु स्वरूप समझने समझाने के साधन हैं, उलझाने के नहीं ।

१४३/२

समयसार पक्षातिक्रान्त है—

विश्व चराचर प्रकट जानते यद्यपि श्री अरिहंत समस्त ।
मतिश्रुतादि ज्ञानों के भी त्यों ज्ञाता दृष्टा मात्र प्रशस्त ।।
कभी किसी भी नय का करते पक्षपात नहिं किंतु नितांत ।
समयसार ज्ञाता भी त्यों ही होता नय-पक्षातिक्रांत ।।

भावार्थः— जैसे अरिहंत भगवान् समस्त पदार्थों और नयों के निष्पक्ष भाव से ज्ञाता दृष्टा होते हैं—किसी नय का पक्ष या विकल्प नहीं करते—वैसे ही श्रुत ज्ञानी नयों के द्वारा—जो श्रुत ज्ञान के अंश हैं—वस्तु स्वरूप को जानते देखते हैं; किन्तु किसी नय का पक्षपात नहीं करते ।

तथा साम्यभाव धारणकर जब स्वानुभूति में रमण करते हैं तब वे भी नय पक्षों के परिग्रह से रहित हो समयसार के रसिया बन जाते हैं।

१४३/३

नयों का पक्षपात हेय क्यों है ?

यतः एक नय पक्ष स्वयं ही मिथ्यादर्शन है—एकांत।
एक नयाश्रित मुख्य कथन में चरित मोह रहता संभ्रांत ।।
यतः राग का समावेश है इक नय मुख्य कथन में मित्र।
अतः पक्षबिन श्रुतज्ञानी भी वीतराग सम परम पवित्र ।।

भावार्थः— यतः किसी भी नय का पक्ष करना एकान्त मिथ्यात्व है—जो दर्शन मोह के उदय में उत्पन्न होता है अतः त्याज्य है। एक नय का पक्ष इसलिए मिथ्यात्व है क्योंकि वह वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान और उसे ही पूर्ण सत्य जानने की श्रद्धा स्वरूप होता है—जबकि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक होने से उसके शेष अंश अन्य नयों के भी विषय हैं—जिन्हें वह नकारता और मिथ्या मानता है। यह उसका भ्रम है। तथा एक नय को मुख्य तथा इतर नयों को गौण कर जो कथन होता है—उसमें उस नय के प्रति विशेष राग पाये आने से चारित्रमोह जन्य राग प्रवृत्त होता है जबकि श्रुत ज्ञानी जो समस्त नयों के कथन को जानकर उसके प्रति समभावी बना रहता है और किसी नय का पक्ष नहीं करता वह वीतराग भगवान् के समान ही अपने ज्ञान के आचरण द्वारा पवित्रता को प्राप्त हो जाता है।

(१४४)

समयसार

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणय पक्ख रहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।१४४।।

यों सम्पूर्ण नयों के पक्षों—
और विपक्षों से अतिक्रांत।
ज्ञाता 'समयसार' कहलाता—
निर्विकल्प निस्पृह निर्भ्रांत ।।

सम्यग्दर्शन ज्ञान उसी के–
व्यवहाराश्रित हैं व्यपदेश ।
कर्ता-कर्म, गुणी-गुण, ज्ञाता–
आदिभेद निश्चय नहिं लेश ।।

भावार्थः—इस प्रकार सम्पूर्ण नयों के पक्ष विपक्षों से रहित ज्ञानी ही समयसार है–जो कि निष्पक्ष और निर्विकल्प सम्यग्दृष्टि होता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी उसी समयसार के विकल्प हैं और इसलिए उसे इनके भेद रूप भी निरूपित किया गया है– जो व्यवहार नय का विषय है; किन्तु निश्चय दृष्टि में सब भेद गौणता को प्राप्त हो जाते हैं—उसमें कर्त्ता, कर्म, गुणी, गुण, ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेयादि का कोई विकल्प नहीं रहता। वस्तुतः समयसार का अनुभवी निश्चय नय का भी विकल्प नहीं करता। वह विकल्पों से परे वस्तु स्वरूप मात्र का ज्ञाता होता है।

इति कर्त्ताकर्माधिकार

पुण्य-पापाधिकार:–

(१४५)

कर्म और उसके भेद

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

कर्म वही जो लिपट रहे हैं–
पुद्‌गलाणु चेतन सँग म्लान ।
कर्म मात्र बंधन का कारण–
बंध दृष्टि द्वय कर्म समान ॥
अशुभ कुशील सुशील कर्म शुभ–
द्विविध कर्म गत है व्यवहार ।
निश्चय से कैसा सुशील वह–
जिसने भरमाया संसार ॥

भावार्थ:–– पुद्‌गल के जो परमाणु पुण्य, पाप रूप परिणति को प्राप्त होकर आत्मा के साथ बंधन को प्राप्त होते हैं उन्हे द्रव्य कर्म कहते हैं तथा आत्मा के शुभाशुभ भावों को भाव कर्म कहते हैं । इनमें अशुभ कर्म कुशील कहलाते हैं और शुभ कर्म सुशील कहे जाते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जावे तो वह सुशील कैसे कहा जा सकता है जो संसार में आत्मा को प्रवेश कराता है––परिभ्रमण कराता है ।

(१४६)

दृष्टान्त द्वारा उक्त कथन का समर्थन

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

पग में पड़ें स्वर्ण की बेड़ी–
या फिर पड़े लोह की म्लान ।
लोह स्वर्ण का भेद भले है–
बंध दृष्टि द्वय एक समान ॥

त्यों शुभ हों या अशुभ कर्म–
आखिर बंधन ही हैं मतिमान् ।
भव संतति में जिनके कारण–
पीड़ित हैं सब जीव महान ।।

भावार्थः— जैसे एक मनुष्य के पैरों में सोने की बेड़ियाँ पड़ी हुई हैं और दूसरे के पैरों में लोहे की बेड़ियाँ हैं—बेड़ियों में सोने का और लोहे का भेद अवश्य है; किन्तु बंधन की दृष्टि से दोनों में समानता है—इसी प्रकार शुभ कर्म हों या अशुभ—अन्तत: दोनों कर्म आत्मा को बंधन में डाले हुए हैं जिससे यह जीव संसार में दुखानुभवन कर संसरण कर रहा है ।

(१४७)

आत्म संबोधन

तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा काहि मा व संसग्गि ।।
साधीणो हि विणासो कुसील संसग्गि रागेण ।।१४७।।

अत: संत ! इन बंधन शीलों–
से न कभी तुम करना राग ।
दूर रहो संसर्ग मात्र से–
मोहजन्य ममता परित्याग ।।
तव अनादि से जिनके कारण–
हुआ आत्म स्वातन्त्र्य विनाश ।
इन बंधनशीलों से फिर क्यों–
सुख पाने की करते आश ।।

भावार्थः—हे संत जनों ! दोनों प्रकार के कर्मों को बंधन का कारण जानकर इससे कभी भी अनुराग न करना और इनसे मोह का परित्याग इनके संसर्गमात्र से दूर ही रहना । जिनके संसर्ग से अनादिकाल से आत्मा की स्वतन्त्रता और स्वरूपानुभूति नष्ट-भ्रष्ट हो रही है उनसे सुख पाने की झूठी आश कैसे की जा सकती है ?

(१४८)

दृष्टान्त द्वारा दोनों कर्मों का निषेध

जह णाम कोवि पुरुषो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गि राग करणं च ।।१४८।।

(१४९)

एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं ।
वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गि सहावरदा ।।१४९।।

बुद्धिमान जब अनुभव करता—
अपना सहयोगी मक्कार ।
या चरित्र से हीन व्यक्ति है—
उसे छोड़ते लगे न वार ।
वह ठुकरा कर पुनः न करता—
उस जन से संसर्ग नवीन ।
भाषण भी करना न चाहता—
उदासीन ही रहे प्रवीण ।।
कर्म प्रकृति ठगिनी अनुभव कर—
त्योंही ज्ञानी साधु महान—
कर्म मात्र को हेय जानकर—
करता है परित्याग समान ।।
यथा चतुर वन हस्ति-हस्तिनी—
को लख कामातुर भरपूर ।
निज बंधन का हेतु समझ कर—
रहता उससे दूर हि दूर ।।

भावार्थः—जैसे जब कोई बुद्धिमान अपने साथी को कपटी, चरित्रहीन और हानिकारक अनुभव कर लेता है तब वह उसका संग तुरंत ही छोड़ देता है और भविष्य में भी उससे दूर रहकर उसके साथ संभाषण

सक नहीं करना चाहता। उसी प्रकार ज्ञानी साधु भी पुण्य पापमयी कर्म प्रकृतियों और अपने शुभाशुभ भावों को भी बंधन कारक समझ इनसे उदासीन होकर त्याग करता तथा शुद्धोपयोग में ही लीन रहने का प्रयत्न और पुरुषार्थ करता है। जैसे जंगल में हाथी हस्तिनी को जो कामातुर हो रही है—दूर से ही (अपने बंधन का कारण जानकर) त्याग देता है।

(१५०)

आत्म-संबोधन

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि जीवो विराग संपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥०॥

जीव कर्म बंधन में बँधता—
बन रागादि विकाराक्रांत।
वर विराग वैभव प्रसाद पा—
पाता मुक्ति वही निर्भ्रांत ॥
सारभूत भगवज्जिनेन्द्र का—
यही दिव्य संदेश महान।
अतः न किंचित् कर्म जाल में—
कभी उलझना ए मतिमान् !

भावार्थः— हे आत्मन् ! जिनेन्द्र भगवान् का यह उपदेश है कि रागी जीव कर्मों को बाँधता है और विरागी कर्मों से छूट जाता है। इसलिए तू कर्मों से राग मत कर, यदि मुक्त होना चाहता है।

(१५१)

मुक्त होकर निर्वाण को कौन प्राप्त होता है ?

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हिट्ठिदा सहावे मुणिणोपावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

वीतराग शुद्धात्म तत्त्व ही—
समयसार है ज्ञानस्वरूप।
मुनि ज्ञानी केवलि कहलाता—
वही शुद्ध चैतन्य अनूप ॥

चित्स्वभाव सास्थित योगी जन–
स्वानुभूति का कर रसपान ।
नित्य निरंजन निर्विकार बन–
पाते पद निर्वाण महान ।।

भावार्थः– रागादि विकार भावों से रहित शुद्ध आत्मा ही समयसार कहलाता है उसे ही मुनि, ज्ञानी, केवली आदि भी कहते हैं । जो योगी अपने शुद्ध स्वरूप में निमग्न होकर उसी में रमण करते हैं वे ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

(१५२)

परमार्थ शून्य जनों के तप और व्रत सारहीन है

परमट्ठम्मि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ।।१५२।।

दुर्धर तप तपता अरण्य में–
सहे परीषह अतुल महान ।
दृढ़ प्रतिज्ञ बन व्रत धारण कर–
पालन करता शील निदान ।।
किंतु नहीं दुर्भाग्यवश जिन्हें–
प्राप्त हुआ परमार्थ प्रवीण ।
बाल तपस्वी, बाल व्रती वे हैं–
जिनेन्द्र के वचनाधीन ।।

भावार्थः— यदि कोई व्यक्ति वनों में जाकर परीषहों को सहन करता हुआ घोर तप करता है तथा दृढ़ प्रतिज्ञ बनकर व्रतशील संयमादि का पालन करता है; किन्तु दुर्भाग्य से यदि उसे परमार्थ (शुद्ध स्वात्मानुभूति) की प्राप्ति नहीं हुई तो परमार्थ शून्य होने से उसका तप बाल तप है और व्रत भी परमार्थ शून्य जनों का बाल व्रत है–ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने प्रतिपादन किया है ।

(१५३)

बाल (अज्ञानी) तपस्वी व व्रती को निर्वाण नहीं

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।।१५३।।

हैं परमार्थ ज्ञान से जिनकी—
शून्य दृष्टियाँ मलिन, प्रवीण !
वे व्रत नियम शील पालन या—
तप धारण कर भी हैं दीन ।।
उन्हें मुक्ति संप्राप्त न होती—
बाह्यवृत्ति में रहकर लीन ।
परमसमाधि लीन मुनि पाते—
शाश्वत मुक्ति श्री स्वाधीन ।।

भावार्थः—जिनकी दृष्टि परमार्थ ज्ञान से शून्य है वे व्रत, नियम, शील आदि धारण करके भी तपश्चरण द्वारा निर्वाण को प्राप्त नहीं होते । क्योंकि वे परमार्थ ज्ञान से शून्य होने के कारण केवल बाह्य शुभ प्रवृत्तियां करने में ही लीन रहा करते हैं ।

(१५४)

अज्ञानी परमार्थ से शून्य पुण्य की वाँछा करते हैं ।

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।।
संसार गमणहेतुं वि मोक्खहेदुं अयाणंता ।।१५४।।

जिसकी अंतरात्मा रहती—
परम अर्थ से शून्य नितांत ।
वह अज्ञानी मोहभाव कर
केवल पुण्य चाहता भ्रांत ।।
जो संसार परिभ्रमण एवं
बंधन का है हेतु—प्रवीण ।

उससे मुक्ति कहाँ से होगी
बिन समाधि में हुए विलीन ।।

भावार्थः—जिनकी आत्मा अंतरंग में परमार्थ ज्ञान (शुद्धात्म तत्व ज्ञान) से शून्य है वह अज्ञानी है । अज्ञानी ही पुण्य की बाँछा करता है । क्योंकि वह या तो पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानता है, या फिर आत्मिक वास्तविक सुख स्वाद का ज्ञान न होने से संसार के विषय भोगों में ही सुख मानकर उसको प्राप्त करने के लिए पुण्य की बांछा करता है ।

(१५५)

मोक्ष का मार्ग क्या है ?

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ।।१५५।।

जीवादिक तत्वों की श्रद्धा—
है जिनोक्त सम्यक्त्व महान ।
तत्पूर्वक तत्वों का अवगम
कहलाता है सम्यग्ज्ञान ।।
राग द्वेष मय वृत्तिहीन वर
वीतरागता है चारित्र ।
इनकी एकरूपता सम्यक्
मुक्ति मार्ग है परम पवित्र ।।

भावार्थः— जीवादिक सात तत्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन है और तत्व श्रद्धापूर्वक जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । तथा विषय कषायों से विरत होकर राग-द्वेषादि का त्याग करना सम्यक्चारित्र है । इन तीनों की एकता ही मुक्ति का मार्ग है ।

(१५६)

मुक्ति मार्ग के साधक यति ही कर्म क्षय करते हैं।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे* ण विदुसा पवट्ठंति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१५६॥

निश्चयार्थ साधक समाधि है—
उसे त्यागकर नहि विद्वान्—
बाह्य व्यावहारिक प्रवृत्ति में
होते हैं तल्लीन, निदान ॥
सत्समाधि में रत होकर वे
बाह्य वृत्ति से रहकर दूर—।
पथ परमार्थ साधकर यति वर
कर्म कुलाचल करते चूर ॥

भावार्थः— ज्ञानीजन उक्त वास्तविक (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप पारमार्थिक) मोक्ष मार्ग को छोड़ कर केवल व्यावहारिक बाह्य क्रियाओं में लीन नहीं होते, क्योंकि कर्मों का नाश उन्हीं यतिवरों के होता है जो परमार्थ पथ (उक्त मोक्ष मार्ग) का आश्रय लेते हैं।

(१५७–१५९)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मयी मोक्षमार्ग के अवरोधक कौन ?

वत्थस्स सेद भावो जह णासदि मलविमेलणाच्छण्णो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासदि मलविमेलणाच्छण्णो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥१५८॥

---

* श्री अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा में प्रयुक्त 'ववहारे-ण' इन दो पदों को 'ववहारेण' एक पद मानकर उसका अर्थ इस प्रकार किया है 'विद्वान् लोग निश्चय नय के विषय को छोड़कर व्यवहार से प्रवृत्ति करते हैं परन्तु परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है।

वत्थस्स सेद भावो जह णासदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥

१५७

सत्ता में आत्मस्थ अष्ट–
मोहादि कर्म अतिदुष्ट अशेष–।
यही आत्म बंधन कारण बन
संतापित करते सविशेष ॥
यथा वस्त्र की उज्वलता को
मल करता है बंधु ! मलीन।
सम्यग्दर्शन की आभा त्यों
करता है मिथ्यात्व मलीन ॥

१५८–१५९

उज्वल आभा यथा वस्त्र की
मल करता है मलिन, प्रवीण !
त्यों अज्ञान कर्म करता है
आत्म ज्ञान गुण सतत मलीन ॥
यथा वस्त्र की उज्वल परणति
मल द्वारा होती विड्रूप ।
त्यों कषाय रँग बने कषायी–
रागी द्वेषी आत्म विरूप ।

१५९/२

दर्शन ज्ञान चरित्र आदि गुण नहिं समूल हों कभी विनष्ट ।
बद्ध कर्म मल द्वारा केवल–शुद्ध परिणमन होता नष्ट ॥
समकित बन मिथ्यात्व परिणमें ज्ञान विकारी बन अज्ञान ।
वर चारित्र सुगुण परिणत हो राग द्वेष रंजित बन म्लान ॥

भावार्थ:— जैसे वस्त्र की उज्वलता को मैल नष्ट कर उसे मैला बना देता है उसी प्रकार मोहादि कर्म भी आत्मा के गुणों को विकृत बना देते हैं। आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्रादि गुणबद्ध कर्मों के द्वारा समूल नष्ट न होकर केवल मलिन भाव को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् उनका परिणमन विपरीत होने लगता है—सम्यग्दर्शन की परणति मिथ्यात्व रूप, सम्यग्ज्ञान अज्ञान रूप और सम्यक्चारित्र क्रोधादि कषाय रूप परिणमन करने लगता है। दूसरे शब्दों में मिथ्यात्वादि पुद्गल कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में दर्शन गुण की परणति मिथ्यात्व रूप, ज्ञान की अज्ञान रूप और चारित्र की कषाय रूप होने लगती है। इससे जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी और दुश्चरित्र बन कर कुपथगामी बन जाता है। जैसे कुसंगति के प्रभाव से मानव कुपथगामी हो जाता है।

(१६०)

कर्म बद्ध जीव की दुर्दशा (किमाश्चर्यमतः परम् ?)

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणावच्छण्णो।
संसार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

सर्व ज्ञान दर्शन स्वभाव से—
होकर भी सम्पन्न प्रवीण!
स्वापराध बश जीव कर्मरज—
आच्छादित हो बना मलीन ॥
चिर अज्ञान भाव से पीड़ित—
भ्रमित हुआ सारा संसार।
होकर भी विज्ञानधन मयी—
स्वात्मतत्व जाने नहिं सार ॥

भावार्थ:— यह जीव स्वभाव से ही सबको जानने देखने वाला (ज्ञाता दृष्टा) होकर भी अपने अपराधवश (राग द्वेषादि भावों को करके) पुद्गल कर्म रूप मल से आच्छादित हो मलिनता को प्राप्त हो रहा है। जिससे इसके ज्ञानादि गुणों के मलिन हो जाने के कारण यह अपने स्वरूप को भी भूल जाता है।

(१६१)

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व की हानि

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो ।।१६१।।

कारण है सम्यक्त्व मुक्ति का
प्रतिपादित जिन वचन प्रमाण ।
प्रतिपक्षी मिथ्यात्व उसी का
बँधा हुआ दुष्कर्म महान ।।
उस मिथ्यात्व कर्म का होता
जब भी उदय तीव्र या मंद ।
तब ही जीव स्वरूप भूलकर–
मिथ्यादृष्टि बने मतिमंद ।।

१६१/२

मिथ्यात्व द्वारा सम्यक्त्व हानि का दृष्टांत

यथा मद्यपी मद्यपान कर होकर मत्त बने उन्मत्त ।
हा हा हू हू करता फिरता बेसुध हुआ विकारासक्त ।।
त्यों मिथ्यात्व कर्मवश चेतन भूल रहा शुद्धात्म स्वरूप ।
अहंकार ममकार मगन ह्वै विषयातुर बन रहा विरूप ।।

भावार्थः— जिनेन्द्र भगवान् ने आत्मा के सम्यक्त्व नाम गुण का प्रतिपक्षी मिथ्यात्वनामा कर्म दरशाया है। जिससे यह जीव इसके उदय से मिथ्या दृष्टि बन जाता है। मिथ्यात्व कर्म के उदय का निमित्त पाकर यह जीव एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान इन पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों में तीव्र मंद मध्यम उदयानुसार मुग्ध होकर विषयों में प्रवर्त्तता है। जैसे शराबी मद्यपान कर उन्मत्त होकर यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने लग जाता है वैसे मिथ्यात्व के उदय होने में आत्मा स्वरूप को भुलाकर अहंकार-ममकार में निमग्न होकर नाना कुचेष्टाएँ करने लगता है।

(१६२)

अज्ञान से ज्ञान की हानि

णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेण परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६२॥

श्री जिनेन्द्र ने आत्मज्ञान को
आच्छादित करने वाला ।
कहा कर्म अज्ञान अपरिमित–
अंधकारवत् ही काला ॥
यथा सूर्य किरणों को रजकण–
ढक लेते हैं या घनश्याम ।
अज्ञानाच्छादित रह त्यों ही–
अज्ञ बन रहे चेतनराम ॥

भगवान् ने ज्ञान गुण का पराभव करने वाला अज्ञान नामा कर्म निरूपित किया है—जो अंधकार के समान आत्मा पर छाकर ज्ञान गुण को तिरोहित कर रहा है । जैसे सूर्य के प्रकाश को रजकण या बादल ढक लेते हैं वैसे ही अज्ञान (ज्ञानावरण कर्म व मोह) से आच्छादित होकर इस जीव का ज्ञान गुण इसे अज्ञानी बना देता हैं ।

(१६३)

कषाय से वीतरागता का नाश

चारित्त पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेण परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१६३॥

वीतरागता सुखद आत्म का
सम्यक् चरित धर्म अभिराम ।
उसे नष्ट कर दुष्ट कषायें
जगती सतत मलिन परिणाम ॥

मलिन भावरत बन कषाय से—
चेतन बने चरित्र विहीन।
हो कुकर्म रत पुनि कर्मों का
आस्रव बंधन करता दीन।।

भावार्थः—सम्यक्चारित्र वस्तुतः राग द्वेष विहीन आत्मा की वीतराग परिणति है। इस वीतराग परिणति को क्रोधादि कषायों का उदय विकृत बना देता है—जिससे आत्मा चारित्र विहीन हो नाना प्रकार पापाचरण कर कर्मों का आस्रव और बंध करने में लगा रहता है।

१६३/२

बंधन मुक्ति का उपाय

पुण्य-पाप द्वै विध्य कर्म में प्रतिपादित जिन वचन प्रमाण।
यह व्यवहार दृष्टि से सम्यक्, निश्चय से सब कर्म समान।।
उभय कर्म से विरत-स्वानुभव-रत रह करता समरस पान।
विज्ञ वही बंधन विमुक्त हो पाता पावन पद निर्वाण।।

भावार्थः— पुण्य और पाप के भेद से कर्म के दो प्रकार हैं। इसके शुभ-अशुभ भावों और सांसारिक सुख दुखादि रूप विभिन्न फलों को देखते हुए व्यवहार नय से कर्म के दो भेद किए गए हैं; किन्तु निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा को बंधन कारक होने से (स्वर्ण और लोहे की बेड़ियों जैसे) दोनों कर्म समान हैं। अतः जो साधक दोनों कर्मों से विरक्त होकर समरस का पान करते हुए स्वानुभूति में निमग्न रहता है अर्थात् ज्ञाता दृष्टा मात्र बना रहकर वीतरागता को आत्मसात् कर लेता है वही निर्वाण का पात्र होता है।

१६३/३

विषय कषायी जीव मुक्ति का पात्र नहीं

जिसके मन वच काय कषायों या विषयों में रहें निमग्न।
वह संसारासक्त मुक्त नहिं हो सकता होकर भी नग्न।।
साधु जनों की सतत साधना रहती आत्म शुद्धि के अर्थ।
स्वानुभूति रत बन जाने पर पुण्य पाप की चर्चा व्यर्थ।।

भावार्थः—जो तत्व ज्ञान शून्य जन विषय कषायों में निमग्न रहकर संसार में ही आसक्त बना रहता है वह यदि नग्न वेश धारण कर वेषी साधु भी बन जाय तो भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधु जनों की साधना और प्रयत्न सतत विषय कषाय विरति पूर्वक स्वानुभूति में रमण करने का रहा करता है। जब ज्ञानी साधु स्वानुभूति में रमण करेगा तब उसके लिए पुण्य या पाप की चर्चा ही व्यर्थ होगी। क्योंकि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त हो रहा है।

१६३/४

स्वानुभूति रत रह न सके तो उसका रख कर लक्ष्य महान।
व्रत, तप, संयम, शील साधना लीन रहे जिन वचन प्रमाण।।
यह व्यवहार मुक्ति पथ-साधन प्रथम भूमिका में अभिराम।
इसे त्याग स्वच्छंद बना तो कहाँ मिलेगा फिर विश्राम।।

भावार्थ:— निश्चय नय मे वस्तुतः मुक्ति का पात्र वही होता है जो संसार के समस्त विषय कषायों और उनके संकल्प विकल्पों से मुक्त होकर 'स्वानुभूति रत हो वीतरागता को प्राप्त कर लेता है; किन्तु जो साधक स्वानुभूति रत नहीं हो सका और अभी साधना की प्राथमिक दशा में स्थित है उसे स्वानुभूति का लक्ष्य बनाए रख कर व्रत, तप, संयम शीलादि आत्म शुद्धि के साधनों का जो व्यवहार नय से मुक्ति मार्ग के साधन हैं अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। यदि व्यवहार धर्म को निश्चय धर्म का साधन न बनाकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति की तो उसे संसार परिभ्रमण ही करना पड़ेगा—जो इष्ट नहीं है।

इति पुण्य पापाधिकार

अथ आस्रवाधिकार

(१६४)

आस्रव और उसके भेद

मिच्छत्तं अविरमणं कषायजोगा य सण्ण सण्णा दु ।
बहुविध भेया जीवे तस्सेव अणण्ण परिणामा ।।१६४।।

आस्रव है—मिथ्यात्व, अविरण,
योग, कषाय अनेक प्रकार ।
जीव और पुद्गल दोनों का
भिन्न भिन्न परिणाम विकार ।।
इनमें जो जीवाश्रित होते
मिथ्यात्वादि मलिन परिणाम—
वे अनन्य ही है जींवों के
सापराध उपयोग सकाम ।।

भावार्थः— आत्मा के विकारी भावों से पुद्गल कर्म परमाणुओं का आत्मा की ओर खिचकर आना आस्रव कहलाता है । इसके द्रव्यास्रव और भावास्रव—दो भेद हैं । इनमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप जो आत्मा में अनेक प्रकार विकारी भाव हुआ करते हैं, वे भावास्रव हैं । आत्मा के इन विकारभावों के निमित्त से जो पुद्गल के परमाणु मिथ्यात्वादि कर्म प्रकृति रूप परिणमन कर आत्मा की ओर आर्कषित होते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं । मिथ्यात्वादि रूप जो आत्मा के परिणाम हुआ करते हैं वे आत्मा से अनन्य (अभिन्न) हैं, क्योंकि अशुद्ध निश्चय नय से वे आत्मा की ही परिणतियाँ हैं ।

(१६५)

आस्रव का स्पष्टीकरण

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो रागदोसादि भाव करो ।।१६५।।

पुद्गल की ज्ञानावरणादिक
कर्म प्रकृतियाँ विविध प्रकार ।
होती स्वयं परिणमित चेतन –
के शुभ अशुभ भाव अनुसार ।।
आस्रव होता परस्पराश्रित –
कर्मोदय निमित्त पा जीव– ।
राग द्वेष करता, इससे फिर
कर्म रूप परिणमें अजीव ।।

भावार्थ:— आत्मा के वे मिथ्यात्वादि भाव ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव में कारण (निमित्त कारण) होते हैं । अर्थात् जीव के उन विकृत भावों से आकर्षित पुद्गल के परमाणु ज्ञानावरणादि रूप परिणमन स्वयं करने लगते हैं इसे पुद्गल द्रव्य का विकारी परिणमन जानना चाहिए । तथा मिथ्यात्वादि भावों का उपादान कारण राग द्वेष करने वाला अज्ञानी जीव होता है ।

तात्पर्य यह कि पुद्गल के परमाणुओं के कर्म रूप परिणमन में निमित्त कारण जीवों के मिथ्यात्वादि भाव हैं और उपादान कारण पुद्गल है जो स्वयं कर्म रूप परिणमन करता है । तथा जीव के मिथ्यात्वादि भावों के होने में पूर्व बद्ध पुद्गल कर्म परमाणुओं का उदय निमित्त कारण हैं और उपादान कारण स्वयं जीव है ।

(१६६)

सम्यग्दृष्टि के आस्रव नहीं होता

णत्थिदु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ।।१६६।।

१६६/१

वीतराग सम दृष्टि न करता आस्रव एवं बंध नवीन ।
बद्ध कर्म ज्ञाता रह केवल–ज्ञाता दृष्टा रहे प्रवीण ।।
बंध मूल मिथ्यात्व भाव है सर्व प्रमुख चैतन्य विकार ।
जिससे जीव मोह में फँसकर मत्त हो रहा विविध प्रकार ।।

भावार्थ:— वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव को आस्रव व बंध नहीं होता है; यद्यपि उसको पूर्व में बंधे हुए कर्म सत्ता में रहते हैं और उनका उदय भी यथा समय आता है; किन्तु वह बद्ध कर्मों एवं उनके उदय को केवल जानता देखता है और समभावी बना रहता है। वह सुख दुख रूप कर्मोदय जन्य फलों में हर्ष-विषाद या राग-द्वेष न करते उन्हें विराग भावों से भोगता है अतः आस्रव न होकर उसे संवर व निर्जरा भी होती है। यह कथन वीत-राग सम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा से जानना चाहिए।

१६६/२

है सराग सम्यग्दर्शन यदि जिन जीवों को प्राप्त, प्रवीण !
पूर्ण निरास्रव रह न सकें वे यतः नहीं है राग विहीन ॥
आंशिक संवर होता उनके रह मिथ्यात्व भाव से दूर।
वीतरागता प्राप्त न हो तो आस्रव नहिं रुकता है क्रूर ॥

१६६/३

यदि सराग सम्यग्दर्शन है–जिन जीवों को प्राप्त, प्रवीण !
पूर्ण निरास्रव रह न सकें वे राग भाव कर नित्य नवीन ॥
आंशिक संवर होता उनको–रह मिथ्यात्व भाव से दूर।
वीतरागता प्राप्त न यावत्-रागाश्रित आस्रव हो क्रूर ॥

सराग सम्यग्दृष्टि भी जितने अंशों में राग घटाता (कम करता) है उतने अंशों में उसे भी आस्रव व बंध नहीं होता तथा आंशिक रूप में संवर होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन पूर्वक पूर्ण वीतरागता प्राप्त किए बिना राग-द्वेष करते हुए भी स्वयं को पूर्ण निरास्रव और अबंधक न समझ लेना चाहिए; क्योंकि राग-द्वेष जितने अंशों में होगा उतने ही अंशों में उसे आस्रव बंध भी अवश्य होगा।

(१६७)

राग द्वेषादि भाव ही बंध के कारण हैं

भावो रागादि जुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादि विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

१६७/१

नूतन कर्मों के बंधक हैं रागादिक दुर्भाव मलीन ।
अज्ञानी रागादि भाव कर बँधता रहता नित्य हि दीन ।।
जब रागादि विभाव मुक्त बन ज्ञानी करता समरस पान।
तब नूतन आस्रव बंधों का हो जाता सहजहि अवसान ।।

भावार्थः— जीव के द्वारा किए गए रागादि भाव ही कर्म बंध के के कर्त्ता हैं। जिन्हें करता हुआ अज्ञानी जीव निरन्तर कर्म बंध करता रहता है; किन्तु रागादि विकारी भावों से मुक्त समरसी आत्मा के नवीन कर्म बंधन का सहज ही अन्त हो जाता है।

१६७/२

आस्रव का उदाहरण

चुम्बक सँग स्वयमेव सुई में—चञ्चलता होती उत्पन्न ।
त्यों रागादि विभाव परिणमन—से द्रव्यास्रव हो निष्पन्न ।।
ज्यों संतप्त लोह जल में पड़ उसे खींचता अपनी ओर।
त्यों कषाय संतप्त चेतना कर्मास्रव करती है घोर ।।

भावार्थः— जैसे चुम्बक के पास आने पर सुई में स्वयमेव चंचलता उत्पन्न होने लगती है वैसे जीव के रागादि भाव युक्त होने पर कार्माण वर्गणाएँ स्वयमेव चंचल होकर आत्मा के प्रति आकर्षित होने और बँधने लगती हैं। अथवा जैसे अग्नि में संतप्त लोहे का गोला पानी में पड़ कर उसे शोषण करता और अपनी ओर खींचकर आत्मसात करता है उसी प्रकार कषाय से सन्तप्त आत्मा भी आस्रव के होने पर बंध को प्राप्त होजाता है।

(१६८)

उदयागत कर्म की दशा

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं वज्झइ पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्म भावे पडिदे ण पुणोदयमुवेदि ।।१६८।।

फल पकने पर यथा वृक्ष से—
भू पर आ पड़ता तत्काल ।

पुनः वृन्त में नहिं जुड़ता वह
कोटि यत्न भी किये विशाल ।।
त्यों ही बद्ध कर्म उदयावलि
में फल देता है इकबार ।
कर्मभाव च्युत हो जाने पर
जीव न हो उससे सविकार ।।

भावार्थः— जैसे फल के पूर्णतया पक चुकने पर वह वृक्ष से पृथक् हो भूमि पर पड़ जाता और फिर वृक्ष में नहीं जुड़ता उसी प्रकार बद्ध कर्म उदय में एक बार आकर आत्मा से पृथक हो जाता है और कर्मभाव से रहित होकर पुनः उदय में आकर फलदान नहीं करता।

(१६९)

ज्ञानी के पूर्व बद्ध कर्म आस्रव के कारण नहीं

पुढवी पिंड समाना पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ।।१६९।।

पूर्व बद्ध जो कर्म बच रहे—
ज्ञानी के सत्ता में शेष—।
पृथ्वीपिंड समान न उसमें
द्रव्यास्त्रव कर सकें अशेष ।।
मुष्टि बद्ध विषवत् रहते वे—
अतः न करते रंच विकार ।
कार्माण देहोपबद्ध रह —
ज्ञानी पर कर सकें न वार ।।

भावार्थः— सत्ता में विद्यमान आत्मा से बँधे हुए पूर्व कर्म ज्ञानी जीव में पृथ्वी पिण्ड (मिट्टी के डले) के समान हैं। वे अभी ज्ञानी जीव में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते किंतु वे कार्माण शरीर में बद्ध रहकर सत्ता में पड़े रहते हैं। वे उदयावली में आये बिना आस्रवभाव उत्पन्न करने में अकिंचित्कर हैं।

(१७०)

ज्ञानी जीव निरास्रव क्यों रहता है ?

चउविह अणेय भेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जम्हा तेण अबंधो त्ति णाणी ॥१७०॥

ज्ञानी जीव निरास्रव रहता—
यतः बंध के कारण चार ।
मिथ्यादर्शन अविरत्यादिक
पूर्व किया जिनका निर्धार ॥
अज्ञानी इनमें रत होकर—
बंध किया करता तत्काल ।
नहि बंधन की कारण होती
ज्ञानी की परिणति त्रयकाल ॥

भावार्थ— आत्मा को बंध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग हैं, अज्ञानी जीव का ज्ञान गुण इनमें रँग जाता है इसलिए उसका ज्ञान गुण अज्ञान का रूप धारण कर बंध का कारण बन जाता है। किन्तु ज्ञानी उक्त चार विकारों में अपने ज्ञान को नहीं रँगता—वह तो मात्र ज्ञाता दृष्टा ही बना रहता है, अतः बँध को प्राप्त नहीं होता।

(१७१)

ज्ञान का जघन्य भाव (रागादियुक्त भाव) बँध का कारण होता है

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाण गुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

ज्ञानी को जो किंचित् आस्रव
बंध कहा इसका यह अर्थ—।
जब विभाव परिणति हो उसकी—
तत्कृत कर्म बंध भी सार्थ ॥

जब जघन्य परिणति हो इसके—
विमल ज्ञान की तभी मलीन—।
कर कषाय ज्ञानी बँध जाता
निः कषाय नहिं बँधे प्रवीण ॥

भावार्थः— ज्ञानी जीव जब तक ज्ञाता दृष्टा समभावी बना रहकर स्वरूप में स्थिर रहता है (यथाख्यात चारित्र में लीन रहता है) तब तक उसें बंध नही होता; किन्तु ऐसी दशा अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक रहने नहीं पाती; अतः जब कषाय के उदय में इसका ज्ञान गुण जघन्यभाव को प्राप्त होता है तब यथा योग्य शुद्ध ज्ञान के रागादि भाव रूप परिणमत होने से ज्ञानी को कर्मबँध होना कहा गया है।

(१७२)

रत्नत्रय का जघन्य भाव बँध का कारण है

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु वज्झदि पोग्गल कम्मेण विविहेण ॥१७२॥

१७२/१

जब कषाय नहिं नष्ट हुई तब ज्ञानी नहि रहता निर्बंध ।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण से कभी जीव को हो नहिं बंध।
किंतु जघन्य भाव परिणत हो – जब रत्नत्रय कर्माधीन ॥
तब होती कर्मास्रव एवं बंधमयी परिणति भी हीन ॥

भावार्थः— प्रश्न—हे भगवन् ! ज्ञानी को आपने निर्बन्ध कहा है; किन्तु जब तक ज्ञान में कषायकण विद्यमान हों तब उसे निर्बन्ध कैसे कहा जा सकता है ?

प्रश्न— हे भव्य ! जीव को सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र से कभी और किंचित् भी बंध नहीं होता; इसके ये गुण जब जघन्य भाव को परिणत होते हैं—अर्थात् जब इन गुणों की परिणति में किंचित् भी रागादि विकार होने लगता है तब उससे ज्ञानी को भी बंध होता है।

१७२/२

एक ज्ञातव्य रहस्य

एक रहस्य यहाँ जो ज्ञानी करता जब रागादि विभाव।
वे अबुद्धि पूर्वक हों यदि तो तीव्र बंध का कहा अभाव ।।
ज्ञानी को छद्मस्थ दशा में कर्मोदय निमित्त से राग।
होता, अतः उसे मिलता है तत्कृत सदा बंध में भाग ।।

१७२/३

और सुनो—ज्ञानी जन रुचि से करता नहिं रागादि अशेष।
अतः न संसृति का कारण है तज्जन्यास्रव बंध विशेष ।।
इसी दृष्टि से कहा निरास्रव, किंतु अबुद्धि जन्य अनुराग—
रहते उसे बंध भी होता—बंध हीन है भाव विराग ।।

भावार्थः— उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं होते अर्थात् वह जानबूझ कर रागादि नहीं करता; किन्तु यथा ख्यात चारित्र (ग्यारहवें गुण स्थान) विहीन दशा में अबुद्धि पूर्वक राग होता रहता है तब ज्ञानी का ज्ञान राग सहित होने से जघन्य भाव रूप परिणत होता है और उसे उससे बंध भी होता रहता है।

दूसरी बात यह है कि ज्ञानी रुचि पूर्वक राग नहीं करता इसलिए अरुचि और अबुद्धि पूर्वक होने वाला राग तथा इससे होने वाला आस्रव व बंध संसार परिभ्रमण का कारण न होने की दृष्टि से भी ज्ञानी को निरास्रव कहा जाता है। तथा उस अबुद्धि पूर्वक होने वाले राग से उसे सास्रव आस्रव युक्त भी कहा जाता है।

(१७३)

वास्तव में राग द्वेषादि भाव ही बंध के कारण हैं—

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्म भावेन ।।१७३।।

सत्ता में रहता ज्ञानी के—
पूर्व बद्ध प्रत्यय का योग।

तदपि नहीं बंधन का कारण
माना वह प्रत्यय संयोग ।।
कर्मोदय में जब कि ज्ञान का
राग द्वेषयुत हो परिणाम ।
तब पुद्गल अणु बँधें कर्म बन–
जीव संग परिणत हो वाम ।।

भावार्थः— यद्यपि ज्ञानी के (शुद्ध सम्यग्दृष्टि के)पूर्व में बाँधे गये (पूर्वकृत) कर्मों का बंधन है; किन्तु वह नवीन कर्मों के आस्रव या बंधन का कारण नहीं होता—जैसाकि पहिले उन्हें पृथ्वी पिण्ड समान दरशाया गया है । बँध या आस्रव का कारण तो कर्मोदय के समय जब ज्ञान की परिणति राग-द्वेष रूप होती है तभी पुद्गल के परमाणु आकर्षित होते हैं एवं कर्म रूप धारणकर बंध को प्राप्त होते है । इससे सिद्ध है कि रागादि भाव ही बँध के कारण हैं ।

(१७४–१७५)

संता दु निरुपभोज्जा बालाइत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इच्छी जह णरस्स ।।२७४।।
होदूण तिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूवा णाणावरणादि भावेहिं ।।१७५।।

(१७४)

एक पुरुष ने बाला कन्या –
से विवाह कर लिया अकाल ।
किंतु नहीं उपभोग योग्य वह
हो जाती बाला तत्काल ।।
होती वह उपभोग योग्य कब,
जब तरुणी बन जाये बाल ।
योग्य समय बिन भोग्य वस्तु का
होता नहिं उपयोग त्रिकाल ।।

१७५

त्यों नवीन कर्मों का बंधन
होते ही वे नहिं तत्काल—।
फल देने के योग्य कहे हैं
सत्ता में ही रहें अकाल ॥
जब वे यथा समय अवसर पा
उदय काल को हों संप्राप्त—।
तब चेतन सुख दुख अनुभव कर
होता है बंधन को प्राप्त ॥

भावार्थ:— जैसे किसी पुरुष ने पाँच छह वर्ष की बालिका से विवाह कर लिया; किन्तु वह बालिका बिना वयस्क हुए उपभोग के योग्य नहीं होती; किन्तु जब वह तरुणी (जवान) हो जाती है तभी उपभोग करने योग्य होती है। उसी प्रकार नवीन कर्मों का बंध होते ही वे तत्काल उदय में आकर फल प्रदान नहीं करते; किन्तु आबाधा काल समाप्त होने पर ही वे यथा स्थिति उदय में आकर फल प्रदान करते हैं और उनके उदय में आने पर अज्ञानी आत्मा सुख दुख का अनुभव कर राग द्वेष करता हुआ बंध को प्राप्त होता है।

(१७६)

राग द्वेष न करता हुआ सम्यग्दृष्टि अबंधक रहता है

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

किंतु सुदृष्टि प्राप्त संज्ञानी—
सर्व हिताहित अपना जान—।
सुख दुख में समभावी रहकर
रागी द्वेषी बने न म्लान ॥
इस कारण वह रहे अबंधक
आस्रव भाव रहित अम्लान।

रागादिक के असद्भाव में
बद्ध कर्म नहि बंधक जान ।।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टियों को हिताहित का ज्ञान होता है। अतः वे राग-द्वेषादि विकारी भावों को बंध का कारण जान सुख दु:ख रूप कर्म फलों में राग द्वेष नहीं करते। इसीलिए नवीन आस्रव व बंध को प्राप्त नहीं होते – भले ही उनके बद्ध कर्मों का उदय होता रहे। राग द्वेष किये बिना कर्मों के उदय या सत्ता मात्र से कर्म बंध नहीं होता।

(१७७–१७८)

यत: वीतराग सम्यग्दृष्टि के राग द्वेष मोहादि भाव नहीं होते
इसीलिए उसे कर्म बन्धन नहीं होता

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तम्हा आसव भावेण विना हेदू ण पच्चया होंति ।।१७७।।
हेदू चतुव्वियप्पो अट्ठ वियप्पस्स कारणं हवदि ।
तेसिं पि य रागादो तेसिमभावे ण वज्झंति ।।१७८।।

(१७७)

सम्यग्दृष्टि जीव के होते–
राग द्वेष मोहादि न म्लान ।
मलिन भाव बिन केवल प्रत्यय
आस्रव हेतु न हों, मतिमान् ।।
यावत् अपने भाव विकारी–
करे न चेतन तावत् लेश–।
कर्म वर्गणाओं से किंचित्–
बँधते नहिं सर्वात्म प्रदेश ।।

(१७८)

ज्ञानावरणादिक वसु कर्मों–
के बंधन में कारण चार ।
हैं मिथ्यात्व, कषाय, अविरमण
योग आत्म के प्रमुख विकार ।।

इनका कारण पूर्व बद्ध कर्मों–
का उदय सुनिश्चित जान।
जिनकी अनुपस्थिति में होते
कभी न आस्रव बंधन म्लान ।।

भावार्थ:— सम्यग्दृष्टि जीव के राग द्वेष मोहादि भावों के न होने से केवल पूर्व बद्ध द्रव्य कर्म और उनका उदय नवीन आस्रव के कारण नहीं होते। आत्मा के प्रदेशों में कर्म वर्गणाएँ कर्म रूप धारण कर तभी बँध को प्राप्त होती है जब जीव रागादि विकारी भाव करता है।

ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के बंध में जो चार कारण हैं वे मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग हैं। ये चारों आत्मा के विकारी भाव हैं। इनका कारण आत्मा में पूर्वबद्ध कर्मों का उदय है। यदि उनका उदय न हो, तो आत्मा में मिथ्यात्वादि विकार भाव भी उत्पन्न न हों, और न फिर नवीन कर्मों का आस्रव एवं बंध ही हो।

(१७९–१८०)

द्रव्य आस्रव के अष्ट कर्म रूप परिणमन का दृष्टान्त

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णय परिहीणा दु ते जीवा ।।१८०।।

यथा मनुज के उदर मध्य जो
जाता अन्न पान - आहार–।
जठर अग्नि के माध्यम से वह
परिणमता है विविध प्रकार ।।
रस से रुधिर मांस मज्जा वा
वसा अस्थि वीर्यादिक रूप–।
विविध भाँति स्वयमेव परिणामित
सप्त धातु मय हों तद्रूप ।।

१८०/१

त्यों चेतन जब निज स्वरूप से विचलित होकर कर्माधीन-।
पूर्व बद्ध कर्मोदय पाकर रागद्वेष कर बने मलीन ।।
तब बँधता वसु कर्म रजों से कलुषित भावों के आधीन।
अज्ञानी असंयमी बन कर परम शुध्द नय दृष्टि विहीन ।।

१८०/२

ज्ञानी का अर्थ कोरा शास्त्रज्ञानी नहीं

ज्ञानी का यह अर्थ कि तज सब राग द्वेष मोहादि मलीन ।
शुद्ध स्वभाव निरत रह करता स्वानुभूति रस पान प्रवीण ।।
नय पक्षों से रहित वस्तु को समझ, न कर मिथ्या श्रद्धान ।
पाप कषाय प्रवृत्ति न करता सम्यग्ज्ञानी वही महान ।।

भावार्थः-जैसे उदर में किया हुआ आहार उदर में जाकर जठराग्नि के द्वारा पचकर स्वयं रस, रुधिर, माँस, वसा, वीर्यादि सप्त धातु रूप परिणत हो जाता है उसी प्रकार पूर्व बद्ध कर्मोदय के वश होकर जब ज्ञानी जीव अपने शुद्ध स्वभाव से विचलित होता है तब वह ज्ञानावरणादि कर्मों से बँधता है और आस्रव के द्वारा आये हुए परमाणु विकार भावों के निमित्त से स्वयं ही सप्त कर्म रूप परिणत हो जाते हैं; किन्तु आयु कर्म का बंध जीवन में एक बार ही होता है ।

ज्ञानी से यहाँ उस जीव को ग्रहण करना चाहिए जो राग द्वेष मोहादि से निवृत्त होकर स्वानुभूति में रमणता को प्राप्त है---जिसने गुरूपदेश या शास्त्राभ्यास से स्व-पर भेद विज्ञान प्राप्त कर शुद्धात्म तत्व को समझ व जानकर मिथ्यात्व पाप कषायादि रूप प्रवृत्तियों से दूर रह आत्म स्वरूप में स्थिरता प्राप्त करली है । इसे ही आस्रव-व बंध न होने का नियम है ।

प्रश्न---क्या चतुर्थ गुण स्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि जीव भी ज्ञानी की उक्त परिभाषा में आजाता है ।

समाधानः-- ज्ञानी की यह परिभाषा वीतराग सम्यग्यदृष्टि पर ही चरितार्थ होती है; क्योंकि रागादि विकारों के अभाव के कारण वे ही

निरास्रव होते हैं। इस ग्रंथ में वीतराग सम्यग्दृष्टि की मुख्यता* से ही कथन भी किया गया है।

प्रश्न:—फिर सराग सम्यग्दृष्टि के आस्रव व बंध होता है या नहीं ?

समाधान:— सम्यग्दृष्टि के दो भेद किए गये हैं—इनमें चतुर्थ गुण-स्थान से लेकर सूक्ष्मसाँपराय नामा दशम गुण स्थान पर्यन्त सभी जीव सराग सम्यग्दृष्टि हैं। तथा ग्यारहवें उपशान्त कषाय गुण स्थान से आगे सब वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं। चतुर्थ गुण स्थान से दशम गुण स्थान पर्यन्त जिस क्रम से कषायों (रागादि विकारों) का अभाव होता जाता है उसी क्रम से उनके द्वारा होने वाला आस्रव व बंध भी घटता जाता है किन्तु जितने जितने अंशों में उसमें कषायाँश विद्यमान रहते हैं उतने अंशों में आस्रव बंध अवश्य होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्वादि ४३ कर्म प्रकृतियों का बंध नहीं होता। ७७ कर्म प्रकृतियों का अल्पस्थिति व अनुभाग को लिए बंध होता है। यत: अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनमोह का अविरत सम्यग्दृष्टि के अभाव हो जाता है अत: अनन्त संसार के कारण कर्मों की स्थिति व अनुभाग का उसके अभाव हो जाता है—इस दृष्टि की मुख्यता से उसे (सराग सम्यग्दृष्टि को) अबंधक कहा जा सकता है। पंचमादि गुण स्थानों में भी जितनी जितनी कर्म प्रकृतियों का अभाव होता जाता है उसी क्रम से उन्हें भी उनका आस्रव व बंध कम होता जाता है, जो यथाख्यात चारित्र के हो जाने पर ग्यारहवें गुण स्थान में समाप्त हो जाता है।

(श्री जयसेनाचार्य की टीका पर आधारित)

इति आस्रवाधिकार

* देखो आचार्य प्रवर जयसेन की टीका।

अथ संवराधिकारः

(१८१)

आत्मा स क्रोधादि भाव कर्म एवं द्रव्य व नो कर्मों की भिन्नता

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ।।१८१।।

आस्रव का रुकना संवर है–
उसका हेतु भेद विज्ञान ।
आत्म तत्व उपयोगमयी है–
क्रोधादिक से भिन्न महान ।।
दर्शन ज्ञानमयी होता है –
चेतन का उपयोग, प्रवीण !
उससे भिन्न क्रोधमानादिक–
हैं कषाय की वृत्ति मलीन ।।

भावार्थः— कर्मों के आस्रव का रुक जाना ही संवर है । संवर का प्रमुख हेतु भेद विज्ञान है । आत्मा एक उपयोगमयी वस्तु है । उसका उपयोग निश्चय से दर्शन ज्ञानमयी है अर्थात् जानना और देखना है— जबकि क्रोधादि रूप भाव कषाय की वृत्तियाँ हैं—जो विकार हैं । अतः क्रोध में उपयोग नहीं है और उपयोग में क्रोध नहीं है । ऐसा ज्ञान होना ही भेद विज्ञान कहलाता है अर्थात् क्रोधादि भाव कर्मों से आत्मा के उपयोग की भिन्नता का आभास होजाना ।

(१८२)

अट्ठ वियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।।१८२।।

नहिं ज्ञानावरणादि कर्म–मय
परिणमता उपयोग, निदान–।
शरीरादि नोकर्मों से भी
उसकी सत्ता भिन्न महान ।।

नहि उपयोग मध्य करते हैं–
कर्म और नोकर्म प्रवेश।
ये दोनों जड़ रूप, कभी–
चैतन्यमयी परिणमें न लेश।।

भावार्थ:— ज्ञानावरणादि कर्म और शरीरादि नो कर्म भी आत्मा के ज्ञान दर्शनमयी उपयोग से भिन्न हैं। उपयोग चैतन्य स्वरूप आत्मा की परणति है और कर्म नो कर्म पुद्गल द्रव्य की परणतियाँ है। उपयोग में कर्म नो कर्मों का प्रवेश या सत्ता नहीं है और न कर्म नो कर्मों में उपयोग की ही सत्ता है। अतएव दोनों भिन्न हैं

(१८३)

एवं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा ।।१८३।।

एवं भेद ज्ञान से हो जब
जीव स्वस्थ अज्ञान विहीन।
उसी समय शुद्धात्म तत्व का
दर्शन होता उसे प्रवीण।।
शुद्ध भाव रत बन करता नहिं
फिर किंचित् रागादि मलीन।
संवर हो तब कर्मास्रव के–
हो जाने से स्वयं विलीन।।

भावार्थ:— इस प्रकार भेद विज्ञान की पैनी दृष्टि से जीव जब कर्म तथा नो कर्मादि आत्म भिन्न वस्तुओं के ममत्व से दूर होकर सम्यग्दृष्टि बनता है उसे उसी समय आत्मा के शुद्ध स्वरूप (ज्ञायक स्वरूप) के दर्शन होते हैं। तब वह गुण स्थानों के क्रमानुसार आत्मा के उपयोग को शुद्ध बनाता हुआ रागादि विकार भावों को नहीं करता, इससे द्रव्य कर्मों का आस्रव भी स्वयमेव रुक जाता है। यही संवर कहलाता है। आत्मा के भावों की शुद्धि को भाव संवर और पुद्गल कर्मों के आस्रव का रुकना द्रव्यसंवर कहलाता है।

(१८४-१८५)

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर की उदाहरण द्वारा पुष्टि

जह कणयमग्गितवियं पि कणय सहावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१८४॥

एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णं आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

पावक का संयोग स्वर्ण पा
होकर भी संतप्त निदान ।
स्वर्णपना नहिं तजे तनिक भी;
किंतु निखर बनता अम्लान ॥
त्यों ज्ञानी भी घोर असाता-
उदय जन्य सह तीव्र प्रहार ।
नहि स्वभाव से विचलित होता
रंचमात्र भी किसी प्रकार ।

(१८५)

इस प्रकार ज्ञानी सुदृष्टि से
आत्म तत्व अनुभव कर शुद्ध ।
पर को अपना मान न रत हो-
वही वस्तुतः है प्रतिबुद्ध ॥
अज्ञानी अज्ञानतमावृत -
रह कर बने विकाराक्रांत ।
नित पर द्रव्य भाव अपना कर
अप्रतिबुद्ध रहता दिग्भ्रांत ॥

भावार्थ:— जैसे अग्नि के संयोग से अति संतप्त होकर भी स्वर्ण अपना स्वर्णपने का त्याग नहीं करता, प्रत्युत जितना अधिक तपता है

उतने ही शीघ्र अपनी मलिनता को दूर कर शुद्ध बन जाता है। उसी प्रकार भेद विज्ञान से सुसंस्कृत ज्ञानी जीव भी घोर असाता कर्मोदय जन्य दु:खों से विचलित न होकर समभावी बना रहकर संवर द्वारा आत्मशुद्धि करता है।

ज्ञानी जीव ही अपने भेद विज्ञान की पैनी दृष्टि से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर शरीरादि पर वस्तुओं एवं अपने विकारी भावों को भी अपना स्वभाव न मान कर उनमें रत नहीं होता, अत: वह प्रतिबुद्ध कहलाता है। अज्ञानी जीव मोहाँधकार में फँसा रहकर पर द्रव्यों और पर भावों को अपना जानता-मानता रहता है, इसीसे वह अप्रतिबुद्ध कहलाता है।

(१८६)

परमात्मा कौन बनता है ?

सुद्धं तु वियाणंतो विसुद्ध मेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१८६॥

अनुभव कर शुद्धात्म तत्व का
जो बन रहता है तल्लीन ॥
वह शुद्धात्म ध्यान बल करता
शुद्ध आत्म ही प्राप्त प्रवीण।
किंतु अशुद्ध अनुभवन करने–
वाला रागी जीव मलीन।
पाता है निज को अशुद्ध ही–
अप्रतिबुद्ध रह ज्ञान विहीन ॥

भावार्थ— जो भव्य जीव आत्म तत्व का शुद्ध रूप से ज्ञान प्राप्तकर लेता है वह आत्मा को शुद्ध रूप में ही प्राप्त करता है और जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को न जानता हुआ उसे रागी द्वेषी आदि रूप में जानता है वह आत्मा को अशुद्ध रूप में ही पाता है। तात्पर्य यह कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने वाला ज्ञानी अपने उपयोग को राग द्वेष मोह से विकारी न बनाकर आत्मा को संवर निर्जरा द्वारा शुद्ध बनाकर परमात्मा

बन जाता है और अशुद्ध रूप में अनुभव करने वाला अज्ञानी अज्ञान भाव कर आस्रव बंध करता हुआ संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है।

(१८७-१८९)

आत्मा किस प्रकार संवर द्वारा परमात्मा बनता है ?

अप्पाणमप्पणारुंधिदूण दो पुण्णपावजोगेसु ।
दंसण णाणम्हि ठियो इच्छा विरदो य अण्णम्हि ॥१८७॥

जो सव्व संग मुक्को झायदि अप्पाणमप्पणा अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१८८॥

अप्पाणं झायंतो दंसणणाण मइयो अणण्णमओ ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥

१८७

शुभ या अशुभ वचन मन तन की
वश प्रवृत्तियाँ कर निःशेष ।
निज स्वरूप में निज के द्वारा
शांत भाव से करै प्रवेश ॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण युत
सतत स्वानुभवलीन प्रवीण ।
अन्य वस्तु की वाँछाओं से
रह कर विरत स्वस्थ स्वाधीन ॥

१८८

बाह्याभ्यंतर सर्व संग से
होकर पूर्ण मुक्त निष्काम ।
आत्म द्वार पाकर निजात्म को
उसमें ही करता विश्राम ॥
कर्म और नोकर्म द्रव्य पर
नहिं किंचित् भी देकर ध्यान ।

आत्मध्यान रत होकर करता
अनुपम चिदानंद रसपान ॥

१८९

वह शुद्धात्म तत्व का ज्ञाता
दृष्टा स्वानुभूति रसलीन ।
आत्माश्रय ले बन जाता है—
पावन कर्म कलंक विहीन ॥
संवर की बस यही रीति है
ज्ञाता दृष्टा रह अम्लान ।
राग द्वेष मोहादि विकृति तज
करना चिदानंद रसपान ॥

भावार्थः— सर्व प्रथम इच्छाओं को रोक एवं मन वचन काय की पुण्य पापामयी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों को वश कर भेद विज्ञान के द्वारा शाँत (सम) भाव पूर्वक आत्मा में प्रवेश करे अर्थात् एकाग्र होकर आत्म स्वरूप का चिन्तन करे तब उसे सम्यग्दर्शन ज्ञानमयी स्व तत्व की उपलब्धि होगी एवं अन्य वस्तुओं की बाँछाएँ तब स्वयं विलीन हो जावेंगी—इससे वह वास्तव में स्वस्थ हो जावेगा, इसे आत्मा का स्वास्थ्य कहते हैं ।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहों की चिन्ताओं से मुक्त होकर वह स्वानुभूति में लीनता द्वारा कर्म नो कर्म आदि का ध्यान न कर आत्म ध्यान में लीन हुआ चिदानन्द का आस्वादन करने लगता है । इससे पूर्ण संवर होकर निर्जरा भी होती है ।

शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि से स्वानुभूति का रसास्वादन करने वाला ज्ञाता दृष्टा यही जीव आत्माश्रय ले कर्म कलंक धोकर शुद्ध (परमात्मा) बन जाता है ।

(१९०)

आस्रव और संवर के विषय में सर्वज्ञ की घोषणा

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य ॥१९०॥

राग द्वेष का हेतु जिन कथित
कर्म शक्तियाँ ही है म्लान।
जो मिथ्यात्व अज्ञान अविरमण
पूर्व कथित हैं अध्यवसान ।।
इनके उदय काल रागादिक–
भाव जीव कर विविध प्रकार।
कर्म बंध करता, कर्मों से–
देह, देह प्रतिफल संसार ।।

भावार्थः—आत्मा में राग द्वेष की उत्पत्ति के हेतु मिथ्यात्व अज्ञान आदि रूप बद्ध कर्मों की प्रकृतियाँ हैं। इनके उदय के निमित्त से उत्पन्न जीव के रागादि भाव ही अध्यवसान कहलाते हैं। जिनसे आत्मा में नवीन कर्मों का बंध होता है और कर्मों के बंध के फल स्वरूप नवीन देह की प्राप्ति होती है तथा देह धारण करने से जन्म मरण करने रूप संसार की परिपाटी चलती है।

(१९१)

हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसव भावेण विणा जायदि कम्मस्स वु णिरोहो ।।१९१।।

राग द्वेष मोहादि विकारी–
भाव सतत आस्रव के द्वार।
ज्ञानी बने निरास्रव, इनका–
कर अभाव निज रूप सँभार ।।
यतः बिना कारण न कार्य हो
यही प्राकृतिक वस्तु विधान।
आस्रव भाव विकार न हों तो
आस्रव का भी हो अवसान ।।

भावार्थः— कारण बिना कार्य नहीं होता—यह नियम है, अतः आस्रव और बंध के कारण जो जीव के रागादि भाव हैं उनको न कर ज्ञानी निरास्रव बन जाता है और निरास्रव होने का ही दूसरा नाम संवर है ।

(१९२)

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणवि जायदि णिरोहो ।
णो कम्माणि रोहेण य संसार णिरोहणं होवि ।।१९२।।

कर्मों का आस्रव रुकने से
नोकर्मों का भी अविराम–।
होता सहज विराम नियम से–
जीव तभी पाता विश्राम ।।
कर्म तथा नोकर्मों का जब
सँवर हो परिपूर्ण पवित्र–।
तब संसार सँवरण का भी
अंत स्वयं हो जाता, मित्र !

भावार्थः— कर्मों का आस्रव रुक जाने से नोकर्मों का आश्रव और बंध भी नहीं होता । तथा कर्मों और नो कर्मों के आश्रव और बंध रुक जाने से पूर्व कर्मों की निर्जरा होकर संसार संसरण का स्वयं अन्त हो जाता है ।

इति संवराधिकार :

अथ निर्जराधिकार :

(१९३)

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणं चेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरा णिमित्तं ॥१९३॥

जड़ चेतन द्रव्यों का करता
जो सुदृष्टि ऐंद्रिय उपभोग-।
कर्म निर्जरा का निमित्त वह
बन रहता है सहज नियोग ॥
यतः भोग में तन्मय हो नहिं-
रस लेता वह रंच प्रवीण ।
यों नव कर्म नहीं बँधते हैं
उदयागत हो जायें क्षीण ॥

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि जीव अपने पूर्व संचित कर्म फलों को भोगते समय जो जीव अजीव द्रव्यों का इन्द्रियों द्वारा उपभोग करता है वह कर्म फल भोग उसे कर्मों की निर्जरा का कारण होता है—इसका कारण यह है कि वह मिथ्यादृष्टि के समान विषय भोगों में सुख की कल्पना नहीं करता और न रूचिपूर्वक वस्तुओं का उपभोग करता । अतः उदासीनतापूर्वक रहने और वर्त्तने से नवीन कर्मों का बंध न होकर संवर होता है और पूर्वबद्ध कर्मों के फल में राग द्वेष न करने के कारण उदयागत कर्मों के दूर होजाने से उनकी निर्जरा भी होती है । इस निर्जरा को द्रव्य निर्जरा कहते हैं ।

(१९४)

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्ख मुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि ॥१९४॥

पर द्रव्यों के भोग समय जो
सुख दुख होते हैं उत्पन्न ।
उन्हें जानता; किंतु न होता-
तन्मय स्वयं विकारापन्न ॥

यतः कर्म फल में सुदृष्टि को
विद्यमान रहता समभाव ।
अतः न नव कर्मों से बँध कर
बद्ध कर्म करता वह छार ।।

भावार्थः— सम्यग्दृष्टि जीव अन्य द्रव्यों का उपभोग करते समय जो सुख-दुख उदय में आते हैं उन्हें वह जानता है; किन्तु वह राग द्वेष न कर स्वयं सुखी व दुखी न होकर समभावी बना रहता है, अतः समभावों से नवीन कर्मों का बंध नहीं होता तथा उदयागत कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं, वे उसके समभाव ही भाव निर्जरा कहलाते हैं।

(१९५)

ज्ञानी की ज्ञान शक्ति का दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शन

जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुञ्जदि णेव बज्झतेणाणी ।।१९५।।

विष भक्षण कर भी कुमृत्यु से
ज्यों बच जायें वैद्य प्रवीण।
त्यों उदयागत कर्म फलों में
ज्ञानी रहता बंध विहीन ।।
भक्षण पूर्व नष्ट करता है—
वैद्य यथा विष मारण शक्ति ।
त्यों ज्ञानी नव बंध न करता—
सुख दुख भोग बिना आसक्ति ।।

भावार्थः— जैसे प्रवीण वैद्य विष को भक्षण करता हुआ भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि वह विष खाने के पहिले ही मन्त्र द्वारा या शोधन क्रिया द्वारा उस विष की शक्ति को नष्ट कर देता है—उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी बंध के कारण भूत रागादि विकारों द्वारा होने वाले बंध की शक्ति को समभावों रूपी मन्त्र द्वारा नष्ट कर कर्म फलों को (सुख-दुखादि को) भोगता हुआ भी नवीन बंध को प्राप्त नहीं होता ।

(१९६)

वैराग्य शक्ति का प्रदर्शन

जह मज्जं पिवमानो अरदि भावेण ण मज्जदे पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झते तहेव ॥१९६॥

जन परवश यदि अरति भाव से—
करे कदाचित् मदिरा पान।
तदपि प्रमत्त न होता किंचित्—
है विराग में शक्ति महान॥
अरति भाव से त्यों ज्ञानी भी—
करता यदि द्रव्यों का भोग।
तदि नव कर्म न बाँध-पुरातन—
का करता वह सहज वियोग॥

भावार्थः— जैसे कोई भद्र पुरुष कुसंग में पड़कर यदि अरुचिपूर्वक बलात् (अरति भाव से) मदिरा पान कर भी लेता है तथापि वह नशे में में मत्त नहीं होता——उसी प्रकार ज्ञानी वैरागी जन भी अरति भाव से वस्तुओं का उपभोग करता हुआ भी कर्मों का बंध न करके पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा का ही पात्र होता है।

(१९७)

वैराग्य की शक्ति का और भी समर्थन

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो को वि।
पगरण चेट्ठा कस्स वि ण य पागरणोत्ति सो होदि ॥१९७॥

१९७/१

उदासीन रह सेवन कर भी सेवक नहिं बनता समदृष्टि।
नहिं सेवन कर भी रागी जन करता सतत बंध की सृष्टि॥
यथा सेवकों द्वारा स्वामी हित हो जो आदान प्रदान।
स्वामी ही उस लाभ हानि का प्रतिफल पाता नियम प्रमाण॥

१९७/२

हों सुदृष्टि में निहित शक्तियाँ ज्ञान और वैराग्य प्रधान।
औदासीन्य भावरत रह वह विषय विरत रहता संज्ञान ।।
वीतरागता से परिप्लावित अंतर्दृष्टि स्वस्थ स्वाधीन—
रहता बंध विहीन, किंतु नित रागी करता बंध नवीन ।।

भावार्थ:— यदि कोई भी विरागी पुरुष उदासीन भाव से किसी वस्तु का सेवन करता है तो वह उसका सेवन करते हुए भी सेवक नहीं कहलाता; किंतु सेवन करने की रुचि रखने वाला रागी पुरुष सेवन न करते हुए भी उसका सेवक कहलाता है और बंध को भी प्राप्त होता है। जैसे वीतरागी साधु क्षुधा को शान्त करने हेतु आहार विहारादि क्रियाओं में आहारादि को सेवन करते हुए भी अनाहार कहलाते हैं और भूखे भिक्षुक को आहार की तृष्णा सदा बनी रहने के कारण वह आहार न करते हुए भी उसमें गृद्धता के कारण सदा ही उसका सेवक बना रहता है।

वस्तुत: सम्यग्दृष्टि जीव में नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्तियाँ बनी रहती हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन के हो जाने पर वे संसार शरीर और भोगों से उदासीन होजाते हैं—उनकी दृष्टि में विषयभोगों की नि:सारता आजाने से उनमें उनकी रुचि समाप्त हो जाती है। अत: उसका अन्त:करण वीतरागता के प्रति सदा जागरूक बना रहता है अत: वह अपने विशुद्ध भावों से कर्मों की निर्जरा करता है और सरागी सदा कर्मों से बँधता रहता है।

(१९८)

ज्ञानी की कर्मफलों में परत्व की भावना

उदय विवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण हि ते मज्झ सहावा जाणग भावो दु अहमेक्को ।।१९८।।

श्री जिन कथित विविध कर्मों के
हैं विपाक या जो परिणाम।
वे स्वभाव नहि मम समग्रत:
मैं हूँ ज्ञायक भाव ललाम ।।

सम्यग्दृष्टि सतत रहता यों–
स्वानुभूति रस में तल्लीन।
वीतराग दर्शन प्रसाद से
होते उसके बंधन क्षीण ।।

भावार्थः— श्री जिनेन्द्र भगवान् ने जो नाना प्रकार सुख दुख रूप कर्मों के विपाकों का कथन किया है । वे विपाक मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव हूँ । अर्थात् मेरा स्वभाव तो केवल जानने देखने का है—कर्मों और कर्मफलों में—जो सुखदुख रूप हैं—मेरा कोई ममत्व नहीं है क्योंकि वे कर्मोदय जन्य होने से मेरे नहीं हैं ।

(१९९)

रागादि भावों प्रति सम्यग्दृष्टि के विचार

पोग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमेक्को ।।१९९।।

पुद्गल कर्म राग है, उसके–
उदय जन्य है राग विभाव ।
नहि कदापि वह मम स्वभाव है–
मम स्वभाव चिर ज्ञायक भाव ।।
राग, द्वेष, मोहादिक जितने
भी संभव हैं आत्म विकार–।
वे सब मम स्वरूप नहि, केवल–
मैं हूँ ज्ञानमयी अविकार ।।

भावार्थः— पुद्गल कर्मरूप जो राग है उसका जब उदय आता है तब अज्ञानी आत्मा उसके रंग में रंग कर रागी-राग भाव का कर्त्ता बन जाता है; किन्तु ज्ञानी विचारता है कि राग भाव आत्मा में विकार स्वरूप उत्पन्न हुआ है, यह विकार-विभाव मेरा शुद्ध स्वरूप कैसे हो सकता है ? मेरा स्वरूप तो ज्ञायक भाव रूप है । राग के समान क्रोधादि विकारों के प्रति भी ज्ञानी की परत्व भावना रहती है ।

(२००)

भेद विज्ञान का माहात्म्य

एवं सम्माविट्ठी अप्पाणं मुणेदि जाणग सहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

२००/१

एवं सम्यग्दृष्टि स्वात्म को ज्ञायक भाव स्वभावी जान।
पुद्गल कर्म तथा तत्फल में करता नहि रागादिक म्लान ॥
उसमें विद्यमान रहती है ज्ञान-विराग शक्ति अमलीन।
जिससे निश्चय मुक्ति पथिक बन सतत कर्ममल करता क्षीण ॥

भावार्थः— इस प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वयं को ज्ञायक भाव स्वभावी जानकर सम्पूर्ण कर्मों और उनके फलों मे रागादि विकारी भाव नहीं करता। कर्म फलों को कर्मों का उदय ही मानता है; क्योंकि उसमें ज्ञान और वैराग्य—अर्थात् हिताहित का विवेक एवं पर वस्तुओं के प्रति त्याग या उदासीनता सहज ही उत्पन्न हो जाती है। इसीसे मुक्ति का पथिक बन कर वह कर्मों का क्षय करने लग जाता है।

२००/२

राग द्वेष में सना हुआ है जिसका अंतरंग विभ्रांत।
फिर भी घोषित करता वंचक—'मैं हूँ सम्यग्दृष्टि नितांत—॥
कर्म बंध नहि मुझे तनिक' यों मान गर्व से हुआ स्वच्छंद।
वह पापी सम्यक्त्व शून्य जन काटेगा कैसे भव फंद ?

भावार्थः— जिनका आत्मा राग द्वेषादि मलों में सनकर मलिन हो रही है; किन्तु वे अपने आपको बड़े गर्व से सम्यग्दृष्टि घोषित करते हुए मानते हैं कि 'मुझे तनिक भी कर्मों का बंध नहीं होता; क्योंकि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।' ऐसा मानकर जो स्वच्छन्द विहारी बने हुए हैं ऐसे जन अविरती हों या व्रत समिति भी पालते हों—पापी हैं—तथा हिताहित विवेकशून्य होकर सम्यक्त्व से रहित भी हैं। वे संसार से मुक्त कैसे हो सकेंगे ?

(२०१)

अणुमात्र रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं

परमाणु मेत्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥

अणु जितना भी विद्यमान है–
यदि घट में रागादि विभाव ।
आतम ज्ञान परिशून्य व्यक्ति वह–
सिद्ध इसी से स्वतः स्वभाव ॥
उसने नहिं आतम को जाना
पर में कर निज भ्रांति नितांत ।
होकर भी सिद्धांत सिंधु का–
पारग–रहा भ्रांत का भ्रांत ॥

भावार्थः— जिसकी आत्मा में अणुमात्र भी राग है अर्थात् रागभाव के प्रति निजत्व की श्रद्धा ज्ञान और तत्पूर्वक आचरण है वह जीव सचमुच ही आत्म स्वरूप के ज्ञान से शून्य है; क्योंकि उसने राग को जो कि विभाव-विकार है अपना स्वभाव मान लिया है। ऐसा व्यक्ति यदि समस्त सिद्धांत सिन्धु का पारगामी—अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता भी हो तो भी आत्मज्ञान शून्य मिथ्यादृष्टि ही है।

(२०२)

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
किह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥

२०२/१

जिसने आत्म नहीं पहिचाना वह अनात्म क्या जाने दीन ?
स्व-पर भेद विज्ञान बिना वह कैसा सम्यग्दृष्टि प्रवीण !
जीवाजीव तत्व बिन समझे रागादिक नहिं होते शांत ।
रागादिक बिन छूटे व्यक्ति भी सम्यग्दृष्टि कथं विभ्रांत ?

भावार्थः— जिसने आत्मा के स्वरूप को नहीं जाना उसने अनात्मा (अजीव) को भी नहीं जाना और इस प्रकार आत्म-अनात्म ज्ञान शून्य व्यक्ति कैसा सम्यग्दृष्टि है? जीव और अजीव तत्व को यथार्थ रूप में (उनके-उनके गुणों और पर्यायों सहित) बिना जाने और अनुभव किये बिना रागादि भावों का अभाव नहीं तथा रागादि विकार भावों से ममत्व छुटे बिना व्यक्ति भी सम्यग्दृष्टि नहीं।

२०२/२

शंका-समाधान

रागी सम्यग्दृष्टि न होता भगवन्! यह दूषित सिद्धांत।
आगम में सर्वत्र कथित है – जब सराग सम्यक्त्व नितांत॥
सुनो भव्य! है कथन यहाँ पर वीतराग सम्यक्त्व प्रधान।
वीतरागता प्राप्ति लक्ष्य है इतर पक्ष सब गौण सुजान॥

भावार्थः— हे भगवन्! 'रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता' यह कथन और मान्यता दूषित प्रतीत होती है; क्योंकि जिनागम में सराग-सम्यक्त्व का स्पष्टतया निरूपण किया गया है। यह एक आपत्ति है। इसका समाधान यह है कि यहाँ पर और इस ग्रंथ में वीतराग सम्यक्त्व की प्रधानता से कथन किया गया है; क्योंकि साधक का लक्ष्य आत्मशुद्धि हेतु वीतरागता को प्राप्त करना रहता है। सम्यक्त्व के साथ राग का रहना कोई आदर्श या हित की बात नहीं है।

सराग सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य भी यद्यपि वीतरागता को प्राप्त करना ही रहता है; किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि को यहाँ गौण किया जाना वीतराग सम्यक्त्व की उत्कृष्टता प्रदर्शन करने की दृष्टि से जानना चाहिए।

२०२/३

यह प्राणी संसार दशा में राग द्वेष रत हुआ प्रमत्त।
पर पद निज पद मान बन रहा सतत अपद में ही संतृप्त॥
भव्य बंधु! अब तो सचेत हो अपना पावन पद पहिचान।
तू निश्चित चैतन्य धातु है रागादिक हैं मैल समान॥

भावार्थः— संसार में यह जीव रागी द्वेषी बना हुआ प्रमत्त होरहा है और परपद को स्वपद मानकर अपद में ही तृप्त होरहा है। जिससे दुखी भी बना हुआ है।

हे भव्य! तू अब तो सचेत होकर अपना पद पहिचान।
अपना पद राग द्वेष रहित वीतराग चिदानन्द स्वरूप है।

(२०३)

पर पद और स्वपद में अन्तर दिखाते हुए संबोधन

आदम्हि दव्व भावे अपदे मात्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिदं भावं उवलम्भंतं सहावेण ॥२०३॥

अन्य द्रव्य भावाश्रित होते—
निज में जो चैतन्य विकार—।
वे सब नहिं तव पद हो सकते—
तू शुद्धात्म तत्व अविकार ॥
तज सब पर पद-स्वपद ग्रहणकर
ज्ञानानंदमयी — निर्भ्रान्त।
जो शाश्वत स्वाभाविक पावन
एक शुद्ध चिद्रूप महान ॥

भावार्थः— आत्मा में जो अन्य द्रव्य और भावों के आश्रित गुण-स्थान आदि गत अनेक प्रकार के अनियत, अस्थायी और अनेक अशुद्ध भाव हैं उन्हें स्वपद मानना छोड़कर अपने ज्ञानानन्दमयी स्वाभाविक, स्थिर, एक जो शुद्ध चैतन्यमयी भाव है उसको ही हे आत्मन्! तू ग्रहण कर।

(२०४)

ज्ञान गत भेद व्यवहार से है निश्चय से नहीं

आभिणि सुदोहिमण केवल च तं होदि एक्क मेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

२०४/१

मति, श्रुत, अवधि तथा मन पर्यय केवल गत जो भेद अनेक—।
नय व्यवहार प्रमाण विश्रुत हैं निश्चय ज्ञान चेतना एक ॥

हीनादिक होता रहता ज्यों रवि प्रकाश घनपटलाधीन ।
किंतु वस्तुत: रवि प्रकाश है एक अखंड स्वस्थ स्वाधीन ।।

२०४/२

तथा ज्ञान भी आत्माश्रित है एक अखंड नित्य सद्रूप ।
जिसका आश्रय ले योगीजन पाते परमानंद अनूप ।।

यत् प्रसाद हों नष्ट भ्रांतियाँ, कर्म शक्तियाँ होती क्षीण ।
एवं रागादिक परिणतियाँ जीवन में हो जाँय विलीन ।।

भावार्थ:— निश्चय नय से आत्मा एक ज्ञान चेतना स्वरूप है; किन्तु व्यवहार से मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यय और केवल ज्ञान के भेद रूप पाँच प्रकार है । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश वस्तुत: एक है; किन्तु बादलों की सघनता या विरलता के कारण वह ही नाधिक रूप में अनुभव में आता है इसी प्रकार कर्मोदय के निमित्त से ज्ञान की होने वाली पर्यायों के कारण ज्ञान भी अनेक प्रकार अनुभव में आता है; किन्तु है वह एक ही ।

योगीजन एक अखंड ज्ञान स्वभाव का आश्रय लेकर जब ध्यान में स्थिर होते हैं तभी परमानन्द दशा को प्राप्त होते हैं । ज्ञान स्वभाव का आश्रय लेने से रागादि परिणतियों का नाश एवं कर्म शक्तियों का ह्रास तथा सभी प्रकार की भ्रान्तियों का विनाश सहज ही हो जाता है । निर्विकल्प ज्ञान का माहात्म्य अचिन्त्य है ।

(२०५)

णाण गुणेण विहीणा एवं तु पदं बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ।।२०५।।

भव्य ! चाहता यदि कर्मों से—
मुक्ति तथा पावन पद प्राप्ति ।
तदि ज्ञायक भावाश्रय ले तू
जिससे हो कृत बंध समाप्ति ।।
काय क्लेश आदिक अनेक विधि
तपश्चरण कर भी अज्ञान—।

वीतराग विज्ञान बिना नहिं
पावें पावन पद निर्वाण ।।

भावार्थः— हे आत्मन् ! यदि तू कर्मों के बंधन से मुक्त होकर परम पद की प्राप्ति करना चाहता है तो स्वपद (ज्ञायक भाव) का आश्रय ले अर्थात् पर पदार्थों के प्रति राग द्वेषादि भाव न कर केवल उनका ज्ञाता दृष्टा मात्र बन जा । राग द्वेषादि विकारों में तेरी स्थिति ही पर पद रमण कहलाता है—जिससे कर्म बंध होता है । जब तक तू स्वपद का आश्रय नहीं लेगा और राग द्वेष करता रहेगा तब तक संसार के दुःखों से मुक्ति मिलना असंभव है । राग द्वेषादि भाव स्वयं दुःख रूप हैं । इन्हें सुखदायक या स्वभाव मानना दयनीय भ्रम है । जिससे छुटकारा पाकर ज्ञाता दृष्टा बनने में ही आत्महित है । जबकि सांसारिक सुख दुःखों में इष्टानिष्ट की कल्पना करते हुए काय क्लेशादि रूप घोर तपश्चरण भी आत्म हितकारक नहीं है ।

(२०६)

उक्त कथन का समर्थन

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं ।।२०६।।

२०६/१

अतः भव्य ! तू ज्ञान भाव में रत हो तज मिथ्या अज्ञान ।
राग द्वेष मोहादि विरत बन रुचि से कर ज्ञानामृत पान ।।
आस्वादन कर इसका ही जो हो जाये संतुष्ट प्रवीण ।
वही अतीन्द्रिय सुखसागर में केलि करे बन कर स्वाधीन ।।

२०६/२

अतुल ज्ञान चिंतामणि राजित वर अचिन्त्य सामर्थ्य निधान ।
तू सर्वार्थ सिद्धि संभूषित स्वयंदेव चिद्रूप महान ।।
स्वपद विरच जो अजर अमर है निर्विकार शाश्वतसुख खान ।
अन्य परिग्रह की चिंता कर क्यों व्याकुल है बना अजान ।।

भावार्थः— हे भव्य ! यदि तू ज्ञायक स्वभाव का आश्रय लेकर उसी में निमग्न हो जावेगा—अर्थात् ज्ञाता दृष्टा मात्र बन जावेगा और

उसी में संतोष को प्राप्त भी हो जाएगा तथा पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना कर उनमें रागद्वेष भी न करेगा तो ज्ञानामृत पान में तुझे अनुपम आत्मिक सुख की प्राप्ति हो जाने से परमपद में सदा के लिए स्थिर हो जावेगा।

हे भव्य! तेरी आत्मा तो अनन्त ज्ञानमयी चिन्तामणि रत्न से शोभित, अचिंत्य शक्ति विभूषित, सर्वार्थ सिद्धियों से सम्पन्न स्वयं देवस्वरूप हैं। अतः तू अपने इस देवत्व पद का ध्यान करते हुए उसी में रम जा तथा उसीसें सन्तुष्ट हो। अन्य वस्तुओं की चाह और चिन्ताकर व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल क्यों होता है?

(२०७)

पर द्रव्य को कोई भी ज्ञानी अपना नहीं कह सकता।

को णाम भणेज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।।२०७।।

आत्म-भिन्न जड़ चेतन जितने—
द्रव्य भाव हैं भव्य! अनंत—।
ज्ञानी कौन कहेगा उनको —
ये सब मेरे ही हैं, संत!
यतः स्व जो है वही रहेगा,
अतः स्व की तू कर पहिचान।
स्व में स्व को संप्राप्त व्यक्ति ही
पाता पावन पद निर्वाण ।।

भावार्थः— संसार में आत्मा से भिन्न जड़ और चेतन अनन्त पदार्थ विद्यमान हैं; किन्तु ऐसा कौन ज्ञानी है जो उन आत्म भिन्न पदार्थों को अपना मानकर यह कहेगा कि ये मेरे हैं? यतः जो अपना है वही अपना हो सकता है। पर द्रव्यों और उनके भावों को अपना मानना तो भ्रम है। अतः तू स्व को ही स्व जान और पर में स्व की कल्पना न कर के परमात्म पद को प्राप्त हो।

(२०८)

ज्ञानी की उच्च विचारधारा

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झं ॥२०८॥

मैं पर बन जाऊँ तो निश्चित
आत्म तत्व का होगा नाश ।
पर बन जाने पर न स्वयं में
रह सकता चैतन्य प्रकाश ॥
ज्ञान पुंज मैं देव स्वयं हूँ
सर्व परिग्रह मुझ से अन्य ।
ज्ञायक भाव स्वभावी हूँ मैं
अन्य भिन्न सब पुद्गल जन्य ॥

भावार्थ:— वस्तुत: जड़ में जड़ की और चेतन में चेतन की सत्ता और स्वामित्व पाया जाता है । यदि जड़ पदार्थों को अपना माना जाएगा तो चेतन स्वयं ही जड़ बन जावेगा । जबकि मैं प्रत्यक्ष ही ज्ञान का पुञ्ज स्वयं देव स्वरूप हूँ और जड़ पदार्थ मुझसे भिन्न (स्पष्ट) दिख रहे हैं । अब इन जड़ पदार्थों को अपना मानने की मूर्खता क्यों करूँ । ऐसा ज्ञानी सदा विचारता रहता है ।

(२०९)

ज्ञानी की परिग्रह में निर्ममत्व भावना

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहवजादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं ॥२०९॥

छिद जाये भिद जाए अथवा
विलय प्रलय को हो संप्राप्त ।
किसी दशा में भी न परिग्रह—
स्वत्व कभी कर सकता प्राप्त ॥

देह गेह धन जन सब पर हैं
पर ही रहते सर्व प्रकार।
यों ज्ञानी निश्चय कर रहता
स्वस्थ - परिग्रह चिंता टार ॥

भावार्थः— ज्ञानी विचार करता है कि यह परिग्रह छिन्न-भिन्न होकर या विलय-प्रलय को प्राप्त होकर भी अपना नहीं हो सकता, आत्मा नहीं बन सकता। देह, गेह, धन, धान्यादि तो स्पष्टतः पर दिख रहे हैं और भविष्य में भी पर ही रहेंगे ऐसा विचार कर ज्ञानी निष्परिग्रही बन कर स्वस्थ हो जाता है।

(२१०)

ज्ञानी पुण्य की बाँछा भी नहीं करता

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१०॥

इच्छा को ही कहा परिग्रह—
जो निरिच्छ वह परिग्रह हीन।
ज्ञानी रह निरिच्छ नहिं करता
धर्मेच्छा भी रंच प्रवीण ॥
आत्म ज्ञान संपन्न साधु के
ऐहिक सुख समृद्धि की हीन—।
चाह न रहती अतः पुण्य का—
ज्ञाता ही वह रहे प्रवीण ॥

भावार्थः— पर वस्तु की चाह करना ही परिग्रह है। अतएव जिसने समस्त बांछाओं का त्याग कर दिया वह निष्परिग्रह है। यतः आत्मज्ञानी साधक को पर वस्तु की बाँछा नहीं होती अतः वह पुण्य कर्म की व फल की बांछा भी नहीं करता (कि मुझे पुण्य बंध हो) पुण्य का मात्र ज्ञाता रहता है और निष्काम कर्म करता है।

(२११)

ज्ञानी अधर्म (पाप) की वांछा भी क्यों करेगा ?

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२११।।

जबकि परिग्रह इच्छा ही है–
हो कुछ भी या किसी प्रकार ।
यों न पाप की बांछा करता
ज्ञानी जन जो विरत विकार ।।
क्रोधमान माया लोभादिक –
राग द्वेष मिथ्यात्व, निदान–।
सब संकल्प विकल्प व्याधि तज
ज्ञाता ही रहता मतिमान् ।।

भावार्थः–– जबकि इच्छा करना ही परिग्रह है तब ज्ञानी साधक अधर्म (पाप कर्म) की बाँछा भी क्यों करेगा ? इसी प्रकार क्रोधमान माया लोभ मिथ्यात्वादि की बाँछा न करता हुआ वह समस्त संकल्प-विकल्पों से दूर होकर आत्म स्वरूप में लीन हो जाता है। वह पर का मात्र ज्ञाता ही रहता है।

(२१२–२१३)

ज्ञानी असन-पान की इच्छा भी नहीं करता

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं तु णेच्छदे णाणी ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१२।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णेच्छदे णाणी ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ।।२१३।।

असन पान की चाह अंततः
इच्छा ही है एक प्रकार ।
अतः न ज्ञानी असन पान की
इच्छा कर बनता सविकार ।।

यद्यपि असन पान करता वह
किंतु निरिच्छ रहे तत्काल।
अनासक्त रहता ज्ञायक बन–
आत्म साधना लीन त्रिकाल ॥

भावार्थ:— असन पान करने की इच्छा भी एक प्रकार इच्छा ही कही जाती है। अतः ज्ञानी राग भाव से उसकी भी चाह नहीं करता। यद्यपि वह असन पान करता है; किंतु करते हुए भी विराग भावी बना रहने से और भोजन में आसक्ति न होने से वह निरिच्छ ही कहलाता है। जैसे रोगी मनुष्य औषधि खाने की इच्छा न रहते भी रोग दूर करने के लिए उसका सेवन करता है उसी प्रकार क्षुधा रोग की शान्ति करने साधु भी आहार तो ग्रहण करते हैं, पर उसमें गृद्धता या राग नहीं करने से निरिच्छ ही कहे जाते हैं—क्योंकि तप, संयम, ध्यानादि की वृद्धि करना ही उनका उद्देश्य रहता है।

(२१४)

उक्त कथन का उपसंहार

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छिदे णाणी।
जाणगभावो णियदे णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

इस प्रकार ज्ञानी के होता–
सर्व परिग्रह का परित्याग।
इच्छाओं का दास न बन कर
धारण करता पूर्ण विराग ॥
बाह्य विषय चिंता विमुक्त हो
पावन परमानंद स्वरूप –।
स्वानुभूति रस पान मगन ह्वै
ध्याता शुचि-चिद्रूप अनूप ॥

भावार्थ:— इस प्रकार ज्ञानी साधु सम्पूर्ण परिग्रहों की चिन्ताओं एवं वांछाओं का त्याग करता है और इच्छाओं का दास न बन कर वैराग्य भाव से स्वानुभूति में निमग्न होकर शुद्ध चिद्रूप का ध्यान करता है।

(२१५)

ज्ञानी की वैराग्य दशा

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२१५॥

२१५/१

इन्द्रिय भोग सहज में ही जो ज्ञानी को होते हैं प्राप्त—।
नश्वर जान न रमता उनमें वह विराग वैभव संप्राप्त ॥
एवं आगामी विषयों की बांछा कर होता नहिं म्लान ।
भूतकाल में भुक्त भोग भी नहिं संस्मरण करे मतिमान् ॥

२१५/२

जीव मोहवश रह अनादि से सतत स्वानुभव शून्य नितांत ।
पर में सुख की भ्रांत कल्पना करता चला आ रहा भ्रांत ॥
दुख सहते बीते अनंत युग, मृग तृष्णा पर हुई न शांत ।
फिर भी विषय वासना विष में सुख को खोज रहा दिग्भ्रांत ॥

भावार्थ:—ज्ञानी जनों को जो अनपेक्षित सहज ही में इन्द्रियों के भोग प्राप्त होते हैं वह उनमें रुचि पूर्वक रमण नहीं करता; किन्तु उन्हें नश्वर एवं पराधीन जान उनसे विरक्त ही बना रहता है। तथा न वह भविष्य के लिए उन भोगों की चाह करता और न भूतकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण ही करता। जबकि अज्ञानीजन अनादिकाल से स्वानुभूति शून्य रह अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को भुलाए हुए पर वस्तुओं के भोग में ही सुख की भ्रांत कल्पना किये रहता है और बारम्बार उनके भोग लेने पर भी यद्यपि सुख नहीं मिलता—किन्तु सुख न मिलने पर भी उसका भ्रम दूर नहीं होता। इसीलिए वह मृगतृष्णा में पड़ा रहकर सदा दुखी ही बना रहता है।

(२१६)

ज्ञानी वेदक वेद्य भावों के जाल में भी नहीं उलझता।

जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उहयं पि ण कंखदि कयावि ॥२१६॥

२१६/१

जो जाने वह वेदक, जाना जाता वेद्य वही मतिमान्।
वेदक वेद्य भाव का प्रतिपल होता रहता नाश, निदान।।
जो बाँछा करता वह प्रिय की प्राप्ति काल तक रहे न दीन।
जो प्रिय प्राप्त हुआ है उसकी उत्तर क्षण पर्याय विलीन।।

२१६/२

प्रति क्षण नष्ट हो रहे वेदक वेद्य भाव पर्याय विकार।
नश्वर शीलों में ज्ञानी जन नहीं उलझते बन सविकार।।
पर्यायाश्रित मतिभ्रम होता उसे क्षीण कर त्वरित प्रवीण—।
ज्ञानी शुद्ध स्वभाव भाव का अनुभव करता है अमलीन।।

भावार्थः— जानने के भाव को वेदक और जानने में आई जो वस्तु है वह वेद्य कहलाती है। इन दोनों भावों को ज्ञानी जीव क्षणिक जानता है; क्योंकि बाँछा करने वाला वेदक भाव बाँछित वस्तु के प्राप्त होने पर विलीन होजाता है और भोगने योग्य वस्तु भी तब तक परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार दोनों ही क्षणिक और नश्वर हैं। वेदन करने और वेद्य होने वाली पर्यायें क्षणिक होती हैं। अतः ज्ञानी वेदक वेद्य भावों की कांक्षा न कर उनका ज्ञायक मात्र बना रहता है।

(२१७)

बंध के कारण अध्यवसानों के उदय में

बंधुवभोग णिमित्ते उज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स।
संसार–देह–विसयेसु–णेव उप्पज्जदे रागो ।।२१७।।

इन्द्रिय भोगों के निमित्त से
देहाश्रित सुख दुख हों म्लान।
राग द्वेष जीवाश्रित होते
बंध हेतु द्वय अध्यवसान।।
नहिं संसार देह भोगों में
ये ज्ञानी के हों उत्पन्न।

वह रहता ज्ञायक भावाश्रित
वर विराग वैभव सम्पन्न ॥

भावार्थः— इन्द्रिय भोगों के निमित्त से शरीर के आश्रित जो सुख दुख होते हैं उनमें राग और द्वेष भाव अज्ञानी जीव किया करता है। किन्तु ज्ञानी जीव को संसार देह और इन्द्रिय के विषयों में उदासीन भाव रहने के कारण वह इनमें राग द्वेष नहीं करता। ज्ञानी और अज्ञानी में यही भेद विशेष रूप में होता है।

(२१८–२१९)

दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी और अज्ञानी के भावों व इनके फलों में अन्तर

णाणी रागप्पजहो हि सव्वदव्वेसु कम्म मज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥

अण्णाणी पुण रत्तो हि सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरयेण दु कद्दम मज्झे जहा लोहं २१९॥

२१८

यत: जानता ज्ञानी निज को–
पुद्‌गलादि द्रव्यों से भिन्न।
फलत: वह निज भिन्न द्रव्य में–
राग द्वेष कर हो नहिं खिन्न ॥
यथा पंक में पड़ा स्वर्ण शुचि–
रहता उससे सदा अलिप्त।
कर्म मध्य रहकर त्यों ज्ञानी
कर्म रजों में हो नहिं लिप्त ॥

२१९

कर्म बद्ध वह है पहिले ही–
फिर करता दुर्भाव नितांत।

फलतः नूतन कर्म बद्ध हो—
यथा लोह कर्दम आक्रांत ।।
उद्यानों में कुसुम निरख ज्यों
बाल मचलता कर अनुराग ।
मोह विवश अज्ञानी भी त्यों
पर द्रव्यों में करता राग ।।

भावार्थः— क्योंकि ज्ञानी जीव आत्मा को पुद्‌गलादि द्रव्यों और उनके भावों से स्वयं को भिन्न जानता और मानता है अतः वह उनसे राग द्वेष नहीं करता और न कर्म फलों (सुख दुखादि) को तन्मय होकर भोगता है अतः कर्मों के बीच रहकर भी उनसे लिप्त नहीं होता । किन्तु अज्ञानी की स्थिति इससे भिन्न होती है ।जैसे बालक उद्यान में जाकर पुष्पों पर मोहित होकर उन्हें प्राप्त करने के लिए मचलने लगता है उसी प्रकार अज्ञानी पर वस्तुओं पर मोहित हो राग करने लगता है, इसीसे वह नवीन कर्मों से बंधने लगता है जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा जंग खाकर मलिन हो जाता है ।

(२२०–२२१)

एक अन्य दृष्टान्त द्वारा पूर्व कथन का समर्थन

भुञ्जंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्त मिस्सिए दव्वे ।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं ।।२२०।।
तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्त मिस्सिए दव्वे ।
भुञ्जंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ।।२२१।।

संख सचित्ताचित्त द्रव्य का
भक्षक है यद्यपि अविराम ।
किंतु स्वयं का श्वेत भाव तज
पर कृत नहिं बन जाता श्याम ।।
त्यों ज्ञानी भी विरत भाव से—
विविध वस्तु का कर उपभोग ।

नहिं अज्ञान रूप परिणमता—
स्वात्माश्रित रख निज उपयोग ।।

भावार्थ:— जैसे संख सचित्त और अचित्त सभी प्रकार की वस्तुओं का भक्षण करते हुए भी अपनी शुक्लता (श्वेत वर्ण) का परित्याग कर अन्य द्रव्य के काले पीले आदि रंगों में नहीं रंगता उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी पर वस्तुओं का विरति भाव से सेवन करने के कारण अज्ञान रूप नहीं परिणमता और इसीलिए बंध को भी प्राप्त नहीं होता ।

(२२२-२२३)

जइया स एव संखो सेदसहावं सयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्ह भावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ।।२२२।।
तह णाणी वि हु जइया णाण सहावं सयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ।।२२३।।

यथा शंख शुक्लत्व त्याग जब—
स्वयं परिणमें कृष्ण स्वरूप ।
उसकी यह परणति उसमें ही
हो रहती है सहज विरूप ।।
त्यों ज्ञानी प्रज्ञापराध वश
करता जब रागादि विकार ।
तब अज्ञान रूप परिणम कर
अपराधी बनता सविकार ।।

भावार्थ:- जैसे शंख जब स्वयं ही अपनी शुक्लता का परित्याग कर कृष्ण रूप परिणम कर अपना रंग काला बनाता है उसी प्रकार यह ज्ञानी प्राणी भी जब अपने ज्ञान स्वभाव से च्युत होकर अर्थात् रागी द्वेषी बनकर प्रज्ञापराधवश विकारी बनता है तब वह अज्ञान भाव को प्राप्त हो जाता है ।

२२३/२

वस्तु के परिणमन में निमित्त और उपादान

अभिप्राय यह है कि वस्तु में
सकल परिणमन विविध प्रकार–।
होता निश्चित निज स्वभाव से
अन्य न कर सकता सविकार ।।
बाह्य वस्तु होती निमित्त वह
जो परणति में हो अनुकूल ।
परिणमता जो स्वयं कार्य बन–
उपादान कारण वह मूल ।।

भावार्थः— तात्पर्य यह कि निश्चय दृष्टि से प्रत्येक वस्तु में परिणमन स्वभाव से अपनी अपनी योग्यतानुसार हुआ करता है—उसे दूसरा द्रव्य बलात् सविकारी नहीं बना सकता; किन्तु अन्य बाह्य वस्तुएँ जो परिणमन में सहायक या अनुकूल होती हैं वे निमित्त कारण कहलाती हैं और परिणमन करने वाली वस्तु उपादान कारण कहलाती है। उस समय वस्तु का विकारी परिणमन नैमित्तिक कहलाता है—स्वाभाविक नहीं।

२२३/३

उपादान एवं निमित्त का दृष्टान्त

कार्योत्पादक उपादान–निज, पर निमित्त सहयोगी जान।
कार्यकाल में ही निमित्त वा उपादान की हो पहिचान ।।
वैद्य प्रक्रिया कर शीशक जब स्वर्ण रूप परिणमें – नितांत–।
उपादान तब शीशक एवं वैद्यादिक निमित्त संभ्रांत ।।

भावार्थः— कार्य की उत्पत्ति में स्वयं कार्य रूप परिणत होने वाली वस्तु उपादान कहलाती है और उस समय उस कार्य के होने में जो पर वस्तु सहायक या सहयोगी होती है वह निमित्त कहलाती है। जैसे किसी वैद्य के द्वारा रासायनिक प्रक्रिया द्वारा शीशे की सोने के रूप में परिणति

हो गई, उस समय उस स्वर्ण रूप परणति में शीशा उपादान कहलावेगा और वैद्य आदि उसके निमित्त कारण कहलावेंगे। किन्तु निमित्त और उपादान का व्यवहार कार्य को होने पर ही हुआ करता है बिना कार्य के सम्पन्न हुए न कोई उत्पादन कहलाता और न निमित्त।

२२३/४

यों बाह्याभ्यंतर निमित्त का कार्यकाल में हो व्यवहार।
कभी कहीं इच्छानुकूल भी मिलते हैं वे स्वतः स्वभाव ।।
जब इच्छानुकूल मिलते तब अहंकार की होती सृष्टि।
अहंकार ममकार न करता किंतु कभी जो सम्यग्दृष्टि ।।

भावार्थः— निमित्त दो प्रकार के होते हैं, १. बाह्य निमित्त २. आभ्यन्तर निमित्त। जैसे किसी स्त्री को देख कर पुरुष के मन में काम वासना उत्पन्न हुई—तो वासना के उत्पन्न होने में स्त्री बाह्य निमित्त है और पुंवेद का उदय आभ्यन्तर निमित्त कहलाता है। ये निमित्त कभी-कभी इच्छनुकूल भी मिलते हैं जो कार्य में सहायक होते हैं; किन्तु अज्ञानी जीव के जो कार्य इच्छानुसार सम्पन्न होते हैं उनमें उसे अहंकार होने लगता है; जबकि सम्यग्दृष्टि कभी अहंकार नहीं करता।

२२३/५

उपादान और निमित्त का और भी स्पष्टीकरण

उपादान एवं निमित्त – है स्व पराश्रित कारण व्यवहार–।
कार्य बिना संभव नहिं होता उभय कारणों का निर्धार ।।
जननी - जनक कौन कहलाये–हुई न होवे यदि संतान।
एवं नियमित परस्पराश्रित है सब कारण कार्य विधान ।।

भावार्थः— कार्यों में निमित्त और उपादान का व्यवहार क्रमशः पराश्रित और स्वाश्रित हुआ करता है। किन्तु जब कार्य ही न हो तब न तो कोई निमित्त ठहरता है और न उपादान। जैसे सन्तान की उत्पत्ति में सन्तान उपादान और माता पिता निमित्त कहलाते हैं; किन्तु यदि संतान ही न हुई हो तो माता पिता होने का व्यवहार भी नहीं होता। इनमें उपादान कारण स्वाश्रित और निमित्त पराश्रित होता है।

२२३/६

प्रकारांतर से निमित्तों का कथन

जिनका आलंबन लेन से होती कार्य सिद्धि संपन्न ।
उनमें भी निमित्त कारणता होती निरपवाद निष्पन्न ।।
जिनवाणी सुन जब होता है भव्य जीव को सम्यग्ज्ञान ।
तब वाणी निमित्त कहलाती—उपादान वह व्यक्ति सुजान ।।

भावार्थः— जिन जिन बाह्य वस्तुओं के आलंबन लेने से कार्य संपन्न होते हैं उन्हें भी निमित्त कारण कहा जाता है जैसे भगवान् की वाणी को सुनने से यदि किसी व्यक्ति को सम्यग्दर्शन-ज्ञान उत्पन्न हो जाय तो भगवद्वाणी निमित्त और वह व्यक्ति उपादान कहलावेगा ।

(२२४–२२५)

अज्ञानी सकाम कर्म करता है इसका दृष्टान्त

पुरिसो जह को वि इह वित्ति णिमित्तं तु सेवदे रायं ।
तो सो वि देदि राया विविहं भोगे सुहुप्पादे ।।२२४।।
एमेव जीव पुरिसो कम्मरयं सेवदे सुह णिमित्तं ।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पादे ।।२२५।।

धन का इच्छुक व्यक्ति नृपति की—
जब सेवा करता दिन रात ।
तब प्रसन्न होकर नरपति भी
करता उसकी पूरी आस ।।
त्यों इंद्रिय सुख भोग प्राप्ति हित
जीव कर्म करते अविराम ।
तब बंध कर्म उन्हें प्रतिफल दें—
विविध भोग सुख हेतु ललाम ।।

भावार्थ:— जैसे धन की चाह करने वाला व्यक्ति जब राजा की सेवा करता है तब राजा प्रसन्न होकर उसकी आशा को पूर्ण कर देता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव भी इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति हेतु जो कर्म करता है तब कर्म बंध को प्राप्त होकर उसे इच्छित भोग सामग्रियाँ प्रदान कर देता है। जिन्हें भोग कर वह पुनः नवीन कर्मों से बँध जाता है।

(२२६–२२७)

सम्यग्दृष्टि निष्काम कर्म करता है

जह पुण सोच्चिय पुरिसो वित्ति णिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण दे वि राया विविहे भोगे सुहुप्पादे ।।२२६।।
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं ।
तो सो ण देवि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पादे ।।२२७।।

वही व्यक्ति जब वृति हेतु नहिं—
सेवा करता बन स्वाधीन।
तब नृप भी सुख सामग्री से
वंचित करता उसे प्रवीण ।।
त्यों ही सम्यग्दृष्टि न करता
जब विषयों हित कार्य सकाम।
तब कुछ भी फलदान न देकर
कर्म प्रकृतियाँ लें विश्राम ।।

भावार्थ:— वही व्यक्ति जब धन का अनिच्छुक बन कर राजा की सेवा नहीं करता तब राजा भी उसे सुख सामग्रियाँ प्रदान नहीं करता। इसी प्रकार जब अज्ञानी जीव सम्यग्दृष्टि बनकर विषय वासना पूर्ति के लिए कोई कार्य नहीं करता तब कर्म भी नहीं बँधता और न उसे फलदान देकर नवीन कर्मों के बँधने में निमित्त होते। इस प्रकार अज्ञानी और ज्ञानी के उद्देश्यों और कार्य करने की प्रणालियों में अन्तर पाया जाता है।

(२२८)

सम्यग्दृष्टि सप्त भयों से मुक्त निःशंक होता है

सम्मादिट्ठी जीवा निस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभय विप्पमुक्का जम्हा तम्हा-दु णिस्संका ।।२२८।।

सम्यग्दृष्टि सदा रहता है–
जीवन में निःशंक नितांत ।
अतुल आत्म वैभव बल पाकर
बन रहता निर्भय निर्भ्रांत ।।
इह-परलोक, अगुप्ति, अरक्षा,
मरण वेदना अरु आतंक ।
अकस्मात् इन सप्तभयों से–
स्वतः मुक्त हो बने निशंक ।।

भावार्थः— अपने जीवन में सम्यग्दृष्टि सदा निःशंक रहा करता है क्योंकि उसे आत्मशक्ति का ज्ञान हो जाने से अतुल्य बल की प्राप्ति होती है जिससे वह निर्भय बन जाता है ।

१. इस लोक भय, २. परलोक भय, ३. अगुप्ति भय, ४. अरक्षा भय, ५. वेदना भय, ६. मरण भय, ७. अकस्मात भय, इस प्रकार ये सप्त प्रकार के भय हैं ।

(२२९)

सम्यग्दृष्टि निःशंक क्यों होता है ?

जो चत्तारि वि पाये छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२२९।।

आगम वर्णित दुख हेतु हैं–
चिद्विकार संख्या में चार ।
तथा कथित मिथ्यात्व, अविरमण-
योग, कषाय बंध के द्वार ।।

इन्हें न कर जब विरत भाव से
करता चिदानंद रस पान।
संवर पूर्वक बद्ध कर्म का–
तब करता ज्ञानी अवसान ॥

भावार्थ:— आगम में मिथ्या दर्शन, अविरति, कषाय और योग को दुखों का कारण दरशाया है—यतः सम्यग्दृष्टि जीव दुखों के इन कारणों से बचकर स्वानुभूति रत रहकर चिदानन्द रसपान में मगन रहता है अतः नवीन कर्मों का बंध न कर बद्ध कर्मों की निर्जरा ही करता है।

(२३०)

सम्यग्दृष्टि की निःकांक्षिता

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलं तहय सव्वधम्मेसु ।
सो निक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३०॥

२३०/१

मुक्ति साधना हेतु निरंतर रह कर धर्म साधना लीन ।
अनासक्त रह कर्म फलों की चाह न करता रंच प्रवीण ॥
पर में सुख भ्रम से ही होती विषयों की बाँछा उत्पन्न ।
भ्रम विहीन बन चाह न करता ज्ञानी बन सुदृष्टि सम्पन्न ॥

२३०/२

अनासक्त ही कर पाता है रुद्ध कर्म बंधन के द्वार ।
कर्म निर्जरा भी उसके ही होती है जो विरत विकार ॥
विषयों में सुखमान हो रहा उनमें जो आसक्त पुमान् ।
सम्यग्दृष्टि व्यक्ति वह कैसा ग्रंथ पठन कर भी अनजान ॥

भावार्थ:— सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति प्राप्ति हेतु धर्म की साधना और और आराधना करता हुआ कर्मों और उनके फलों के प्रति अनासक्त बना रहता है। यतः उसे इन्द्रिय विषयों की निःसारता के कारण उनकी चाह नहीं रहती और परवस्तु में सुख की भ्रान्त कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं, अतः वह उनका भोग करने की आकांक्षाएँ भी नहीं करता।

संसार के विषय भोगों के प्रति अनासक्त ही कर्मों का आस्रव बंध रोक सकता है और वही निर्जरा भी कर सकता है। जो विषयों में सुख मान उन्हीं में मगन हो रहा है वह ग्रन्थ पठन कर भी कैसा सम्यग्दृष्टि है ?

(२३१)

सम्यग्दृष्टि की निर्विचिकित्सिता

जो ण करेदि दुगुञ्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगञ्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३१॥

२३१/१

उच्च-नीच, निर्धन-समृद्ध या रुग्ण-स्वस्थ पर्याय विकार।
समुत्पन्न होते हैं जितने–इस जीवन में विविध प्रकार ॥
तथा शुभा शुभ स्पर्श गंध रस–रूप पौद्गलिक परणति जान ।
इष्टानिष्ट कल्पनाएँ कर सम्यग्दृष्टि बनें नहि म्लान ॥

२३१/२

जिन्हे वस्तु धर्मो में होती–इष्टानिष्ट कल्पना हीन ।
उन्हे जुगुप्सा होती, पर की–हीन दशाएँ निरख मलीन ।
किंतु तत्व ज्ञानी न जुगुप्सा–करता किंचित् भी भ्रमहीन ।
समभावी बनकर रहता है–प्राय: आत्म साधना लीन ॥

भावार्थ:–– अपने या पर के जीवन में उच्चता-नीचता. निर्धनता-समृद्धता, रुग्णता, निरोगिता आदि अनेक जो विकारी पर्यायें हुआ करती हे उन सबमें सम्यग्दृष्टि इष्टानिष्ट कल्पनाएँ कर अनिष्ट में घृणा नहीं करता और न रुचिकर स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दादि में राग करता और अरुचिकर में द्वेष भी नहीं करता है ।

जिन्हें वस्तुओं या उनके गुण-धर्मों में—यह अनिष्ट है—और यह इष्ट है ऐसी कल्पना होती है उन्हें ही अनिष्ट या अशुभ रूप पर्यायों को देख कर जुगुप्सा (ग्लानि) हुआ करती है; किन्तु सम्यग्दृष्टि के विचारों में क्रान्ति हो जाने से और उसके उदासीन भाव पूर्वक समभावी बन जाने से वह किसी वस्तु से घृणा नहीं करता और उसे वस्तु का पर्याय धर्म समझ तटस्थ बना रहता है।

(२३२)

सम्यग्दृष्टि का अमूढ़ दृष्टित्व

जो हवदि असंमूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्व भावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३२।।

सम्यग्दर्शन के प्रसाद से—
पाता वह सद् दृष्टि नवीन—
लोक तथा पाखंडिमूढ़ता
उसकी होती त्वरित विलीन ।।
धूर्त जनोंकृत चमत्कार लख
मोहित होते जन अनजान ।
किंतु सुदृष्टि भ्रमित नहि होता
वस्तु स्वरूप यथावत् जान ।।

भावार्थः— सम्यग्दर्शन के प्रसाद से व्यक्ति का दृष्टि भ्रम दूर जाता है । अतः उसके लौकिक जनों में व्याप्त कुरूढ़ियों आदि के प्रति धर्म मानने के लोक मूढ़ता जन्य भाव समाप्त हो जाते हैं एवं ढोंगी-पाखण्डी साधुओं या धूर्त ज्नों द्वारा दर्शाए गये मिथ्या चमत्कारों के प्रति वह आकृष्ट व अचम्भित न होकर कुदेवों, कुशास्त्रों तथा कुगुरुओं के प्रति अपनी दृष्टि को मलिन नहीं बनाता——उन पर श्रद्धा नहीं करता ।

(२३३)

सम्यग्दृष्टि का उपगूहन

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३३।।

प्रति पल अपने दोष निरख कर
उन्हें नष्ट करता है कौन ?
एवं पर में दूषण लख कर
धारण कर रहता है मौन ?

वह सुदृष्टि ही है जो रहता
सिद्धभक्ति रत सतत प्रवीण ।
मिथ्यात्वादि नष्ट कर करता
आत्मिक गुण विकसित अमलीन ।।

भावार्थः— ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो अपने दोषों को दोष मान कर उन्हें दूर करने तथा दूसरों के दोषों को ढकने में सदैव तत्पर रहता है? वह सम्यग्दृष्टि ही है जो निर्विकार सिद्ध भगवान् की भक्ति करने में तत्पर रहकर अपने गुणों का विकास करने में सदा सावधान रहता है।

(२३४)

सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदि करणा जुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३४।।

विषय वासनाओं का उर में
जब अदम्य उठता तूफान—
मानव तब उन्मार्गी बनकर
हो जाता है पतित महान ।।
किंतु सुदृष्टि न विचलित होता
किसी प्रलोभन वश मतिमान् ।
सुस्थितिकरण स्व. पर का कर वह
रहता पथ पर सुदृढ़ महान ।।

भावार्थ — जब अदम्य विषय वासना मन में जाग्रत होती है तब मनुष्य मार्ग भ्रष्ट होकर (कुमार्ग) पर चलने लगता है और पतित हो जाता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि विवेक और दृढ़ता पूर्वक वासनाओं या अन्य किसी प्रलोभन, भय, आशा, स्नेह, के वश होकर सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और न अन्य सहधर्मी बंधुओं को विचलित होने देता तथा वह हर प्रकार वीतराग धर्म पर सुदृढ़ रहता है। यही स्थितिकरण अंग कहलाता है।

(२३५)

सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभाव जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३५॥

मुक्ति मार्ग में साधु त्रय पर
रखकर वत्सल भाव नितांत ।
दर्शन ज्ञान चरण साधन रत
वह रहता निश्चल निर्भ्रांत ॥
आत्मधर्म में रुचि - सुदृष्टि का
है निश्चय वात्सल्य प्रवीण !
धर्म-धर्मि प्रति वत्सलता ही
वात्सल्य व्यवहाराधीन ॥

भावार्थ:— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन साधु हैं अर्थात् आत्म सिद्धि के कारण हैं अतः निश्चय से इन तीनों में तथा व्यवहार में आचार्य उपाध्याय और सर्व साधुओं एवं अन्य धर्मात्मा बंधुओं के प्रति वात्सल्य भाव रखना—जैसे गाय का अपने बछड़े के प्रति निष्कपट प्रेम होता है वैसा ही पवित्र भाव रखना और तदनुकूल व्यवहार भी करना वात्सल्य अंग है ।

(२३६)

सम्यग्दृष्टि की प्रभावना

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिण णाण पहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३६॥

आत्म अनंत शक्ति अनुभव कर
विद्यारथ में हो आसीन—
ध्यान खड्ग से आत्म विकृति रिपु—
दल करता जो क्षीण प्रवीण ।

वही वीर शुद्धात्म प्रभावक–
कहलाता जिनसूत्र प्रमाण ।
बद्ध कर्म परिपूर्ण नष्ट कर
पाता पद पावन निर्वाण ।।

भावार्थः— जो आत्मा विद्या रथ में आरूढ़ होकर अर्थात् सम्यग्ज्ञान का सहारा लेकर मनोरथ के मार्ग पर भ्रमण करता है—अर्थात् मन के विकारों पर विजय प्राप्त कर आत्म ध्यान की खड्ग द्वारा अपने आत्म-विकारों रूपी शत्रुओं को नष्ट करता है वही वीर वास्तविक धर्म प्रभावना करता हुआ कर्मों की निर्जरा द्वारा निर्वाण को पाता है—यह निश्चय प्रभावना है। दूसरों का अज्ञान दूरकर धर्म मार्ग का ज्ञान कराना व्यवहार में धर्म प्रभावना कहलाती है।

इति निर्जराधिकार ।

अथ बंधाधिकारः

(२३७–२४१)

बंध का स्वरूप-कारण और दृष्टान्त

जह णाम कोवि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणु बहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहि वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघातं ॥२३८॥
उवघातं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेह भावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छय दो विण्णेयं ण काय चेट्ठाहि सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥२४१॥

२३७

वाह्याभ्यंतर कारण पाकर
करता जीव मलिन परिणाम ।
तन्निमित्त कार्मण द्रव्यों में–
भी विकार होता अविराम ॥
जल-पय वत् जड़ चेतन का तब
हो संश्लेश रूप संबंध ।
आलिंगित हों उभय परस्पर–
यही तत्व कहलाता बंध ॥

२३८

धूलि बहुल धूसर प्रदेश में
मुद्गरादि ले कर में शस्त्र– ।
तैल प्रचुर मर्दन कर करता–
जब व्यायाम मल्ल निर्वस्त्र ॥

बाँस, ताल, कदली दल फल पर—
कर वह बारंबार प्रहार—।
सचित् अचित् द्रव्यों का करता
छेदन भेदन विविध प्रकार ॥
२३९

घात और प्रतिघात मयी है
जिसका सब व्यापार नितांत—
इस व्यायाम शील जन को-जो
चेष्टमान् है सतत अशांत— ॥
धूलि चिपकती क्यों कर तन में ?
प्रश्न यहाँ है यह गंभीर—
शस्त्र, प्रदेश, - देह - चञ्चलता
या कुछ अन्य-विचारें वीर ॥
(२४०–२४१)

तन की तैल सचिक्कणता ही
उसका मिलता कारण एक ।
धूल चिपकती नहि शरीर में
चेष्टाएँ कर अन्य अनेक ॥
त्यों मिथ्यात्व ग्रस्त जन बन कर
नित रागादि विकाराक्रांत—
कर्म रजों से बँध्र रहता है—
मन वच काय क्रिया कर भ्रांत ॥

भावार्थ:—यह जीव अंतरंग और बहिरंग कारणों का निमित्त पाकर अपने भावों को मलिन करता है और इसके मलिन भावों के निमित्त से पुद्गल के परमाणुओं में विकार होने लगता है । तब दोनों द्रव्य बिकारी बनकर परस्पर आलिंगित होकर संश्लेष रूप में (दूध पानी के समान मिल

कर (एकमेक जैसे होकर) बँध जाते हैं। इस प्रकार दोनों द्रव्यों का परस्पर मिल जाना ही बंध कहलाता है।

जैसे जब मल्ल शरीर में तैल की मालिश कर किसी धूल बहुल स्थान में शस्त्र या मुद्गरादि लेकर व्यायाम करता है और ताल, बाँस केला आदि को लक्ष्य बनाकर उनका छेदन, भेदन, उछल, कूद आदि क्रियाएँ करता है। तब इन घात, प्रतिघातमयी संपूर्ण क्रियाओं को करते हुए मल्ल के शरीर में धूल चिपक जाती है। यहाँ यह प्रश्न है कि इसके शरीर में धूल चिपकने का क्या कारण है? क्या शरीर की क्रियाएं या व्यायामशाला अथवा शस्त्र और केला आदि पदार्थ धूल चिपकने के कारण है?

यदि गंभीरता से विचार किया जावे तो चिपकने का निश्चय से कारण शरीर में मर्दन किये गये तेल की सचिक्कणता (चिकनाई) ही है। उसकी अनेक चेष्टाएँ या मुद्गरादि द्रव्य नहीं।

उसी प्रकार जीव के बंध का मुख्य कारण भी मिथ्यात्व एवं रागादि विकारी भाव हैं जिनके कारण वह मन वचन काय की क्रियाओं द्वारा कर्म रजों से बंध को प्राप्त होता है।

(२४२–२४६)

रागादि भावों के अभाव में बंध का अभाव

जह पुण सो चेवणरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणु बहुलम्हिठाणे करेदि सत्थेहि वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥२४३॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहि करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो ण रय बंधो ॥२४४॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तस्स रय बंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण काय चेट्ठाहि सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहु विहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रायादी ण लिप्पदि रयेण ॥२४६॥

२४२-२४३

वही मल्ल तन प्रक्षालन कर
जब भी न कर तैल अभ्यंग।
धूलि बहुल व्यायाम सदन में
मुद्गरादि भी लेकर संग ॥
ताल पत्र कदली वंशों का
छेदन भेदन कर अविराम।
सचित अचित द्रव्यों का करता-
घात न ले किंचित् विश्राम ॥

२४४-२४५

उक्त सकल चेष्टाएँ नाना-
शस्त्रों से भी कर निष्पन्न।
क्या कारण जो धूलि कणों से
नहि होता है तन आपन्न ॥
रज कण बंधन का निश्चय से
है समग्रत: कारण एक।
तैल सचिक्कणता शरीर की;
वपु चेष्टाएँ नहीं अनेक ॥

२४६

त्यों सुदृष्टि के मन वच तन से-
संबंधित सब क्रिया कलाप-
वीतराग परणति के कारण-
बंधन के न बनें अभिशाप ॥
रागादिक दुर्भाव बंध के-
कारण हैं, रह उनसे दूर।
वह प्रवृत्ति करता स्वछंद नहिं
जिससे बंध न होता क्रूर ॥

भावार्थः— जब वही मल्ल स्नान पूर्वक शरीर में तेल का प्रक्षालन कर और शरीर में पुनः तैल की मालिश न कर धूल भरी व्यायाम शाला में प्रवेश करता है तथा मुद्गरादि लेकर तालपत्र कदली दल का छेदन-भेदन करता हुआ शरीर की अनेक चेष्टाएँ भी करता है। तब उस समय नाना शस्त्रों से उसके द्वारा की गई उन चेष्टाओं द्वारा उसके शरीर में धूलि कण क्यों नहीं चिपकते ? यदि इस प्रश्न पर पुनर्विचार करें तो केवल शरीर में तेल की चिकनाई का न होना ही रजकणों के न चिपकने का मुख्य कारण है। अन्य नहीं।

उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव की मन, वचन, काय संबंधित सभी क्रियाएँ रागादि भावों के अभाव जन्य वीतराग परणति के कारण बंध का कारण नहीं होतीं। यतः रागादि भाव ही बंध के कारण हैं अतः उनके दूर हो जाने से उनके द्वारा होने वाली स्वच्छन्द प्रवृत्तियां भी नहीं होती। फलस्वरूप उसके बंध भी नहीं होता।

(यह सब कथन और इस ग्रन्थ में किए गये सम्यग्दृष्टि के संबंध में अन्य कथन भी वीतराग सम्यग्दृष्टि की प्रधानता से किये गये हैं। ऐसा आचार्य प्रवर जयसेन कृत समयसार की टीका में स्पष्टीकरण किया गया है।)

(२४७)

ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता में अन्तर

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामिय परेहि सत्तेहि।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

'मैं पर को मारूँ या पर से—
मारा जाऊँ' यों अज्ञान—
भ्रांति विवश जो नहीं समझता—
तत्व रहस्य निपट नादान—॥
वह संमूढ मूढ मिथ्यात्वी—
या बहिरातम है दिग्भ्रांत।

इससे भिन्न सुदृष्टि वस्तुतः
करता सत् श्रद्धान नितांत ।।

भावार्थः— जो तत्व के रहस्य को न समझता हुआ मिथ्यात्व के कुचक्र में फँसा प्राणी ऐसा विचार करता है कि मैं दूसरों को मारता हूँ या मार सकता हूँ या दूसरों के द्वारा मारा जाता हूँ या मारा जा सकता हूँ— वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। जबकि सम्यग्दृष्टि के विचार इससे भिन्न होते हैं। क्या होते हैं? इसका स्पष्टीकरण आचार्य स्वयं करते हुए लिखते हैं—

(२४८-२४९)

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं च न हरेसि तुमं किह ते मरणं कदं तेसिं ।।२४८।।

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहि पण्णत्तं।
आउं न हरेंति तुमं किह ते मरणं कदं तेहिं ।।२४९।।

आयु कर्म की परिसमाप्ति ही
कहलाता है मरण, सुजान!
तू न आयु हर सकता उसकी
तब कैसे मारा – अनजान!
यतः मरण श्रीमज्जिनेन्द्र ने–
कहा आयु का ही अवसान।
आयु न क्षय कर सकता कोई
रख कर भी सामर्थ्य महान ।।

भावार्थः— जीवों के इस भव संबंधी आयु कर्म की स्थिति के समाप्त हो जाने को ही भगवज्जिनेन्द्र ने मरण संज्ञा दी है। जबकि तू किसी की आयु समाप्त नहीं कर सकता, तो फिर ऐसा कैसे कहता है कि 'मैंने उसको (पर को) मारा?' तात्पर्य यह कि सिद्धांततः पर कर्तृत्व का अभाव है—यह सिद्धान्त प्रतिपादित हो चुका है। इसलिए पर के मारने का परिणाम करने वाला व्यक्ति अपने खोटे परिणामों के कारण स्वयं ही

बंध को प्राप्त होता है । कलुषित परिणामों का करना ही हिंसा है । परंतु दूसरे प्राणी के मरण का होना या न होना उसके आयु कर्म के आधीन है । मारने का संकल्प करने वाले के अधीन नहीं है ।

(२५०–२५२)

ज्ञानी और अज्ञानी की एक अन्य मान्यता में अन्तर

जो मण्णदि जीवेमि य जीविस्सामिय परेहि सत्तेहि ।
सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एसो दु विवरीदो ।।२५०।।
आउ उदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ।।२५१।।
आउ उदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं ण हि दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेसिं ।।२५२।।

२५०

मैं पर को जीवन दूं या पर–
मुझको देवे जीवन दान–।
यों भ्रम बुद्धि जिसे है वह भी
मिथ्यामति है मूढ़ महान ।
उदय आयु का यतः जहाँ तक
तावत् रहता जीवन, मित्र !
तू नहिं आयु दान करता, तब–
जीवन दाता कथं ? विचित्र !

२५१–२५२

आयु उदय में ही जीते हैं–
जब कि जीव जिन वचन प्रमाण ।
आयु दान कर सके न कोई–
अतः न पर कृत जीवन दान ।।

एवं निज को पर का – पर को
निज का जीवन दाता मान–
जो होता दिग्भ्रांत भ्रांति वश–
वह कैसा ज्ञानी - अनजान ?

भावार्थ— मैं दूसरों को जीवन प्रदान करता हूं या दूसरे मुझको जीवन प्रदान करते हैं' —ऐसी श्रद्धा रखने वाला भी मिथ्या दृष्टि है। क्योंकि अपने आयु कर्म के उदय में ही जीव जीवित रहते हैं। जब तुम किसी को आयु का दान नहीं करते तो यह कैसे कहते या मानते हो कि मैंने उसको जीवनदान दिया ? जबकि जिनेन्द्र भगवान् ने प्रतिपादन किया है कि सभी जीव संसार में आयु कर्म के उदय में ही जीते हैं। कोई किसी को आयु का दान देता नहीं, न दे ही सकता; क्योंकि आयु कर्म का बंध तो पूर्व भव में उस जीव ने स्वयं किया था तब फिर भ्रमवश जीवनदान देने की तेरी मान्यता व्यर्थ है।

(२५३–२५६)

सुख दुख दान के संबंध में भी ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता में अंतर

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२५३।।
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद सुहिदा किह कदा ते ।।२५४।।
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुमं कदोसि किह दुक्खिदो तेहिं ।।२५५।।
कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुमं किह तं सुहिदो कदो तेहिं ।।२५६।।

२५३–२५४

एवं निज को पर का–पर को–
निज का सुख दुख दाता मान–।

जो चलता है मूढ़ भ्रांति वश
वह कैसा ज्ञानी ? अज्ञान ।।
ज्ञानी की श्रद्धा यथार्थ में—
यों रहती सत्यार्थ नितांत—।
सुख दुख पूर्व कर्म कृत फल हैं
नहिं पर दत्त उभय निर्भ्रान्त ।।
जीवन मरण हानि लाभादिक—
सब स्व कर्म फल सिद्ध, निदान—।
फिर क्यों कर्म फलों का दाता
भ्रम वश बन करता अभिमान ?

२५५–२५६

कर्मोदय में ही होते हैं —
सुख दुख समुत्पन्न, मतिमान् ।
उन्हें कौन दे सकता— यह तो
भ्रम है— कोई करे प्रदान ।।
हमें तुम्हें सुख दुख का दाता
अन्य नहीं कोई सम्भ्रान्त ।
स्वकृत कर्म फल ही पाते हैं—
संसारी जन सतत नितांत ।।

भावार्थ:— इसी प्रकार स्वयं को दूसरों के लिए सुख दुख देने की मान्यता रखने वाला कि मैं दूसरों को सुखी दुखी करता हूँ वह मिथ्यादृष्टि मोही और अज्ञानी है। जबकि ज्ञानी की मान्यता इससे विपरीत होती है— वह मानता है कि ये सुख दुख अपने पूर्वकृत कर्मों के फल हैं। ये दूसरों को दिए लिए नहीं जा सकते। जब इन्हें पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर यह मान लिया कि सब जीव कर्मों के उदय से ही सुखी-दुखी होते हैं। तो तू जीवों को कर्म तो देता नहीं तब यह कैसे माना जाय कि तूने दूसरों को सुखी दुखी किया।

यदि सभी जीव कर्मोदय में ही दुखी सुखी होते हैं और दूसरे जन तुझे कर्म देते नहीं—जो कि पूर्वकृत हैं—तब तुझे दूसरे जीवों ने किस प्रकार दुखी किया ? अथवा तूने दूसरों को कर्म न देकर किस प्रकार दुखी किया ? यही प्रश्न दूसरों द्वारा स्वयं के सुखी बनने अथवा स्वयं को दूसरों के लिए सुखी बनाने के संबंध में उपस्थित होता है । अतः कोई किसी को सुख दुख न दे सकने के कारण ऐसी मान्यता मिथ्या ही है कि मैं दूसरों को और दूसरे मुझे सुखी या दुखी बनाते हैं ।

(२५७–२५८)

उक्त कथन का उपसंहार

जो मरदि जो हि दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ? ।।२५७।।
जो ण मरदि ण य दु हिदो सो विय कम्मोदयेण खलु जीवो ।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ? ।।२५८।।

सुख दुख में हम-तुम निमित्त हैं–
यद्यपि हों वे कर्माधीन ।
उनमें हर्ष विषाद न कर वर–
ज्ञानी रहता बँध विहीन ।।
मरें-जियें या सुख दुख पायें
जबकि जीव निज कर्माधीन ।
'पर ने मारा या कि दुखाया'
यह है मिथ्या भ्रान्ति मलीन ।।
पर न मरै या दुखी न होवे–
यह भी पूर्व कर्म फल जान ।
'मैं मारा या दुखी किया है'
यही मानसिक भ्रान्ति, निदान ।।

भावार्थः— जबकि जीवन-मरण, या सुख-दुख ये सब ही अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के आधीन हैं तब मैंने दूसरों को मारा या दुखी किया—ऐसी

मान्यता भ्रमपूर्ण ही है। इसी प्रकार दूसरा नहीं मरता या दुखी नहीं होता तो यह भी उसके कर्मों के अनुसार है—दूसरे शब्दों में कोई किसी को न मार सकता है और न जिला सकता है और न स्वयं किसी के द्वारा मारा जा सकता और न जिलाया जा सकता। इसी प्रकार न दूसरों को सुखी दुखी कर सकता। कहा भी है—"मरदु व जियदु वा जीवो" आदि.... जीव तो केवल अपने शुभाशुभ भाव और तत्पूर्वक मन वचन काय की क्रिया ही करता या कर सकता है। दूसरों का मरना जीना या सुखी-दुखी होना उनके और उनके कर्मों के आधीन है। हम तुम उसमें निमित्त मात्र बन सकते हैं। यह कथन पर कर्तृत्व के निषेध के सिद्धान्त के अनुसार है; तथापि यह सुनिश्चित है कि पर के मारने का भाव या दया का भाव ये दोनों भाव स्वाधीन होने से वे क्रमशः पाप और पुण्य बंध के कारण होते हैं। पुण्य-पाप के शुभाशुभ भाव ही जीव में बंध के कारण हैं दूसरों का मरना जीना उनके आयुकर्म के अधीन हैं।

(२५९)

उक्त कथन का तात्पर्य

एसा दु जा मदी दे दुक्खिद सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥२५९॥

'सुखी दुखी मैं करता पर को'
एवं अहंकार वश दीन—।
जीव शुभाशुभ कर्मों का ही
बंधन करता नित्य नवीन ॥

भावार्थः— हे जीव! तेरी जो यह मान्यता है कि मैं दूसरों को सुखी दुखी बनाता हूँ या बना रहा हूँ वह मूर्खतापूर्ण है—इस मान्यता के कारण तू अहंकार करता हुआ शुभाशुभ कर्मों का बंध ही करता है।

(२६०–२६१)

जीवों के मिथ्या (भ्रान्त) अभिप्राय ही बंध के कारण हैं

दुक्खिद सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥

मारेमि जीवबेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥

'पर को सुखी दुखी मैं करता'
यों होता जो अध्यवसान ।
पुण्य पाप कर्मों का बँधक—
बन रहता वह सूत्र प्रमाण ॥
मैं जीवों को मारूँ अथवा
उनको दूँ जीवन का दान ।
ये भी पाप - पुण्य बँधक हैं
सकल मानसिक अध्यवसान ॥

भावार्थ— दूसरे जीवों को सुखी-दुखी बनाने के जो अध्यवसान (भाव) हैं वे पुण्य और पाप के बंधक हैं । मैं जीवों को मारूँ या उन्हें जीवनदान दूँ" ये भाव भी पाप और पुण्य के बंध कराने वाले हैं ।

(२६२-२६३)

पाप और पुण्य का बंध पराश्रित न होकर
अपने भाव पर निर्भर है

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि वा न मारेहि ।
एसो बंध समासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥
एवमलिये अदत्तं अबंभचेरे परिगहे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झते पावं ॥२६३॥

जीव मरें या जियें, उन्हें—
मारो मत मारो, किंतु, प्रवीण !
अध्यवसान भाव तव होते
निश्चय बँधन हेतु मलीन ॥
हिंसासम असत्य भाषण या—
करना ग्रहण अदत्तादान ।

मैथुन और परिग्रह भावों–
से बँधते हैं कर्म, निदान ॥

भावार्थः— जीव मरें या जियें; किन्तु तुम्हारे मन में जो उन्हें मारे या न मारने के अहंकारपूर्ण जो भाव हो रहे हैं वे ही निश्चय से कर्म बंध के कारण हैं। हिंसा के भावों के समान ही असत्य भाषण, अदत्तादान, (चोरी) कुशील और परिग्रह के जो भाव हैं वे ही पाप बंध के मुख्य कारण हैं।

(२६४)

पुण्य बंध के मुख्य कारण

तह विय सच्चे दत्ते बम्हे अपरिगहत्तणे चेव ।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं ॥२६४॥

एवं सत्य अचौर्य ब्रह्म वा
अपरिग्रह गत शुभ परिणाम–।
जो होते वे पुण्य बँध के–
हेतु कथित हैं आठों याम ॥

भावार्थः— जैसे हिंसा असत्यादि संबंधित भाव पाप बंध के कारण हैं—वैसे ही (दया) सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भावों से पुण्य बंध होता है।

(२६५)

बाह्य व वस्तुकृत बंध नहीं

वत्थु पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं दु होदि जीवाणं ।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधो त्थि ॥२६५॥

जीवों में जितने होते हैं–
अध्यवसान भाव उत्पन्न ।
वे सब बाह्य वस्तुओं का ही
आलंबन ले हों निष्पन्न ॥

किंतु तनिक भी बाह्य ,वस्तु कृत–
बँध नही है–क्वचित् नवीन ।
वह होता प्रज्ञापराध वश–
कलुषित अध्यवसानाधीन ।।

भावार्थ:— यद्यपि चेतनाचेतन बाह्य वस्तुओं के आलंबन लेने से जीवों के अध्यवसान होते हैं किन्तु आलंबन की आधारभूत वस्तुओं से बंध न होकर अध्यवसानों (राग द्वेषादि भावों) से ही बंध होता है ।

२६५/२

एक शंका

कर्म बंध यदि भावों से ही होता है संपन्न नितांत ।
बाह्य वस्तु का त्याग तदा क्यों करते हैं मुनिजन संभ्रांत ?
राज्य पाट, धन वैभव, परिजन और स्वजन तज-कर बनवास ।
तीर्थंकर पद प्राप्त व्यक्ति भी बाह्य वस्तु तज बनें उदास ?

भावार्थ:— हे भगवन् ! यदि कर्मों का बंध भावों से ही होता है तो मुनिराज धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह का त्याग क्यो करते हें और यहाँ तक कि तीर्थंकर जैसी महान् आत्माएँ भी उनका परित्याग कर वनवास क्यों करते हैं ।

२६५/३

शंका का समाधान ?

अध्यवसानों का कारण है बाह्य वस्तु का संग मलीन ।
अत: ताज्य है; किंतु बँध हो स्वकृत मलिन भावाश्रित हीन ।।
यद्यपि अध्यवसान बिना नहिं बाह्य वस्तु कृत बंध नवीन ।
फिर भी अध्यवसान त्याग हित बाह्य संग है त्याज्य प्रवीण !

भावार्थ:— हे भव्य ! इन बाह्य वस्तुओं का संग ही तो अध्यवसानों की उत्पत्ति में कारण है; क्योंकि इनके पास रखने से रागादि भाव उत्पन्न होने लगते हैं । अत: बाह्य वस्तुओं को त्याज्य कहा है । यद्यपि बाह्य वस्तुओं से बंध नहीं होता तथापि उनका संग रागादि भावों की उत्पत्ति में निमित्त होने से उनका त्याग करना अनिवार्य माना गया है ।

(२६६)

अहंकार करना निरर्थक है

दुक्खिद सुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

पर को सुखी दुखी मैं करता
बाँधू या कि करूँ उन्मुक्त।
यही वासना तव निरर्थिका—
मिथ्या महाभ्रांति संयुक्त ॥
इस वश चेतन हो रहता है—
मिथ्या अहंकार में लीन।
कर्म बंध कर भव कानन में
भटक बना बेचारा दीन ॥

भावार्थः— मैं दूसरों को सुखी या दुखी बनाता हूँ, अथवा बांधता या छुड़ाता हूँ, आदि अहंकार एवं वासना जन्य जो तेरी मूढ़ बुद्धि है वह निरर्थक होने से मिथ्या है। आत्मा इसी मूढ़ बुद्धि के कारण कर्मों का बंध करता हुआ संसार में भटक रहा है।

(२६७)

आत्म संबोधन

अज्झवसाण णिमित्तं जीवा वज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं ॥२६७॥

अध्यवसानों के निमित्त से
कर्म बंध करते जन भ्रांत।
मुक्ति मार्ग का आश्रय लेकर
बंधन हीन बने संभ्रांत ॥
हे प्रिय ! यदि यह नियम सत्य है—
जिन वर्णित शंकातिक्रांत।

फिर तू ने क्या किया अन्य प्रति
बन कर व्यर्थ विकाराक्रांत ।।

भावार्थः— हे भव्य ! जबकि जीव अध्यवसानों (विकार भावों) से बंध को प्राप्त होते हैं और रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) मयी मुक्ति मार्ग का आश्रय लेकर बंध से मुक्त होते हैं तो फिर तू क्या कर रहा है ? तनिक विचार कर ।

(२६८)

अध्यवसानों की भर्त्सना

सव्वे करोदि जीवो अज्झवसाणेण तिरिय णेरइये ।
देवमणुवे य सव्वे पुण्णं पावं अणेय विहं ।।२६८।।

कहें कहा तक अध्यवसानों
की दुर्गाथा, बंधु ! समस्त ।
इन वश जीव जहाँ भव धरता—
होता वहीं भ्रमित-उन्मत्त ।।
देव नरक नर तिर्यगति में
हों संप्राप्त शुभाशुभ देह ।
उन देहों को आत्म मान कर
पुण्य पाप में करता नेह ।।

भावार्थः— इन अध्यवसानों की आत्म वञ्चना जनक कथा कहाँ तक कहें—इनके वश होकर जीव जहाँ-जहाँ जन्म लेता है वहीं-वहीं दिग्भ्रान्त होकर उस जन्म में धारण किए हुए शरीर को ही आत्मा मान बैठता है । देव का शरीर धारक स्वयं को भी देव और नारकी की देह धारणकर स्वयं को नारकी मान लेता है । इसी प्रकार मनुष्य देहधारी स्वयं को मनुष्य और तिर्यञ्च देहधारी स्वयं को तिर्यञ्च मानता और पुण्य पाप के फलों में रागादि भाव करता हुआ नवीन कर्मों का बंध करता रहता है ।

(२६९)

उक्त कथन का और भी समर्थन

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोग लोगं च ।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥

लोकालोक - जीव पुद्गल वा
धर्माधर्म काल – दिग्भ्रांत –।
अध्यवसानों द्वार मानता –
मेरे हैं सब द्रव्य नितांत ॥

भावार्थः— मिथ्या अध्यवसान भावों के द्वारा ही यह जीव लोक, अलोक, पुद्गल कर्म, अधर्म आकाशादि अन्य द्रव्यों को भी अपना मानकर भ्रम में पड़ा रहता है। जैसे आकाश के जिस क्षेत्र में रहता है उसे मानता है कि यह भूमि या स्थल मेरा है। जिस काल जो क्रिया करता है-मानता है कि यह मेरा समय है। गृह घर पटादि पुद्गल द्रव्यों को तो अपना मानता ही रहता है किंतु धर्माधर्म द्रव्यों की सहायता से गमनागमन व स्थिरता से बनने वाले गोल त्रिकोण आदि आकारों में—मैंने बनाए— ऐसी कल्पना कर अहंकार ममकार किया करता है।

(२७०)

अध्यवसानों के अभाव में कर्म बंध का अभाव

एदाणि णत्थि अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

जिन मुनिवर के अस्त हो गई–
अध्यवसानों की संतान ।
उन्हें तनिक भी कर्म बंध नहिं
होता है जिन सूत्र प्रमाण ॥
हिंसन - कर्मोदय - ज्ञेयार्थज –
होते जो संकल्प विकल्प ।
करते नहीं इन्हें जो मुनिवर–
उन्हें कर्म रज लगे न स्वल्प ॥

भावार्थः— जिन मुनिवरों में इन अध्यवसान भावों तथा इनको आदि लेकर अन्य भी दुर्भावों की समाप्ति हो गई उन्हें बंध होने का कोई कारण न होने से बंध नहीं होता। हिंसन क्रिया, कर्मोदय जन्य सुख दुख तथा ज्ञेय पदार्थों के प्रति इष्टानिष्ट कल्पनावश होने वाले अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों को भी जो मुनिराज नहीं करते उन्हें भी रंचमात्र कर्मों का बंध नहीं होता।

(२७१)

अध्यवसानों का स्वरूप और उनके अनेक नाम

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वे चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

अध्यवसान वही जो होते—
वैभाविक परिणाम मलीन।
आगमोक्त नामांतर इनके—
निम्नांकित हैं अष्ट प्रवीण!
बुद्धि, चित्त, व्यवसाय, भाव, मति,
परिणामाध्यवसान विज्ञान।
एक अर्थ वाचक हैं सब ही—
जीवों की परिणतियाँ म्लान॥

भावार्थः— आत्मा के राग द्वेषादि, विकारी भावों को अध्यवसान कहते हैं। इनके बुद्धि, चित्त, व्यवसाय, भाव, मति, परिणाम, अध्यवसान, और विज्ञान ये पर्यायवाची नाम हैं।

(२७२)

उपसंहार

एवं ववहार णओ पडिसिद्धो जाण णिच्छय णयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

पराश्रयी के सर्व शुभाशुभ
होते ये परिणाम मलीन।

शुद्ध स्वरूपाश्रय पा मुनिजन–
निज स्वभाव में रहते लीन ॥
यों निश्चय से हो जाता सब–
पर आश्रित व्यवहार निषिद्ध ।
शुद्ध स्वात्म संश्रयी साधुजन
पाते पद निर्वाण समृद्ध ॥

भावार्थ:— यत: व्यवहार नय के विषय भूत ये शुभाशुभ अध्यवसान भाव आत्मा को बंध कारक हैं और निश्चय नय के विषय भूत शुद्ध आत्मा का आश्रय लेने से आत्म स्वरूप में स्थित मुनिराज कर्मों को दूर कर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं । अत: इस दृष्टि से निश्चय नय के आश्रित रहने वालों को बंध न होने से संसार परिभ्रमण का अंत हो जाता है । अत: हित साधक निश्चय नय के द्वारा व्यवहार नय प्रतिबिद्ध हुआ जानो ।

(२७३)

अभव्य जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है ।

वद समिदी गुत्तीओ सील तवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

श्री जिन कथित शील, व्रत तप वा
समिति गुप्ति व्यवहार चरित्र ।
नित पालन कर भी अभव्य जन
मुक्ति नहीं पाता है, मित्र !
जिनका जीवन स्वात्म अनुभवन
से रहता है शून्य नितांत ।
वे अज्ञानी वा असंयमी –
हैं अभव्य ही जन विभ्रांत ॥

भावार्थ:— उपर्युक्त स्व पर भेद के रहस्य को ठीक-ठीक न समझने वाला अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भगवज्जिनेन्द्र द्वारा कथित व्रतशील, संयम, समिति, गुप्ति आदि का पालन करते हुए भी अज्ञानी ही बना रहता है । जिस कारण मुक्ति को प्राप्त नहीं होता ।

(२७४)

अभव्य का शास्त्र पठन भी गुणकारी नहीं

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ।।२७४।।

उस अभव्य जन का क्या कहना—
जो न मुक्ति माने मतिभ्रांत ।
आचारांग आदि श्रुत पढ़कर
भी रहता दिग्भ्रांत नितांत ।।
शास्त्र पठन से लाभ हुआ क्या—
यदि नहि हो सम्यक् श्रद्धान ।
जिस विन बाह्य क्रियाकांडों में
उलझ न पाता पथ अम्लान ।।

भावार्थः— उस अभव्य जीव की बात करना यहाँ निःसार है जो मोक्ष को नहीं मानता और आचारांगादि श्रुत को पढ़ कर भी तत्व के यथार्थ ज्ञान व श्रद्धा न से शून्य बना रह कर साँसारिक इन्द्रिय विषयों में में ही सुख की कल्पना किए रहने और आत्म स्वरूप के ज्ञान न होने से केवल बाह्य क्रिया काण्डों में ही उलझा रहता है ।

(२७५)

अभव्य की धार्मिक श्रद्धा का उद्देश्य इंद्रिय भोग

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तहपुणो वि फासेदि य ।
धम्मं भोग णिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ।।२७५।।

यद्यपि करता है अभव्य भी
धर्म कार्य में दृढ़ श्रद्धान ।
वह प्रतीति भी लाता उर में—
रुचता धर्म-ज्ञान विज्ञान ।।
धार्मिक अनुष्ठान भी करता
देव वंदना नित कर-मिल !

किंतु विषय सुख प्राप्ति हेतु ही
नहीं कर्म क्षय हेतु, विचित्र !

भावार्थः— यद्यपि अभव्य जीव धर्म पर श्रद्धा और प्रतीति भी करता है तथा उसकी धार्मिक कार्यों में रुचि भी होती है और नाना प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान करता हुआ धर्म को स्पर्श भी करता है; किंतु इन सबका उद्देश्य उसम विषय सुखों की प्राप्ति ही रहा करता है। इसीसे मोक्ष सुख प्राप्त नहीं करता। तात्पर्य यह कि वह निश्चय धर्म निरपेक्ष व्यवहाराभासी बना रह कर संसार मे ही उलझा रहता है।

(२७६)

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु ववहारो ।।२७६।।

सम्यग्दर्शन है जीवादिक –
तत्वों का करना श्रद्धान।
आचारांगादिक सूत्रों का –
पठन मनन ही सम्यग्ज्ञान ।।
षट् कायों की रक्षा करना
कहलाता सम्यक्चारित्र।
यों व्यवहार धर्म वर्णित है–
जिन शासन में बंधु ! पवित्र ।।

भावार्थः— जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष इन सात तत्वों की श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। आचारांगादि शास्त्रों का पठन कर ज्ञान प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है और षट्काय के जीवों की रक्षा करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार रत्नत्रय का पालन करना व्यवहार धर्म कहलाता है।

(२७७)

निश्चय धर्म का स्वरूप

आदाहु मज्झणाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ।।२७७।।

२७७/१

निश्चय से आत्मा स्वधर्म है दर्शन ज्ञान चरण में लीन ।
प्रत्याख्यान वही है पावन संवर योग वही अमलीन ।।
आत्म तत्व उपलब्ध जिसे है सार्थक है उसका सब ज्ञान ।
दर्शन भी उसका यथार्थ है सफल सकल चारित्र निदान ।।

भावार्थः— निश्चय धर्म अभेद रत्नत्रय स्वरूप एक आत्मा ही है। क्योंकि निश्चय में (गुण-गुणी का भेद गौण हो जाता है) तथा आत्मा ही निश्चय प्रत्याख्यान है। संवर भी आत्मा ही है और योग भी यही है। वास्तव में देखा जावे तो जिसे आत्म स्वरूप की—जो अनन्त गुणों का पिण्ड है—उपलब्धि होगई है उसी का दर्शन ज्ञान और चारित्र सफल और सार्थक है, क्योंकि इसीसे मुक्ति प्राप्त होती है। जिसका व्यवहार धर्म यदि निश्चय का साधक बन जाता है तो वह भी सार्थक है; किंतु अभव्य का व्यवहार धर्म लक्ष्य भ्रष्ट होने से मुक्ति साधना में सफल नहीं होता; क्योंकि उसका लक्ष्य धर्म साधन कर विषय सुखों की प्राप्ति करना है न कि मुक्ति की प्राप्ति।

२७७/२

यों निश्चय धर्मस्थ योगि में हो जाता व्यवहार विलीन ।
श्रद्धा व्रत तप संयमादि कर वह हो निज स्वरूप में लीन ।।
तब निश्चय नय द्वारा उसको हो जाता व्यवहार निषिद्ध ।
निश्चय बिन व्यवहार धर्म का लोप-स्वछंद वृत्ति-प्रतिषिद्ध ।।

भावार्थः— योगीजन जब निश्चय धर्म स्वरूप समाधि में लीन हो जाते हैं तब उनका व्यवहार धर्म स्वयं ही निश्चय में विलीन हो जाता है; क्योंकि आत्मलीनता रूप समाधि में व्रत, तप संयमादि रूप व्यावहारिक समस्त बाह्य क्रियाएँ अंतर्धान हो जाती हैं।

(२७८-२७९)

आत्मा का रागादि अध्यवसान रूप परिणमन पर निमित्तक है—
इसका दृष्टान्त द्वारा समर्थन

जह फलिहमणि विसुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहि दव्वेहिं ।।२७८।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहि दोसेहिं ।।२७९।।

शुद्ध स्फटिक शुक्ल जो होता
वह न स्वयं बन जाता रक्त ।
जपा कुसुम की संगति पाकर
ही परिणमता बन अनुरक्त ।।
त्यों ज्ञानी की शुद्ध चेतना
स्वयं न होती विकृत प्रवीण !
मोहादिक कर्मोदय द्वारा—
अनुरंजित हो बने मलीन ।।

भावार्थ:— जैसे स्फटिक मणि जो शुद्ध और शुक्ल वर्ण का होता है—किसी अन्य जपाकुसुम आदि के संसर्ग हो जाने पर ही रक्त (लाल) भाव को प्राप्त होता है स्वयं रंगीन नहीं बन जाता—उसी प्रकार ज्ञानी की शुद्ध आत्मा भी स्वयं रागादि भाव रूप परिणमन नहीं करती; किंतु मोह क्रोधादि रूप द्रव्य कर्मों के उदय का निमित्त पाकर ही वह रागी द्वेषी आदि बनकर विकृत रूप धारण करता है ।

विशेष

केवल जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में वैभाविकी नामा शक्ति भी होती है जिससे इन दोनों द्रव्यों में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त पर द्रव्य के संयोग से विभाव (विकार) रूप परिणमन भी होता है । आत्मा को अनादि काल से पुद्गल कर्मों का बंधन है, अतः जब कर्मोदय होता है तब आत्मा का ज्ञान उसके निमित्त से रागादि विकार रूप परिणमन करने लग जाता है । और आत्मा के रागादि विकारों का

निमित्त पाकर पुद्गल का शुद्ध परिणमन भी ज्ञानावरणादि रूप विकृत होकर कर्म रूप धारण कर लेता है। इन दोनों का विकारी परिणमन वैभाविक है।

(२८०)

ज्ञानी राग द्वेष मोह कषाय भावों को नहीं करता

ण वि रागदोषमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

आत्मलीन ज्ञानी नहि करता
राग द्वेष मोहादि विकार ।
स्व-पर वस्तु का भेद जान वह–
स्वस्थ रहे परमार्थ विचार ॥
क्रोध मान माया लोभादिक
स्वयं न अपना कर मतिमान् ।
पावन ज्ञायक भाव मात्र की
वह लेता है शरण महान् ॥

भावार्थः— ज्ञानी आत्म स्वभाव को शुद्ध ज्ञानमयी जानता और उसीमें रमण करता हुआ राग, द्वेष, मोह व कषाय भावों को न कर स्वस्थ बना रहता है। इसीलिए विकार भावों को न करता हुआ कर्म बंध भी नहीं करता।

(२८१–२८२)

अज्ञानी को बंध क्यों होता है ?

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदि पुणो वि ॥२८१॥
रागम्हि य दोसम्हिय कषाय कम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ॥२८२॥

राग द्वेष क्रोधादि रूप जब
द्रव्य कर्म हों उदित मलीन ।

कर तद् रूप परिणमन चेतन–
बंधन कर्त्ता नित्य नवीन ॥
वस्तु स्वभाव न जान तत्वतः
मिथ्या दृष्टि जीव अज्ञान ।
राग द्वेष मोहादि भाव कर–
कर्म बंध करता नित म्लान ॥
अभिप्राय यह है कि कषायों–
से अनुरंजित जो परिणाम–।
राग द्वेष मोहादि विश्रुत हैं
वही बंध कारक अविराम ॥

भावार्थ:— आत्मा के जो भाव राग, द्वेष या कषाय रूप द्रव्य कर्म के उदय में मलिन हो जाते हैं उन रूप परिणमन करने वाला अज्ञानी जीव पुन: अपने इन विकारी भावों के निमित्त से पुद्गल परमाणुओं को द्रव्य कर्म रूप परिणमा कर पुन: बंध को प्राप्त हो जाता है । अभिप्राय यह है राग, द्वेष, मोह और कषाय से कलुषित भाव ही बँध के कारण हैं । इन रूप परिणमित जीव ही बँध को प्राप्त होता है । वीतराग ज्ञानी जीव बंध को प्राप्त नहीं होता ।

(२८३–२८५)

बँध के अन्य कारण

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥२८३॥

अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणं पि ।
एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा ॥२८४॥

जाव ण पच्चक्खाणं अप्पडिकमणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वदि आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वो ॥२८५॥

२८३

द्रव्य भाव द्वारा विभक्त हैं–
अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान ।
इस उपदेश द्वार चेतन को
कहा अकारक सूत्र प्रमाण ।।
उभय विकृतियाँ हो जाती हैं
जब समग्र जीवन में क्षीण ।
तब ज्ञानी के भी न कर्म का
बंधन होता रंच नवीन ।।

२८४

कहने का अभिप्राय यही है–
रागादिक परिणाम मलीन ।
जीवन में अन्याश्रित होते–
बद्ध कर्म के उदयाधीन ।।
जब रागादि विकार न करता–
जागृत होकर सम्यग्दृष्टि ।
निर्विकार परणति के कारण
तब न बंध की होती सृष्टि ।।

२८५/१

किंतु वही करने लगता जब मोहित हो रागादि विभाव ।
तन्निमित्त कर्मों का भी तब बंधन होता स्वतः स्वभाव ।।
प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानाश्रित बंध न करता जीव प्रवीण–।
मोह न कर पर द्रव्य भाव में रहकर स्वानुभूति रस लीन ।।

२८५/२

स्व पर द्रव्य में नैमित्तिक एवं निमित्त का है व्यवहार ।
नहिं निमित्त नैमित्तिक बन कर परिणम सकता किसी प्रकार ।।
रागादिक परिणतियाँ होतीं पा निमित्त कर्मोदय म्लान ।
यों निमित्त की दृष्टि कर्म ही तत्कर्त्ता, नहिं जीव निदान ।।

२८५/३

फिर भी जब तक रागादिक के जो निमित्त होते पर द्रव्य–।
उनका प्रतिक्रमण नहि होता या हो प्रत्याख्यान न लभ्य ।।
तावत् नैमित्तिक विभाव का भी होता नहि प्रत्याख्यान ।
प्रतिक्रमण भी नहि होता, यों तत्कर्त्ता ही चेतन म्लान ।।

भावार्थः—द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान इस प्रकार ये चारों ही (अज्ञानी को बंध के कारण और) ज्ञानी को बंध के अकारक हैं ऐसा आगम में उपदेश दिया गया है ।

पूर्वकाल में जिन द्रव्यों का राग भाव से भोगोपभोग किया था उन द्रव्यों के प्रति रागभाव का त्याग द्रव्य प्रतिक्रमण है । तथा उन द्रव्यों का जिन भावों (इच्छाओं) द्वारा भोगकर रस लिया था उनका स्मरण कर रस लेने का त्याग भाव प्रति क्रमण है । इसी प्रकार भविष्य में इन्द्रियों के विषय भूत पर द्रव्य और भाव से भोगों के रस लेने का त्याग द्रव्य और भाव प्रत्याख्यान जानना चाहिए । इन चारों का त्याग न करना अप्रत्याख्यान व अप्रतिक्रमण है । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के विकल्पों का भी न करने वाला स्वानुभूति में लीन ज्ञानी बंध अकारक होता है ऐसा आगम में उपदेश है किन्तु सविकल्पी को बंध होता है ।

सारांश यह है कि जीवन में जो राग द्वेषादि भाव या संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं वे कर्मोदय के निमित्त से अन्य द्रव्याश्रित हुआ करते हैं । जब जीव सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी बनकर पर वस्तुओं को पर जान उन्हें सुख दुख का दाता न मानता हुआ उन प्रति राग द्वेष नहीं करता और अपने परम साम्यमयी शुद्ध भावों का आश्रय होता है तब प्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान संबंधी सभी विकल्पों के मिट जाने से उसे कर्म बंध नहीं होता ।

जब यह जीव पर द्रव्यों के प्रति आकृष्ट हो उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करता है तभी राग द्वेषादि भाव की उत्पत्ति होती है और इन भावों का निमित्त पाकर नवीन कर्मों का बंध भी करता है । यदि ऐसा न करे

तो बंध नहीं होता। इसी प्रकार भूत और भविष्यकाल सम्बन्धी विकारों का त्याग कर भी तत्संबंधी बंध से बचता है।

स्वद्रव्य और पर द्रव्यों में जो विकार उत्पन्न होते हैं उनका परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है। निमित्त निमित्त ही रहता है वह उपादान नहीं बनता और न उपादान कभी निमित्त बनता। पूर्व बद्ध कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में रागादि भाव उत्पन्न होते हैं इस निमित्त प्रधान दृष्टि से रागादि भावों का कर्त्ता पूर्व बद्ध कर्मों को व्यवहार से कहा जाता है--जीव को नहीं। यद्यपि उपादान की दृष्टि से जीव ही उनका कर्त्ता है--फिर भी आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति में जो पुद्गल कर्म या अन्य द्रव्य निमित्त होते हैं या हुए हैं अथवा आगे होंगे उन सबका भी जब तक प्रतिक्रमण या प्रत्याख्यान नहीं होता तब तक जीव में विभाव का भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं होता। अतः पर द्रव्यों तथा उनके प्रति अनुराग का त्याग होना नितान्त आवश्यक है।

तात्पर्य यह कि आगम में जो रागादि भाव का कर्त्ता कहीं पुद्गल कर्म को और कहीं जीव को कहा गया है—उसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। निमित्त की दृष्टि से पुद्गल कर्म रागादि भाव का कर्त्ता कहा जाता है और उपादान की दृष्टि से जीव ही उनका कर्त्ता है; क्योंकि रागादि भाव जीव के ही हैं, जीव में ही उत्पन्न होते हैं और जीव ही राग द्वेष भाव रूप परिणमन कर रागी द्वेषी बनता है तथा संसार परिभ्रमण भी इसीके फलस्वरूप करता है।

(२८६)

अधः कर्मादि दोषों का ज्ञानी अकर्त्ता है

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
किह ते कुव्वदि णाणी पर दव्वगुणा दु जे णिच्चं ॥२८६॥

२८६/१

अधः कर्म-उद्देशिकादि जो आहाराश्रित दोष विशेष।
पुद्गल के आश्रित वर्णित हैं ज्ञानी इन्हें न करता लेश॥
अन्य वस्तु के गुण दोषों का कर्त्ता नहि होता है अन्य।
जड़ पुद्गल आश्रित दोषों की आत्म कर्तृता है भ्रमजन्य॥

२८६/२

हीन पाप कर्मार्जित धन से असन पान जो हो निष्पन्न ।
वही निरूपित है आगम में अधः कर्म संज्ञा सम्पन्न ।।
पर निमित्त निर्मित समस्त ही असन पान उद्देशिक जान ।
इन पर द्रव्य भाव का कर्त्ता ज्ञानी कैसे है ? मतिमान ।।

भावार्थः— आगम में साधु के लिए आहार सम्बन्धी अधः कर्म और उद्दिष्ट (उद्देशिक) नामा दो दोषों का कथन किया गया है। ये दोनों दोष पुद्गल के आश्रित होते हैं। अन्य वस्तु के गुणों या दोषों का अन्य द्रव्य कर्त्ता नहीं हो सकता। अतः पुद्गलाश्रित दोषों का ज्ञानी कर्त्ता कैसे हो सकता है।

जो आहार (भोजन सामग्री) अन्याय और पाप कर्म क्रियाओं द्वारा उपार्जित धन से निष्पादित होता है वह अधः कर्म (पाप कर्म) से दूषित आहार कहलाता है। तथा जो आहार दूसरों के उद्देश्य से बनाया जाता है वह उद्देशिक आहार कहलाता है। अतः आहार दूषित होता है—न कि ज्ञानी।

(२८७)

आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
किह तं मम होदि कदं जं णिच्चमचेदनं वुत्तं ।।२८७।।

२८७/१

अधः कर्म उद्देशिकादि आहार मात्र पुद्गल परिणाम ।
दोष तदाश्रित अपने कैसे निश्चय कर हो सकते वाम ।।
ज्ञानी मन वच तन कृत कारित मोदन से कर तत्परिहार ।
किंचित् राग द्वेष नहिं करता असन पान में रह अविकार ।।

२८७/२

अधः कर्म से उत्पादित हो या उद्देशिक हो आहार ।
ज्ञानी की निश्चय सुदृष्टि में पुद्गल उनका है आधार ।।
ज्ञानी कृत कैसे हो सकता जो कि प्रकट पुद्गल परिणाम ।
यों विज्ञान विभव बल ज्ञानी बंध न कर पाता विश्राम ।।

भावार्थः— अधः कर्म और उद्देशिक—ये दोनों प्रकार के आहार पुद्गल द्रव्य की परिणतियां हैं। और निश्चय से पुद्गल की परिणतियां ज्ञानी (आत्मा) की कैसे कही जा सकती है? ज्ञानी साधु मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना से उस आहार की बाँछा का परित्याग करता हुआ असन पान में किंचित् भी बाँछा नहीं करता।

आहार अधः कर्म से यदि उत्पादित हो या उद्देशिक हो (या निर्दोष हो) ज्ञानी की दृष्टि में आहार मात्र पुद्गल की परणतियां रहा करती हैं। आहार का आधार पुद्गल है—मैं नहीं हूँ ऐसा भेद ज्ञान द्वारा जानता ज्ञानी बंध को प्राप्त नहीं होता।

२८७/३

ज्ञानी साधु निरीह वृत्ति रख करता जो आहार विहार—।
उससे उसे बंध नहिं होता जिनवाणी करती निर्धार।।
आहारादि क्रिया में होता जो प्रमाद किंचित् तत्काल—।
उससे उसे बंध भी किंचित् होता है, नहिं किंतु विशाल।।

भावार्थः— यतः ज्ञानी साधु अनाकाँक्ष भाव से आहार-विहार करता है उससे उसे बंध नहीं होता; किन्तु आहारादि क्रिया में जो किंचित् मात्रा में प्रमाद होता है उससे उसे उस मात्रा में बंध भी होता है; किन्तु विशाल बंध नहीं होता।

२८७/४

वह नगण्य होने से उसको गौण कर कहा है निर्बन्ध।
अनंतानुबंधी बिन जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि अबन्ध।।
हो निश्चित अनंत भव कारण का सुदृष्टि जन में अवसान।
इसी दृष्टि को मुख्य कर कहा है अबंध सद्दृष्टि, निदान।।

भावार्थः— यतः ज्ञानी साधु को आहारादि क्रिया करते समय प्रमादजन्य किंचित् नगण्य कर्म का बंध होता है अतः इस बंध को गौण करते हुए निर्बन्ध कहा है—जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि को पूर्व में निर्बन्ध कहा था—वह इस दृष्टि से कि उसके अनन्त संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हो जाने से विशाल कर्मों का बंध

नहीं होता; किन्तु अप्रत्याख्यानादि कषायों के भाव द्वारा बंध तो होता ही है, परन्तु वह मुक्ति मार्ग की दृष्टि से नगण्य है। इस प्रकार यहाँ ज्ञानी साधु को आहार के विषय में निर्बन्ध जो कहा गया है वह भी भेद विज्ञान की दृष्टि एवं विरत भाव की मुख्यता से जानना चाहिए। वस्तुतः आहार बंध का कारण न होकर प्रमाद ही बँध का कारण होता है।

२८७/५

उक्त कथन के सम्बन्ध में एक अन्य भ्रम का निराकरण

इससे यह न समझना—ज्ञानी करता है उद्दिष्टाहार।
या कि पापकर्मार्जित धन कृत भुक्ति ग्रहण करता स्वीकार॥
जान मान करता सदोष यदि वह उद्दिष्टाहार विहार।
तन्निमित्त संयम विहीन बन मार्गभ्रष्ट हो वह सविकार॥

भावार्थः— उक्त कथन का यह विपरीत अर्थ न लगा लेना चाहिए कि ज्ञानी उक्त भेद विज्ञान की ओट लेकर उद्दिष्टाहार या अधः कर्म से दूषित आहार ग्रहण करता रहता है; क्योंकि यदि जानबूझ कर उद्दिष्टाहारादि ग्रहण करता है तो तब वह तत्काल असंयमी बनकर मार्ग भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार दृष्टि में कथन भिन्न भिन्न रूप में किया गया है कहीं व्यवहार दृष्टि की मुख्यता से और कहीं निश्चय की मुख्यता से। एक दृष्टि की मुख्यता से किये गये कथन में दूसरी दृष्टि का कथन गौण हो जाता है—सर्वथा निषिद्ध नहीं। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानी फिर अभक्ष्यादि को भी पुद्गल के विकार और दोष मानकर उन्हें भक्षण करता हुआ स्वयं को निर्दोष मान स्वच्छन्द बन जावेगा और मार्ग भ्रष्ट होकर कर्म बँध करता हुआ संसार परिभ्रमण का ही पात्र होगा।

२८७/६

सारांश

अन्य द्रव्य आश्रित होते जितने विकृत भाव निःशेष—।
आत्म भिन्न कह दरशाई है यहाँ सुनिश्चय दृष्टि विशेष॥
शुद्ध नयाश्रित ज्ञानी में नित जाग्रत रहता परम विवेक।
अतः न बंधक प्रतिपादित हैं आहारादि क्रिया निःशेष॥

भावार्थ:— अन्य द्रव्याश्रित या आत्मभावाश्रित जितने भी दोष हैं ज्ञानी उन्हें निश्चय नय से आत्मभिन्न जानता है। इसीलिए शुद्ध नयाश्रित ज्ञानी रागादि विकारों को नहीं करता; क्योंकि उसमें विवेक सदा जाग्रत रहता है और इससे उसे कर्म बंध नहीं होता—आहारादि क्रिया करते हुए भी रागादि भाव के अभाव में उसे निर्बन्ध कहा गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि ज्ञानी अपने ज्ञान के गर्व में आकर यद्वा तद्वा स्वच्छन्द प्रवृत्ति कर अविवेकी जीव की भाँति व्यवहार धर्म के पालन से विमुख हो जाता है। यदि ऐसा करेगा तो वह अज्ञानी बनकर बंध करता हुआ संसार परिभ्रमण ही करतारहेगा।

इति बंधाधिकारः

अथ मोक्षाधिकारः

(२८८)

बंध के ज्ञान मात्र से मोक्ष नहीं—इसका दृष्टांत द्वारा समर्थन

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंद सहावं कालं च वियाणदे तस्स ।।२८८।।

लोह शृंखला बद्ध पड़ा इक—
कारागृह में जन संभ्रांत ।
मृदु-कठोर, दृढ़ शिथिल बंध की
सर्व स्थिति संज्ञात नितांत ।।
यों युग वीते पारतन्त्र्य में
पीड़ाओं का सहते भार—।
मुक्ति हेतु फिर भी न यत्न कर
वह रहता है बंध चितार ।

भावार्थः— एक भला आदमी लोहे की सांखलों से जकड़ा हुआ किसी कारागृह (जेल) में पड़ा हुआ है । उसे अपने बंधन की दृढ़ता या शिथिलता तथा कोमलता और कठोरता भली भाँति ज्ञात है । इस प्रकार कारागृह मे पड़े हुए एवं परतन्त्रता जन्य दुखों का भार वहन करते हुए उसे युग बीत गए हैं; किन्तु वह बन्धन से मुक्त होने का तो कोई प्रयत्न करता नहीं; केवल यह विचारता रहता है कि मैं बन्धन में पड़ा हुआ हूँ ।

(२८९–२९०)

उक्त कथन का शेषांश

जदि णवि कुव्वदि छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं ।
कालेण दु बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ।।२८९।।
इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सव्वे जदि विसुद्धो ।।२९०।।

एवं युग युगांत में भी वह
कैसे हो सकता स्वाधीन ?
लोह शृंखला काट यत्न कर
नहि यावत् हो बंध विहीन ।
त्यों यदि प्रकृति प्रदेश स्थिति–
अनुभाग बंध सब हों संज्ञात–।
फिर भी यत्न किये विन कर्मों–
का दृढ़ बंध न कटता भ्रात !

भावार्थः— इस प्रकार विचार करते हुए वह बन्दीगृह में युगों तक पड़ा रहने वाला व्यक्ति जब तक लोह की जंजीरों को नहीं काटेगा या कटवाएगा तब तक स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। उसी प्रकार कर्मों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन चारों प्रकार के बन्धनों को भली भांति जानता हुआ व्यक्ति भी बिना प्रयत्न-पुरुषार्थ-किये बन्ध के ज्ञान मात्र से स्वतन्त्र नहीं हो सकता ।

(२९१)

उक्त कथन का और भी समर्थन

जह बंधण चिंतंतो बंधण बद्धो ण पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ।।२९१।।

यथा बंध के चिंतन से नहि–
कटती लोह शृंखला रंच ।
त्यों ही कर्म बंध छेदन विन
चिंतन से हो मुक्ति न रंच ।।

भावार्थः— जैसे कारागृह में लोह शृंखलाओं को तोड़े बिना बन्दी स्वतन्त्र नहीं होता वैसे ही कर्म बन्धन को तोड़े बिना जीव भी बन्धन के चिंतन मात्र से मुक्त नहीं हो जाता ।

(२९२)

कर्म बन्ध के नाश से ही मोक्ष होता है

जह बंधं छेत्तूण य बंधनबद्धो दु पावदि विमोक्खं ।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ।।२९२।।

यदि वह बंधन बद्ध काट दे—
पग में पड़ी बेड़ियाँ हीन ।
तब होकर उन्मुक्त विचरता—
यत्र तत्र सर्वत्र प्रवीण ।।
त्यों चेतन पावन समाधि सज
कर्म बंध का कर अवसान—।
अनुपम अचल अमल अविनाशी—
पाता पावन पद निर्वाण ।।

भावार्थः— जैसे लोह श्रृंखलाओं से बंधा हुआ वही व्यक्ति अपनी लोह श्रृंखला को काट कर ही स्वतन्त्र होता है वैसे ही आत्मा भी कर्म बन्धन को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप समाधि में लीनता से काटकर मुक्त होता है ।

(२९३)

कर्म बन्धन का नाश कौन करता है ?

बंधाणं च सहावं वियाणि दुं अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म विमोक्खणं कुणदि ।।२९३।।

बंधन एवं आत्म तत्व को
पृथक् पृथक् सम्यक् पहिचान—।
बंध दुःख का हेतु जानकर
जाने स्वात्म शांति सुख खान ।।
बंध विरत हो मुनि दृढ़ता से
काटे विकट कर्म जंजीर ।

परमानंदमयी अविनाशी
पाता मुक्ति वही नर वीर ॥

भावार्थ:— जब यह जीव आत्मा और बन्ध के स्वरूप को भली भाँति जानकर और यह मानकर कि मेरे दुखों का कारण यही कर्म बन्धन है—जबकि आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी शान्त स्वरूप है— बन्ध से विमुख होकर कर्मों के बन्धन को दृढ़ता से काट देता है तब ही मुक्ति के स्वातंत्र्य सुख को प्राप्त होता है ।

(२९४–२९५)

बन्ध और आत्मा को पृथक् कैसे जाना जावे ?

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियदेहिं ।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥
जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियदेहिं ।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

नियत स्व लक्षण से विभिन्नता—
प्रज्ञा - कृत होती है सिद्ध ।
बद्ध कर्म जड़ भाव लिये हैं
ज्ञानमयी चैतन्य प्रसिद्ध ॥
बंधन निश्चित पारतन्त्र्य का
ही प्रतीक है दुख की खान ।
अतः हेय हैं, किंतु स्वात्म है—
उपादेय सुख शांति निधान ॥

भावार्थ:— प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञान पूर्वक विवेक, बुद्धि के बल से यह सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी चैतन्य स्वरूप है और ये बँधे हुए कर्म पौद्गलिक जड़ स्वरूप हैं तथा इन दोनों का बंधन ही परतंत्रता का कारण होने से दुखदायक है। अतः बंध हेय और आत्मा की स्वतन्त्रता उपादेय है ।

(२९६)

शुद्धात्म स्वरूप को ग्रहण कैसे किया जावे ?

किह सो घेप्पदि अप्पा पण्णाए सोदु घेप्पदे अप्पा ।
अह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ।।२९६।।

भगवन् ! शुद्ध स्वात्म हम कैसे–
ग्रहण करें सम्यक् निर्धार ?
भव्य ! सदा प्रज्ञा द्वारा ही–
आत्म ग्राह्य होता अविकार ।।
भिन्न ज्ञात ज्यों हुआ बंध से–
आत्म तत्व अनुपम अभिराम–।
प्रज्ञा से ही ग्रहण करो त्यों–
तब विशुद्ध चिद्रूप ललाम ।।

भावार्थः— हे भगवन् ! अनादिकाल से आत्मा और कर्मों के मिले रहने से हम शुद्धात्मा की पहचान कैसे करें ?

हे भव्य ! आत्मा के शुद्ध स्वरूप की पहिचान केवल प्रज्ञा-भेद ज्ञान पूर्वक होने वाले विवेक से ही हो सकती है । जैसे आत्म-तत्व की बन्ध से भिन्नता प्रज्ञा से ज्ञात होती है उसी प्रकार प्रज्ञा से ही अपने शुद्ध चिद्रूप (शुद्धात्म स्वरूप) को ग्रहण करो ।

(२९७)

मैं क्या हूँ ?

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वो ।।२९७।।

प्रज्ञा से जो ग्रहण किया है–
सच्चिद्रूप स्वस्थ अम्लान–।
मैं ही हूँ वह वस्तु तत्वतः
परं ज्योति विज्ञान निधान ।।

मम स्वभाव से सर्व भिन्न है–
रागादिक परिणाम मलीन ।
मैं निज कर निज में निज के ही–
लिये ग्रहण के योग्य प्रवीण ।।

भावार्थ:— प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण किया गया जो चैतन्य स्वरूप आत्मा वही मैं हूँ और रागादिक मलिन भाव मेरे स्वभाव से भिन्न हैं । मैं तो अपने में अपने द्वारा अपने लिए ग्रहण करने योग्य शुद्ध आत्म तत्व हूँ ।

(२९८)

मैं और क्या हूँ ?

पण्णाए घेत्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तुणिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२९८।।

प्रज्ञा से जो ग्रहण किया वह
दृष्टा भी मैं हूँ स्वाधीन ।
चित्स्वभाव से सकल भिन्न हैं
वैभाविक परिणाम मलीन ।।
ये विकार विड्रूप लिये हैं
ज्वर वत् दुःखमयी साकार ।
मैं चेतन चिद् ब्रह्म चिरंतन
परमानंद मयी अविकार ।।

भावार्थ:— प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण किया गया जो तत्व वह दृष्टा भी मैं ही हूँ । मेरे चैतन्य स्वभाव से राग, द्वेष, क्रोध मानादि समस्त विभाव भिन्न हैं; क्योंकि वे सब, ज्वर के समान आत्मा को आकुलता उत्पादक होने से दुखदायी हैं। मैं तो चिद् ब्रह्म ज्ञानानन्द स्वभावी निर्विकार चेतन हूँ ।

(२९९)

उक्त कथन का और भी समर्थन

पण्णाए घेतव्वो जोणादा सो अहं तु णिच्छहदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वो ।।२९९।।

प्रज्ञा से ग्रहीत मैं ही हूँ–
ज्ञाता भी निःशंक ललाम।
मुझ से भिन्न भाव सब पर हैं
मैं हूँ निर्विकार निष्काम ।।

भावार्थ:— प्रज्ञा द्वारा जो तत्व ग्रहण करने में आया है वह ज्ञान स्वरूप ज्ञाता मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न जितने भी विकारी भाव हैं वे सब पर हैं। मैं विकार रहित शुद्ध चैतन्य मात्र (निश्चय से) हूँ।

(३००)

कोणाम भणेज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पणं सुद्धं ।।३००।।

३००/१

कौन विवेकी जान स्वयं को अन्य द्रव्य भावों से भिन्न–।
यह मानेगा और कहेगा मुझ से हैं जड़ भाव अभिन्न ।।

ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो स्वयं को पर द्रव्यों और उनके भावों से स्वयं को भिन्न मानता हुआ भी उन्हें अपना मानेगा और कहेगा कि ये मेरे हैं।

३००/२

सम्बोधन

शुद्ध बुद्ध ज्ञायक स्वभाव तू एक बार अनुभव कर भ्रात !
तब कल्याण इसी में निश्चित–यही मुक्ति का पथ अवदात ।।
निज स्वरूप का ज्ञान किये बिन चेतन भटक रहा भव-भ्रांत।
मोहराग द्वेषादि विकृति वश बंधन में फँस बना अशांत ।।

भावार्थ:— हे आत्मन् ! तू अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभाव का एक बार तो अनुभव कर। तेरा कल्याण इसी में निहित है। यही मुक्ति का पवित्र मार्ग भी है। इसको जाने बिना पर वस्तु में राग, द्वेष कर तू संसार में अनादि काल से भटक रहा और दुखी हो रहा है।

(३०१)

अपराधी जीव बँधता और निरपराध मुक्त होता है

थेयादी अपराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदी ।
मा वज्झे हं केण वि चोरोत्ति जणम्हि वियरंतो ।।३०१।।

चौर्य आदि अपराध शील जन–
कर कुकर्म पाता नहि शांति ।
कहीं न बाँधा मारा जाऊँ–
यों रहती मन घोर अशांति ।।
जहाँ कही जाता – रहता है–
आशंकाओं से आक्रांत ।
सहज हि मन में परितापों से–
पीड़ित रहता सतत अशांत ।।

भावार्थ:— चोरी, कुशील आदि पापों के करने का जिसको व्यसन होता है वह व्यक्ति उन्हें करके कभी शान्ति नहीं पाता; क्योंकि अपराधी के मन में सदा यह आशंका बनी रहती है कि कहीं मैं बांधा मारा न जाऊँ। वह जहाँ भी जाता है शंकाओं से घिरा रह कर आकुल-व्याकुल ही बना रहता है।

(३०२–३०३)

उक्त कथन की और भी पुष्टि

जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको जणवदे भमदि ।
णवि तस्स वज्झिदुं ज चिंता उप्पज्जदि कदावि ।।३०२।।
एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेदा ।
जो पुण णिहावराहो णिस्संको हं ण वज्झामि ।।३०३।।

जो धर्मी अपराध न करता
वह रहता सर्वत्र निशंक ।
देश विदेश विचारता, उसको–
रोके कौन जान निकलंक ।।

त्यों चेतन बंधन में पड़ता
जब भी करता वह अपराध।
निरपराध रह वही मुक्ति पा
करता पूर्ण आत्म की साध ॥

भावार्थः— जो व्यक्ति अपराध नहीं करता वह सदा सर्वत्र निःशंक और निराकुल रहता है—वह देश में रहे या विदेश में—उसको निष्कलंक जानकर कोई भी रोक टोक नहीं करता। उसी प्रकार यह आत्मा भी जब अपने ज्ञान स्वभाव से च्युत (भ्रष्ट) होकर अपराधी (रागी द्वेषी) या पापाचारी बनता है तब कर्म बंधन में पड़ता और निरपराध रहकर शाँति तथा मुक्ति को प्राप्त होता है।

(३०४–३०५)
अपराध अपराधी और निरपराधी का स्पष्टीकरण

संसिद्धि राधसिद्धं साधिदमाराधिदं च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आराहणाइ णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ॥३०५॥

राध, सिद्ध, साधित, आराधित
या संसिद्धि आदि सब नाम।
एक अर्थ वाचक हैं – इनमें
अर्थ भिन्नता तनिक न वाम ॥
कर पर का परिहार - स्वात्म की
सिद्धि साधना ही है राध।
जो हो राध रहित वह निश्चित–
ही कहलाता है अपराध ॥
निरपराध चेतन रहता है –
सतत निशंक और स्वाधीन–।

निज को शुद्ध अनुभवित कर वह
निज में ही रमता अमलीन ।।

भावार्थ :— राध, सिद्ध, साधित, आराधित, संसिद्धि, आदि सब नाम एकार्थ वाचक हैं जिनका अर्थ है सम्पूर्ण विकारों को त्यागकर आत्मा की साधना करना । जो आत्मा को शुद्ध करने की क्रिया है वही राध कहलाती है । और राध रहित अर्थात् आत्म सिद्धि के विपरीत जो क्रियाएँ हैं वे सब अपराध हैं । निरपराध व्यक्ति ही सदा निःशंक रहता है और वही आत्म स्वरूप में रमण करता है । निरपराधी आत्मा जो स्वरूप में लीन है उसे प्रतिक्रमण करने का विकल्प विष कुंभ के समान है ।

विष कुम्भ क्या है ? इसका स्पष्टीकरण आगे पढ़िय ।

(३०६–३०७)

विष कुम्भ और अमृत कुम्भ

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ।।३०६।।
अपिडकमणमपडिसरणमप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदागरुहासोही अमयकुंभो ।।३०७।।

३०६

प्रति क्रमण, प्रतिसरण, धारणा,
निंदा गर्हा और निवृत्ति ।
शुद्धि तथा परिहार अष्ट विधि—
है विष कुंभ सदा चिद् वृत्ति ।।

३०७/१

अप्रति–क्रमणा निंदा गर्हा वा अधारणा निःपरिहार ।
वा अनिवृत्ति अशुद्धि ये कहे अमृत कुंभ मुनि जीवन सार ।।
यतः स्वानुभव रत रहता जन निर्विकल्प बन निज रस लीन ।
उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन भी उसे लक्ष्य कर किया प्रवीण !

३०७/२

प्रतिक्रमणा प्रतिक्रमण आदि कृत जब तक हैं संकल्प विकल्प ।
तब तक कर्म बंध होता है अंत न यावत् अंतर्जल्प ।।
'मैं हूँ प्रतिक्रमण का कर्त्ता' यों जागृत हो जब अभिमान ।
आत्म साधना की न गंध तब रहती, होता बंध निदान ।।

३०७/३

यह न समझना प्रतिक्रमणादिक सर्व दृष्टि हैं धर्म विरुद्ध ।
यतः विकल्प दशा में मुनि को वे आवश्यक हैं अविरुद्ध ।।
हो जाने पर दोष न करता यदि मुनि प्रति क्रमण कर शुद्धि ।
है सविकल्प दशा में यदि वह तब मुनि ही न रहा दुर्बुद्धि ।।

३०७/४

परम समाधि दशा में होते सकल शुभाशुभ भाव विलीन ।
व्यवहाराश्रित धर्म क्रिया सब हो जाती निश्चय में लीन ।।
स्वानुभूति में रमण करें या प्रतिक्रमण में देवें ध्यान ?
स्वानुभूति तज प्रतिक्रमण में चित्त वृत्ति ही पतन महान ।।

भावार्थः— प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, धारणा, निन्दा, गर्हा, निवृत्ति, शुद्धि तथा परिहार ये आठ प्रकार के भाव विष कुम्भ कहलाते हैं—उन मुनियों के लिए जो ज्ञानी बनकर स्वानुभव का रसपान करते हुए शुद्धोपयोग में मग्न हैं। यतः प्रतिक्रमण करने का विकल्प करना जबकि व्यक्ति शुद्धोपयोग की दशा में निर्विकल्प समाधि में लीन होरहा हो—उच्च दशा से हीन दशा को प्राप्त होना है–जो आत्मोत्थान की दृष्टि से पतन का कारण है।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अधारण, अनिन्दा, अगर्हा, अनिवृत्ति, अशुद्धि तथा अपरिहार ये अमृत कुम्भ हैं—जो ज्ञानी, समाधिस्थ मुनि के जीवन में श्रेयस्कर हैं। क्योंकि स्वानुभूति में लीन होकर ही मानव निर्विकल्प बनकर ज्ञानानन्द को प्राप्त करता है। इसीलिये उसकी दृष्टि से प्रतिक्रमणादिक को विष कुम्भ और अप्रतिक्रमणादि को अमृत कुम्भ कहा है।

प्रतिक्रमण या अप्रतिक्रमण के संकल्प-विकल्प जब तक मन में रहा करते हैं तब तक कर्मों का बँध हुआ करता है भले ही वह शुभ कर्मों का होता हो। मैं प्रतिक्रमण का कर्त्ता हूँ, इस प्रकार कर्त्तृत्व का अभिमान जब मन में जागृत होता है तब आत्म साधना समाप्त होकर कर्म बँध होने लगता है।

उपर्युक्त कथन से यह न समझ लेना चाहिए कि प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि करना सभी दृष्टियों और सबके लिए पतन का कारण या धर्म विरुद्ध हैं। इन्हें निर्विकल्प शुद्धोपयोग की दशा को त्यागकर—जो कि साधक की सर्वोच्च और निर्बंध दशा है– प्रतिक्रमणादि रूप सविकल्प दशा में आना—ऊपर से नीचे गिरना है अतः निर्विकल्प समाधि को परित्याग कर सविकल्प बन प्रतिक्रमणादि करने हेतु साधक को निरुत्साहित करने क लिए उक्त कथन जानना चाहिए। उच्च श्रेणी की अपेक्षा जघन्य श्रेणी हेय है। किन्तु जब साधक (मुनि) सविकल्प दशा में हो तो उसे दोष हो जाने पर प्रतिक्रमण करना हेय न होकर उपादेय—अर्थात् आवश्यक और अनिवार्य है। यह प्रतिक्रमण दोषी मुनि को पतन का कारण न होकर आत्मशुद्धि का साधन है। यदि दोष के दृष्टि में आजाने पर भी वह प्रतिक्रमण नहीं करेगा तो स्वछन्द वृत्ति धारण कर लेने से वह मुनि मार्ग से भ्रष्ट ही होगा।

परम समाधि में लीन हो जाने से निर्विकल्प दशा में व्यवहार धर्म संबंधी सभी क्रियाएँ और भाव निश्चय में विलीन हो जाते हैं। परम समाधि–निर्विकल्प दशा में लीन साधु स्वरूप में रमण करे या प्रतिक्रमण करने की बात सोचे ? स्वानुभूति रमण परित्याग कर प्रतिक्रमणादि करने का विकल्प करना तो साधु का पतन ही कहा जाएगा। जैसे मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ने वाला उत्थान की ओर एवं उतरने वाला पतन की ओर ही माना जाता है। उसी प्रकार भावों की दृष्टि से उत्थान पतन जानना चाहिए।

इति मोक्षाधिकार

अथ सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकारः

(३०८)

दवियं जं उप्पज्जदि गुणेहि तं तेहि जाण दु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु य पज्जाए हिं कणयमणण्णमिह ।।३०८।।

जिन आत्मीय गुणों से होता
स्वतः प्रत्येक द्रव्य निष्पन्न ।
वह उनसे अनन्य ही होता
गुण न द्रव्य से होते भिन्न ।।
स्वर्ण मुद्रिका आदि रूप धर
ज्यों परिणमता विविध प्रकार ।
निश्चित ही वे मुद्रिकादि सब
स्वर्णमयी होते साकार ।।

भावार्थः— जीवादि द्रव्य जिन-जिन आत्मीय गुणों से निष्पादित हैं वे गुण सब उनसे अभिन्न ही होते हैं—गुण द्रव्य से भिन्न नहीं होते । उसी प्रकार द्रव्य की पर्यायें भी उससे भिन्न नहीं होतीं । जैसे सोना जब कड़ा और या अंगूठी (मुद्रिका) का रूप धारण करता है तब उसकी कड़ा आदि पर्यायें उससे भिन्न नहीं होतीं—न हो सकती; अन्यथा पर्यायें स्वयं द्रव्य बन जावेगी और बिना किसी पर्याय के सोना भी टिक न सकेगा ।

(३०९)

जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ।।३०९।।

जीवाजीव द्रव्य में होते
जो जो भी परिणाम विभिन्न ।
वे उनसे अनन्य ही होते
पर्यायों से द्रव्य न भिन्न ।।
अभिप्राय यह है कि द्रव्य नित
कहलाता गुण पर्ययवान् ।

अतः सहज तादात्म्य द्रव्य–
गुण पर्यय में है सूत्र प्रमाण ।।

भावार्थः— उसी प्रकार जीव और अजीव द्रव्य में भी जो जो परिणाम होते हैं वे उनसे अनन्य ही जानना चाहिए क्योंकि द्रव्यों को गुण पर्यायवान् कहा गया है जो उनमें तादात्म्य संबंध से रहते हैं ।

(३१०)

जीव द्रव्य किसी का कार्य या कारण नहीं है

ण कदाचिवित्उप्पण्णो जम्हाकज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण सो होदि ।।३१०।।

यतः कभी भी नहीं किसी से–
जीव द्रव्य होता उत्पन्न ।
अतः कार्य वह नहीं किसी का
बंधु ! न हो सकता निष्पन्न ।।
तथा जीव नहिं अन्य द्रव्य या
गुण का करता है निर्माण ।
अतः न कारण भी वह पर का
मान्य किया जाता, मतिमान् ।।

भावार्थः— यतः जीव द्रव्य अन्य द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता अतः वह किसी द्रव्य का कार्य नहीं है और न जीव द्रव्य किसी अन्य द्रव्य या उसके गुण पर्याओं का उत्पादक है अतः वह किसी का कारण भी नहीं है ।

(३११)

कारण कार्य का व्यवहार कहाँ होता है ?

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंते णियमा सिद्धी ण दिस्सदे अण्णा ।।३११।।

कर्माश्रित कर्त्ता, कर्त्ताश्रित –
कर्म नियम से हों निष्पन्न ।

हो सकता निश्चित न अन्यथा–
कर्त्ता कर्म भाव सम्पन्न ।।
कर्म बिना कर्त्ता नहिं संभव
त्यों न कर्तृ बिन कर्म विचार ।
परस्पराश्रित ही होता है –
कर्त्ता और कर्म व्यवहार ।।

भावार्थः—कर्त्ता कर्म (कार्य) के आश्रित है—जब कर्म होगा तभी उनका कोई कर्त्ता कहलायेगा और कर्म कर्त्ता के आश्रित है। कर्त्ता होगा तभी वह उसका कर्म कहलावेगा। बिना कर्म के कर्त्ता और कर्त्ता के बिना कर्म का व्यवहार नहीं हो सकता। कर्त्ता और कर्म का सम्बन्ध परस्पराश्रित है।

(३१२–३१३)

आत्मा और कर्म प्रकृतियों का सम्बन्ध और संसार

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ।
पयडी वि चेदयट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ।।३१२।।
एवं बंधो य दोण्हं पि अण्णोण्णपच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायवे ।।३१३।।

यह प्राणी अज्ञान दशा में–
कर्म प्रकृति वश हुआ विपन्न ।
नित नूतन कर विकृति स्वतः ही
होता नष्ट और उत्पन्न ।।
सुख दुख कर्म फलों में रत हो–
नित करता रागादि विकार ।
तन्निमित्त पा कर्म रूप धर
पुद्गल परिणमता साकार ।।

यों जड़ चेतन विकृत भाव से
होता उभय परस्पर बंध।
जिससे संसृति चक्र चल रहा—
कर्त्ता और कर्म संबंध ॥

भावार्थः— कर्म बद्ध यह प्राणी अज्ञान दशा में ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के उदय के निमित्त से नित नए रागादि भावों को करता हुआ स्वयं ही अपनी पर्यायों द्वारा नष्ट और उत्पन्न होता रहता है अर्थात् सुख दुखादि रूप अपने बद्ध कर्मों के फलों में रत होकर रागादि भावों का कर्त्ता है और उन रागादि भावों के निमित्त से पुद्गल के परमाणु कर्म रूप धारण कर आत्मा से बंधते रहते हैं। यह परम्परा अनादि से चली आ रही है।

आत्मा और पुद्गलों के विकारी बन जाने से इन दोनों में परस्पर जो बंध होता है उसी बंध के कारण यह संसार चक्र चल रहा है।

(३१४-३१५)

बंध का और बंध फल के न भोग का परिणाम

जाएस पयडीअट्ठं चेदगो ण विमुञ्चति।
अयाणओ हवे तावं मिच्छादिट्ठी असंजदो ॥३१४॥

जदा विमुञ्चदे चेदा कम्मफलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणगो पस्सगो मुणी ॥३१५॥

जब तक जीव प्रकृति वश रह
नहि करता दोषों का परिहार।
तावत् अज्ञानी असंयमी
मिथ्या दृष्टि रहे सविकार ॥
कर्म अनंत फलों में जब वह—
राग द्वेष कर हो न मलीन—।
ज्ञाता दृष्टा मात्र बना रह—
नहिं करता तब बंध नवीन ॥

अभिप्राय यह है कि कर्म फल–
में विरक्त ज्ञानी संभ्रांत–।
नहि भोक्तृत्व भाव बिन करता–
किंचित् कर्म बंध निर्भ्रान्त ।।

भावार्थः— जब तक यह जीव कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ उनके उदय जन्य फल सुख दुखादि में राग द्वेष कर अपराधी बना रहता है तब तक राग द्वेष के द्वारा नवीन कर्मों का बंध करता और मिथ्या दृष्टि अज्ञानी व असंयमी बना रहता है। तथा जब यह आत्मा कर्मों के अनन्त फलों को विरत भाव से त्याग कर समभावी बन जाता है—अर्थात् सुख दुखादि रूप कर्मों के फलों में राग द्वेष न कर समभाव से भोगता है तब मात्र ज्ञाता दृष्टा बन जाने से इसे कर्मों का बंध न होकर पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है।

(३१६)

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म फल भोग में अन्तर

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि ।
णाणी पुण कम्म फलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ।।३१६।।

सुख दुख कर्म फलों में रत हो–
अज्ञानी जड़ कर्माधीन ।
'अहं' भाव कर हर्षित होता
या विषाद कर बँधता दीन ।।

जब कि ज्ञान बल ज्ञानी सुख दुख
मात्र कर्म फल जान प्रवीण ।
ज्ञाता दृष्टा बन समभावी–
बंध न करता रंच नवीन ।।

भावार्थः— अज्ञानी जीव पूर्व बद्ध कर्मों के सुख दुखादि फलों में रत होकर उनमें अहं भाव करता हुआ हर्ष विषाद करता है जिससे उसे नवीन कर्मों का पुनः बंध होता रहता है; किन्तु ज्ञानी अपने भेद ज्ञान से सुख

दुःख को पुद्गल कर्मों के फल जान उनमें राग द्वेष नहीं करता—उनका ज्ञाता दृष्टा मात्र बना रहता है, अतः नवीन कर्मों का बँध नहीं करता ।

(३१७)

अभव्य जीव के स्वभाव की विचित्रिता

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि ।
गुडदुद्धंपि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ।।३१७।।

चिर अज्ञान भाव संस्कारित
रहकर सदा विकाराक्रांत—।
भली भाँति कर शास्त्र अध्ययन—
भी अभव्य रहता दिग्भ्रांत ।।
प्रकृति दोष वश दुग्ध पान कर
भी निर्विष ज्यों हो न भुजंग ।
त्यों अभव्य अज्ञान भाव वश
परिहरता नहिं प्रकृति कुसंग ।।

भावार्थः— चिरकालीन अज्ञान भाव से जिसकी आत्मा संस्कारित है ऐसा अभव्य जीव शास्त्रों का अध्ययन भली भाँति करके भी मिथ्यादर्शन के वश हुआ अपनी प्रकृति (दूषित स्वभाव) का परित्याग नहीं करता । जैसे गुड़ मिश्रित दूध पीकर भी भुजंग (सर्प) निर्विष नहीं होते । उनको पिलाया गया मीठा दूध भी विष रूप परिणमन का प्राण घातक बन जाता है—उसी प्रकार अभव्य जीव को शास्त्र ज्ञान भी मिथ्यात्व और कषायों की पुष्टि कर संसार परिभ्रमण ही कराता है ।

(३१८)

ज्ञानी का कर्मफलों में निर्वेदन

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहुप्पयाराइं ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ।।३१९।।

रह संसार देह भोगों से—
उदासीन ज्ञानी अम्लान—।

सुख दुख केवल कर्मोदय कृत
मधुर कटुक फल रहता मान ।।
ज्ञाता दृष्टा बन परिणमता–
तन्मय हो लेता नहिं स्वाद ।
स्वानुभूति गत निजानंद का
पाकर अनुपम महा प्रसाद ।।

भावार्थः— यतः ज्ञानी जीव को संसार शरीर और भोगों की निःसारता का ज्ञान होने से वह उनसे उदासीन बन जाता है और सुख-दुखादि को कर्मों के मीठे कड़वे फल जान उनमें रत न होकर उनका मात्र ज्ञाता दृष्टा बना रहता है अतः वह कर्म फलों का भोक्ता न होकर स्वानुभूतिजन्य अनुपम आनन्द का स्वाद लेकर आत्म स्वरूप मे मगन बना रहता है ।

(३१९)

उक्त कथन का पुनः समर्थन

ण वि कुव्वदि ण वि वेददि णाणी कम्माइ वहुप्पयाराइं ।
जाणदि पुण कम्म फलं बंधं पुण्णं च पावं च ।।३१९।।

कर्म कर्मफल शून्य चेतना–
जिसकी हुई ज्ञान में लीन–।
वह न कर्म कर्त्ता या उनका–
फल भोक्ता-सम भावों-लीन ।।
सुख दुख मान कर्म फल ज्ञानी–
उनसे कभी न करता प्यार ।
पुण्य पाप द्वय कर्म बँध भी
करता नहि वह समता धार ।।

भावार्थः— ज्ञानी जीव (वीतराग सम्यग्दृष्टि) कर्मचेतना (राग-द्वेषादि भाव रूप आत्मा की परिणति) को नहीं करता तथा पुण्य और पाप कर्मों व उनके फलों को जानता मात्र है । इस कारण उसे कर्म बंध नहीं होता ।

(३२०)

ज्ञानी की परिणति का दृष्टान्त द्वारा समर्थन

दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयंत ह अवेदयं चेव ।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ।।३२०।।

ज्ञानी का वर ज्ञान चक्षु सम
जाने देखे तत्व अशेष ।
बंध मोक्ष निर्जरा आदि या
कर्म जन्य सुख दुःख विशेष ।।
इनमें रत हो कभी न भोक्ता
और न कर्त्ता बनें प्रवीण ।
नश जाता वर ज्ञान ज्योति से—
उसका तम अज्ञान मलीन ।।

भावार्थः—जैसे नेत्र पदार्थों को केवल देखता है, उनका कर्त्ता भोक्ता नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी भी अपने ज्ञान नेत्र से पदार्थों को देखता जानता तो है; किन्तु उनका कर्त्ता और उनमें रत होकर उनका भोक्ता नहीं होता। मात्र ज्ञाता दृष्टा बना रहता है। बंध, मोक्ष, कर्मों का उदय और निर्जरा आदि तत्वों के ज्ञानी को यथार्थ ज्ञान होता है अतः वह सब द्रव्यों और भावों में समभावी बन जाता है।

(३२१–३२३)

कर्त्ता वादियों को मोक्ष नहीं

लोगस्स कुणदि विण्हू सुरणारय तिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणं पिय अप्पा जदि कुव्वदि छप्पिहे काये ।।३२१।।
लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्स दिविसेसो ।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पणो कुणदि ।।३२२।।
एवं णकोवि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्हंपि ।
णिच्चं कुव्वंताणं स देवमणु या रेसु लोगे ।।३२३ ।।

सुर नर असुर चराचर सबकी
विष्णु सृष्टि कर्त्ता—यों मान—।
चलते कर्त्ता वादी — त्यों यदि—
श्रमणों का भी हो श्रद्धान—
यह कि जीव ही षट्कायों का
संसृति में करता निर्माण ।।
कर्त्तावादी सम श्रमणों का
ठहरा तब सिद्धांत समान ।।
विष्णु वहाँ जीवों का सृष्टा—
श्रमण रचै जीवाश्रित वेश ।
यों दोनों को स्रजन क्रिया कर
सिद्ध हो रहा राग—द्वेष ।।
राग द्वेष विन मूर्ख व्यक्ति भी
कर्त्ता नहिं किंचित् भी काम ।
सृष्टि और देहों की रचना—
संभव हो कैसे निष्काम ?
इस प्रकार नहि स्रजक विष्णु सम-
पा सकते न श्रमण भी मुक्ति ।
कुंभकार सम यतः सिद्ध है—
राग द्वेष युत उभय प्रवृत्ति ।।
करता विष्णु सुरासर सब का
ज्यों निर्माण कार्य सम्पन्न ।।
त्यों कायों की श्रमण सृष्टि कर
निश्चित हुआ विकारापन्न ।।

भावार्थः— लोक में कर्त्ता वादियों की ऐसी मान्यता है कि विष्णु भगवान् सुर, नर, असुरादि सभी जीवों और पदार्थों की रचना करते हैं ।

यदि श्रमणों की भी ऐसी मान्यता हो कि आत्मा षट्कायों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस) जीवों या उनके शरीरों का सृष्टा है तो कर्त्ता वादियों और श्रमणों का सिद्धान्त समान हो जायगा---जो जैन सिद्धांत के विरुद्ध है। कर्त्तावादियों ने विष्णु को सृष्टि का सृष्टा माना और इधर श्रमणों ने षट्कायों का आत्मा को रचयिता माना – इस प्रकार पर की सृजन क्रिया करने के कारण दोनों को राग द्वेष स्वयं सिद्ध होजाता है, क्योंकि बिना राग द्वेष के मूर्ख भी किसी काम को नहीं करता। फिर सृष्टि और षट्कायों की रचना करना बिना प्रयोजन (राग, द्वेष के) कैसे सम्भव है ?

इस प्रकार राग भावपूर्वक स्रजन क्रिया में संलग्न श्रमण विष्णु क समान मुक्ति का पात्र नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों की प्रवृत्तियों में राग, द्वेष भावों की गन्ध आ रही है--जो बंध का ही कारण है।

(३२४)

पर द्रव्य को अपना कहना व्यवहार है। निश्चय से अपना कुछ नहीं है

ववहारभासिदेण दु पर दव्वं मम भणंति विविदत्था ।
जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमेत्तं पि ।।३२४।।

पर द्रव्यों में 'मेरा - तेरा'–
यों जो है व्यवहार नितांत–।
तत्व ज्ञान से शून्य जन उसे
सत्यमान बनता दिग्भ्रांत ।।
आखिर पर तो पर ही रहता
कल्पित है इसमें ममकार।
निश्चय से परमाणु मात्र पर
क्या तेरा अधिकार ? विचार ।।

भावार्थः— लोक में आत्म भिन्न पर द्रव्यों में—"यह मेरा घर है–यह तेरा पुत्र है' आदि, इस प्रकार जो उपचरित व्यवहार हुआ करता है इस उपचार को ही अज्ञानी जीव पूर्ण सत्य मानकर भ्रमजाल मे फँसा रहता है और इस भ्रमवश ही वह राग द्वेष भी (इष्टानिष्ट की कल्पना कर) किया

करता है। किन्तु जो वस्तु आत्मा से भिन्न है वह तो भिन्न ही रहेगी। वास्तविक (निश्चय) दृष्टि से विचार करें तो गृहादि तो दूर रहो एक परमाणु मात्र पर तेरा या मेरा क्या अधिकार हो सकता है? जबकि सभी द्रव्य सिद्धान्तानुसार भिन्न-भिन्न और पूर्ण स्वतंत्र हैं।

(३२५-३२७)

यदि कोई ज्ञानी पर द्रव्य को अपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है

जहकोविणरोजंपदि अम्हाणंगाम विसयणयरट्ठं।
ण य होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो।
जो पर दव्वं मम इदि जाणंतो अप्पणो कुणदि ॥३२६॥
तम्हा ण मेत्ति णच्चा दोण्हं एदाण कत्ति ववसाओ।
परदव्वं जाणन्तो जाणेज्जा दिट्ठिरहिदाणं ॥३२७॥

लौकिकजन यों मान चल रहे—
मेरा है यह गृह अभिराम—।
अथवा भारत देश हमारा—
या कि नगर, पुर, पत्तन, ग्राम ॥

किंतु वस्तुतः किसका क्या है,
तेरा मेरा यह संसार?
सचमुच ये परमार्थ दृष्टि से
मोह जन्य हैं भ्रांत विचार ॥

३२६

एवं ज्ञानी भी जब पर में—
करता अहंकार ममकार।
वह परात्मवादी तब निश्चित—
मिथ्या दृष्टि बनें साकार ॥

इससे यह भी जाना जाता
उक्त सृष्टि – कर्त्तृत्व प्रवीण !
भ्रांतिमात्र है– यतः जगत का
है अस्तित्व स्वतः स्वाधीन ।।

३२७

ज्यों सुदृष्टि संप्राप्त विज्ञ जन–
तजता पर ममत्व परिणाम ।
वह तथैव कर्त्तृत्व अन्य का
मान न चलता है निष्काम ।।
पर में कर्म कर्त्तृता का जो
लौकिक जनगत है व्यवहार –।
वह परमार्थ दृष्टि में केवल
विज्ञ जानता है उपचार ।।

भावार्थः— व्यवहार में लौकिक जन यह मान कर चलते हैं कि यह घर मेरा है, ग्राम मेरा है, नगर मेरा और प्रांत मेरा या देश भी मेरा है– आदि; किन्तु यदि वास्तव में देखा जावे तो यह सब मान्यता यथार्थ न होकर भ्रमजन्य ही है । क्योंकि प्रथम तो मृत्यु के पश्चात् कुछ भी साथ नहीं जाता और प्रत्यक्ष में भी ये सब आत्मा से भिन्न ही दिखाई दे रहे हैं। फिर जिस घर या नगर को तू मेरा मान और कह रहा है उसे ही अन्य जन भी अपना मान और कह रहे हैं । अतः पर वस्तु को अपनी मानना कोरा भ्रम है ।

इन लौकिक जनों के समान जब ज्ञानी पुरुष भी पर वस्तु में अहंकार और ममकार करने लगता है तब वह भी मिथ्यादृष्टि बन जाता है । इसीसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जगत् का कर्त्ता धर्त्ता किसी को मानना भी कोरा भ्रम ही है । कोई किसी का कर्त्ता धर्त्ता नहीं है ।

इसके सिवाय सम्यग्दृटि जैसे अन्य वस्तु के प्रति ममत्वभाव का त्याग करता है वैसे ही पर कर्तृत्व की भावना भी नहीं रखता । यद्यपि लोक में

पर वस्तुओं के प्रति कर्त्ता, कर्म, व्यवहार चलता है—जैसे घड़े को कुम्हार ने बनाया आदि; किन्तु यह व्यवहार मात्र निमित्त की प्रधानता से होता है; किन्तु निश्चय दृष्टि से तो मृत्तिका का ही घड़े के रूप में परिणमन है, घड़ा मिट्टी की ही एक पर्याय है जिसमें कुम्हार निमित्त कारण अवश्य है।

(३२८)

मिथ्यात्व कर्म प्रकृति जीव को मिथ्यादृष्टि नहीं बनाती
(पर कर्त्तृत्व में दोषों का स्पष्टीकरण)

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठ करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगा पत्ता ।।३२८।।

यदि मिथ्यात्व प्रकृति जीवों को
मिथ्यात्व दृष्टि बनाती म्लान।
तब यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति में
ही रहता कर्त्तृत्व, निदान ।।

निरपराध तब जीव ठहरता—
उसे न हो तब बंध नवीन।
बंध बिना संसार प्रक्रिया—
हो जाये तब स्वयं विलीन ।।

भावार्थः— यदि यह मत हो कि मिथ्यात्व नाम की कर्म प्रकृति जो अचेतन-पौद्गलिक है—वह जीवों को मिथ्यादृष्टि बनाती है तो इस मान्यता में जीव के भाव मिथ्यात्व की कर्त्ता भी वही प्रकृति ठहरेगी। जीव निर्दोष ठहरेगा उसे फिर बंध न होगा और इससे फिर उसे संसार परिभ्रमण भी न होगा— जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

जीव को पुद्गल में मिथ्यात्व भाव उत्पन्न करने वाला मानने में दोष

(३२९)

अहवा एसो जीवो पोग्गल दव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गल दव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ।।३२९।।

त्यों यदि पुद्गल में जन करते—
मिथ्यात्वादि मलिन परिणाम।
तब पुद्गल मिथ्यात्वी ठहरे—
और जीव निर्दोष अकाम॥

बंध तदा पुद्गल को होगा
बंधन से होगा संसार।
पुद्गल ही सुख दुख भोगेगा
जीव सिद्ध होगा अविकार॥

भावार्थ:—यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा पुद्गल द्रव्य में मिथ्यात्व भाव उत्पन्न करता है तब पुद्गल मिथ्यात्वी ठहरेगा और आत्मा निर्दोष। ऐसी दशा में मिथ्यात्वी पुद्गल को ही बंध होगा और उसे ही संसार परिभ्रमण करना पड़ेगा एवं जीव निर्विकार सिद्ध होगा—ऐसा मत भी प्रमाण विरुद्ध है।

(३३०)

पुद्गल और आत्मा मिलकर भी पुद्गल में मिथ्यात्व भाव उत्पन्न नहीं करते

अहजीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दो हि कदं तं दोण्हि वि भुञ्जंति तस्स फलं॥३३०॥

यदि जड़ चेतन मिल पुद्गल में
मिथ्या भ्रांति करें उत्पन्न।
तत्फल प्राप्ति तदा दोनों को—
ही अवश्य होगी निष्पन्न॥

फिर मिथ्यात्वादिक से होगा
पुद्गल को निश्चित ही बंध।
यह सिद्धांत विरुद्ध मान्यता—
इष्ट किसे हो सकती अंध!

भावार्थः— यदि ऐसा माना जावे कि आत्मा और पुद्गल दोनों मिल कर पुद्गल में मिथ्या भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं तब पुद्गल को उसका फल भी भोगना पड़ेगा और उसे ही कर्मों का बंध होने का प्रसंग भी आवेगा जो कि सिद्धांत व प्रमाण से विरुद्ध है।

(३३१)

अह ण पयडी न जीवो पोग्गल दव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गल दव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ।।३३१।।

प्रकृति - जीव पुद्गल में करते
यदि मिथ्यात्व नहीं उत्पन्न ।
तब मिथ्यात्व रूप पुद्गल की
परणति स्वतः हुई निष्पन्न ।।
इससे सिद्ध हुआ पुद्गल में—
जो होती परिणतियाँ म्लान—।
वे पुद्गल के ही विकार हैं—
मात्र निमित्त चेतना म्लान ।।
त्यों चेतन में जो होते हैं—
राग द्वेष परिणाम मलीन ।
वे चेतन के ही विकार हैं
तन्निमित्त कर्मोदय हीन ।।
निज परिणति निज में निजसे ही
होती है निश्चित स्वाधीन ।
किंतु विकृति में पर निमित्तता
टाली जा सकती न, प्रवीण !

भावार्थः—यदि दोनों मिलकर (प्रकृति और जीव दोनों) पुद्गल में मिथ्यात्वभाव उत्पन्न नहीं करते तो पूर्वोक्त गाथा नं. ३२८–३२९ में कही गई बात स्वयं मिथ्या हो जाती है। सिद्धांत यह है कि पुद्गल कर्म

प्रकृतियों का मिथ्यात्व रूप परिणमन आत्मा के विकार भावों का निमित्त पाकर स्वयं हो जाता है और इसी प्रकार आत्मा का मिथ्यात्वादि भावों रूप परिणमन पुद्गल की मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर स्वयं हो जाता है। इन दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक संबंध है, कर्त्ता कर्म संबंध नहीं है।

(३३२-३३५)

कर्म को ही कर्त्ता मानने का पूर्व पक्ष

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।।३३२।।
कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि य असंजयं चेव ।।३३३।।
कम्मेहि भयाडिज्जदि उड्ढमहं चावि तिरियलोयंच ।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ।।३३४।।
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि ।
तम्हा सव्वे जीवा अकारगा होंति आवण्णा ।।३३५।।

ज्ञानावरण कर्म से चेतन—
किया जा रहा है अज्ञान।
क्षय उपशन के द्वार उसी के
जीव प्राप्त करता है ज्ञान ।।
निद्रा कर्म सुलाता — उसका
उपशम हमें जगाता है।
मोह प्रकृति से प्रेरित चेतन
भव भव में भरमाता है ।।
साता कर्म — उदय जीवन में
सुख साता करता उत्पन्न।

हो संतप्त दुखों से रोता –
जीव असाता उदय विपन्न ॥
भ्रम होता मिथ्यात्व कर्म के–
उदय जीव में विविध प्रकार ।
चरित मोह संयम भावों में–
करता है रागादि विकार ॥
पुण्य कर्म से जीव स्वर्ग में
करता है सानंद निवास ।
पाप कर्म से पीड़ित होकर–
नरकों में करता है वास ॥
मर्त्यलोक में नर तन पाकर
पाता सुख दुख दैन्य अतीव ॥
कर्म शुभाशुभ के प्रसाद से
नाना रंग बदलता जीव ।
इष्टानिष्ट वस्तुएँ सब ही –
कर्म जीव को करें प्रदान ॥
सब संयोग वियोग कर्म कृत–
इससे कर्म महा बलवान ।
यों तथोक्त यदि कर्मों की ही
लीला मानी जाय नितांत ॥
जीव तदा एकांत अकर्ता
ही ठहरा तब मत से, भ्रांत !

भावार्थः— यदि यह मान लिया जावे कि आत्मा ज्ञानवरण कर्म के द्वारा अज्ञानी बनता है और उसीके क्षयोपशम से ज्ञान प्राप्त करता है। आत्मा को निद्रा कर्म सुलाता और उसका उपशम जगाता है। साता कर्म सुख और असाता दुख प्रदान करता है। पुण्य कर्म जीव को स्वर्ग प्राप्त

कराकर आनन्दित करता है और पाप कर्म नारकी व तिर्यञ्चों की योनि में घोर दुःख प्रदान करता है। इस प्रकार शुभाशुभ कर्म ही जीवों को संसार में नाना प्रकार के अभिनय कराकर सुखी-दुखी बनाए हुए हैं।"

'जीव को इष्टानिष्ट वस्तुएँ भी कर्म ही प्रदान करता है। इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग भी कर्मों के द्वारा हुआ करता है। इससे कर्म बड़ा बलवान है। इस प्रकार यदि कर्म की ही सब लीलाएँ मान ली जावें तो जीव तेरे मतानुसार फिर सर्वथा अकर्त्ता ही ठहरेगा।

(३३६-३३९)

उक्त प्रकार आत्मा को अकर्त्ता मानने से क्या होगा ?

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थी कम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ।।३३६।।
तम्हा ण कोवि जीवो अबंभयारीदु तुम्हमुवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेवहि कम्मं अहिलसदि जं भणिदं ।।३३७।।
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडि ।
एदेणत्थेण दु किर भण्णदि परघादणामे त्ति ।।३३८।।
तम्हा ण कोवि जीवो बधाइगो अत्थि तुम्हउवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि जं भणिदं ।।३३९।।

नारी वेद स्रजन करता है–
पुरुषों से रमने के भाव।
पुरुष वेद त्यों ही नारी से–
रमने का करता दुर्भाव ।।
परम्परागत आचार्यों की–
यह श्रुति ही करलें यदि मान्य–।
विषय वासनादिक जीवों कृत–
हो जाती तब स्वयं अमान्य ।।
कोई फिर अब्रह्मचारी भी–
नहीं रहा तब उक्ति प्रमाण।

अमुक वेद जब इतर वेद का
इच्छुक मान किया श्रद्धान ।।
यों ही जब परधात नाम की
एक प्रकृति कर ली स्वीकार–।
जो कि वार करती तदन्य पर
विविध भाँति कर तीव्र प्रहार ।।
इसी लिए हिंसक नहि तब फिर
ठहरेगा कोई भी जीव ।
यत: प्रकृति ही अन्य प्रकृति की–
घातक ठहर रही निर्जीव ।।

भावार्थ:— इसी प्रकार स्त्री वेद पुरुषों से और पुंवेद स्त्रियों से रमण करने के भाव करता है—इस भांति कुछ आचार्यों का मत यदि स्वीकार करलें तो जीवों की विषय वासना ग्रस्तता स्वयं अमान्य हो जावेगी।

फिर कोई जीव अब्रह्मचारी भी न ठहरेगा, क्योंकि तुम्हारे मत में तो इसी बात की पुष्टि होरही है कि वेद कर्म ही विषय सेवन में प्रवृत्ति करता है, तब जीव तो निर्दोष ही फिर ठहरता है। इसी प्रकार एक परघात प्रकृति जीवों का घात कराती है–जो नाना प्रकार जीवों पर प्रहार करती है– ऐसी मान्यता में जब प्रकृति ही परघात करती है तो फिर कोई भी जीव हिंसक नहीं ठहरेगा; क्योंकि हिंसादि कार्यों के करने में प्रकृति ही अपराधिनी है, जीव नहीं।

ये सब मान्यताएँ सांख्य की हैं जो जीव को अविकारी मानता और और प्रकृति को ही सविकारी मान उसीका कर्तृत्व स्वीकार करता है।

(३४०)

एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा ।
तेहिं पयडी कुव्वादि अप्पा य अकारगा सव्वे ।।३४०।।

इस प्रकार से जिन श्रमणों को
स्वीकृत हुआ सांख्य सिद्धांत ।

इनके यहाँ प्रकृति ही कर्त्ता,
जीव अकर्त्ता ठहरे, भ्रांत !

भावार्थः— जिन श्रमणों ने उक्त प्रकार सांख्य का उपदेश स्वीकार किया है उनके अनुसार प्रकृति ही सब कुछ कर्त्ता ठहरती है और जीव फिर अकर्त्ता । यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है

(३४१–३४४)

कुछ अन्य अनेक भ्रांतियों का निवारण

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एवं भणंतस्स ।।३४१।।
अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे ।।३४२।।
जीवस्स जीव रूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि ।
तत्तो सो किं हीणो अहियो य कदं भणसि दव्वं ।।३४३।।
अहजाणगो दु भावोणाणसहावेण अत्थि वे दि मदं ।
तम्हा णवि अप्पा अप्पयं तु सममप्पणो कुणदि ।।३४४।।

अथवा स्वयं आत्म ही अपने–
द्वार आत्म में करे विकार–।
ऐसा मान्य किये भी मिथ्या–
ठहरेगा तव उक्त विचार ।।
यतः असंख्य प्रदेशी शाश्वत–
नित्य मान्य है जीव नितांत ।
उसमें कुछ भी हीनाधिकता
हो सकती न स्वयं मतिभ्रांत ।।
जीव लोक व्यापी बन सकता
स्वीय असंख्य प्रदेश प्रसार ।

उन्हें हीन या अधिक कौन
करने समर्थ हो किसी प्रकार ।।
यदि चिर ज्ञायक भाव स्वभावी–
कर लेते हो तुम स्वीकार ।
तदा न संभव जीव मात्र में–
जीव द्वार सब उक्त विकार ।।

भावार्थ:— यदि यह मान्यता हो कि आत्मा स्वयं ही स्वयं में स्वयं के द्वारा राग|द्वेषादि विकार उत्पन्न करता है तो यह एकान्त मान्यता भी ठीक न होकर मिथ्या सिद्ध होती है; क्योंकि तेरे मत में आत्मा असंख्यात प्रदेशी कूटस्थ नित्य निर्विकार माना गया है अतः उसमें स्वयं विकार होने की सम्भावना निरस्त हो जाती है ।

यह जीव अपने असंख्य प्रदेशों को प्रसार कर लोक व्यापी बन सकता है. उन्हें हीनाधिक करने में कौन समर्थ हो सकता है ? यदि आत्मा को सर्वथा केवल ज्ञायक स्वभावी मानते हो तो फिर उसमें स्वयं विकार उत्पन्न होने की सम्भावना स्वयं निरस्त हो जाती है ।

किन्तु यह स्पष्टतः देखा जाता है कि अज्ञानी जीव मिथ्यात्वादि विकार भावों को करता है । तब फिर उसे उन विकार भावों का कर्त्ता कैसे न मानेगा ? तेरे मतानुसार जीव को कूटस्थ नित्य मान लेने पर उसमें फिर कोई भी नवीन भाव या विकार उत्पन्न न हो सकेगा ।

३४४/२

मिथ्यात्वादि मलिन भावों को करता किंतु जीव अज्ञान !
अतः न उनका कर्त्ता कैसे मानेगा तू रे अनजान ।।
नहि कूठस्थ नित्य में संभव हो सकता नूतन परिणाम ।
अतः नित्यवत् वह अनित्य भी सिद्ध कथंचित् है चिद्धाम ।।

भावार्थ:— किन्तु यह स्पष्टतया देखा जाता है कि अज्ञानी जीव राग द्वेष एवं मिथ्यात्वादि भावों को करता है, फिर उसे इन भावों का कर्त्ता कैसे न मानेगा ? तेरे मतानुसार जीव को कूटस्थ नित्य मान लेने पर उसमें कोई नवीन भाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए । किन्तु नवीन भावों की

उत्पत्ति होती प्रत्यक्ष देखी जाती है। अत: जीव नित्य के समान अनित्य भी है।

३४४/३

आत्मा का अनेकांतात्मक स्वरूप

ज्ञायक चित् सामान्य दृष्टि से आदि अंत बिन ज्ञान स्वरूप।
किन्तु विशेष दृष्टि परिणामी-सादि सांत है वही अनूप॥
अनेकांत सिद्धांत वस्तु को स्वयं सुरुचिकर है मतिमान्।
हम तुम क्या कर सकें, जब कि सत् अनेकांतमय है सप्रमाण॥

भावार्थ— ज्ञायक स्वरूप आत्मा सामान्य दृष्टि से अनादि अनन्त अपनी सत्ता को लिये हुए यद्यपि ध्रुव रूप में विद्यमान होने से नित्य है; किन्तु परिणमनशील होने के कारण समय-समय अपनी पर्यायों द्वारा परिवर्तित होता रहता है, मनुष्य पर्याय का परित्याग कर देव पर्याय को धारण करके वह मनुष्य नहीं रहता अत: इस पर्याय दृष्टि से वह अनित्य भी है। इस प्रकार जैन सिद्धान्तानुसार वह कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

यह कथंचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यात्मक अनेकान्त वस्तु को स्वयं रुचिकर और प्रमाण सिद्ध है। इसमें किसी की मताग्रहजन्य हठ-ग्राहिता को कोई स्थान नहीं है।

(३४५–३४८)

उक्त कथन का समर्थन

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहि चि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो॥३४५॥
केहि चि दु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेदवि सो वा अण्णो व णेयंतो॥३४६॥
जो चेव कुणदि सो चेव वेदगो जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥३४७॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥३४८॥

३४५

कर्त्तृत्व दृष्टि में अनेकांतात्मकता

यतः किन्हीं पर्यायों द्वारा
होता जीव नाश को प्राप्त ।
और किसी द्वारा न नष्ट हो
ध्रुव रह निज सत्ता से व्याप्त ।।
ध्रौव्य दृष्टि में एकहि कर्त्ता
अध्रुव दृष्टि में भिन्न नितांत ।।
यों कर्त्तृत्व विषय में निश्चित—
सिद्ध नहीं होता एकांत ।।

३४६

भोक्तृत्व दृष्टि से वस्तु की अनेकान्तात्मकता

कुछ पर्यायों द्वार वस्तुतः
चेतन होता नष्टोत्पन्न ।
कुछ से स्थिर रहता यों वेदक—
वही या कि होता तद्भिन्न ।।
कर्त्ता भोक्ता वही ठहरता—
एवं अन्वय दृष्टि प्रमाण ।
पर्यायों की दृष्टि भिन्नता
होती है उपलब्ध महान ।।

३४७

जो कर्त्ता है वही भोगता—
यों माने जो गह एकांत ।
वह है मिथ्या दृष्टि सर्वथा—
अर्हत् मत से भिन्न नितांत ।।
यतः मनुज पर्याय ग्रहण कर
जो करता जन पुण्य व पाप— ।

इनका फल तद्भिन्न योनि में–
भोगे पा सुख या संताप ।।

३४८/१

यों ही जो कर्त्ता से भोक्ता भिन्न सर्वथा मान नितांत– ।
हठ करता है क्षणिकवाद गह उसका भी मिथ्या सिद्धांत ।।
पर्यायें हों भिन्न अनेकों किन्तु जीव रहता है एक ।
वह ही जीव कर्म कर भोगे पर्यायें कर ग्रहण अनेक ।।

३४८/२

बाल्य काल में मैं बालक था मैं ही युवा हुआ नहि अन्य ।
बाल्य युवावस्था में दिखता भेद, किंतु मैं वही अनन्य ।।
जब अन्वय से नित्य सिद्ध है वस्तुमात्र इस दृष्टि प्रमाण ।
भिन्न भिन्न फिर कर्त्ता भोक्ता माने वह मिथ्यामति जान ।।

३४८/३

अभिप्राय यह है कि वस्तु है स्वतः सिद्ध गुण पर्ययवान् ।
अतः गुणों की दृष्टि नित्य एवं अनित्य पर्याय प्रमाण ।।
'कर्त्ता-भोक्ता भिन्न-भिन्न ही है ऐसा, जिसका सिद्धांत ।
वह मानव मिथ्यात्व ग्रस्त है, अर्हन्मत विपरीत नितांत ।।

भावार्थः— आत्मा अपनी किन्हीं पर्यायों द्वारा नष्ट और उत्पन्न होता है और किन्हीं द्वारा नष्ट न होकर स्थिर रहता है; क्योंकि वह भी सभी पर्यायों में व्यापक होने से ध्रुव रूप में सदा विद्यमान रहता है—जैसे एक व्यक्ति देव मनुष्य नारकी आदि की नश्वर पर्यायों को धारण करता हुआ भ्रमण कर रहा है। इसकी इन पर्यायों की दृष्टि से देखा जावे तो यह नष्ट और उत्पन्न हो रहा है; किन्तु आत्मत्व की दृष्टि से यदि विचार करें तो वह अनेक पर्यायों को धारण कर भी स्वयं विनष्ट नहीं हुआ और न उत्पन्न हुआ अतः वह अपनी सत्ता की शाश्वत दृष्टि से ध्रुव भी है। सारांश यह कि वह द्रव्य दृष्टि से ध्रुव व एक और पर्याय दृष्टि से नष्ट और उत्पन्न होता हुआ अध्रुव एवं अनेक भी है ।

उक्त कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य दृष्टि से जो कर्त्ता है वही भोक्ता है और पर्याय दृष्टि में जो कर्त्ता है वह न भोगकर अन्य ही भोक्ता है—जैसे किसी जीव ने मनुष्य भव में पाप किए तो वही जीव नरक में उसका फल दुःख भोगेगा यह द्रव्य दृष्टि से कथन जानना–किंतु पर्याय दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य ने पाप किए और उसका फल नारकी भोग रहा है। इस प्रकार कथंचित् द्रव्य दृष्टि से कर्त्ता ही भोक्ता है और पर्याय दृष्टि से कथंचित् एक पर्याय ने किया और उससे भिन्न पर्याय ने भोगा। इसमें कर्त्ता व भोक्ता भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु जो एकान्त-वादी यह मानता है कि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है—वह द्रव्य दृष्टि रख कर भी द्रव्य की होने वाली पर्यायों को गौण न कर उनका निषेध कर रहा है, अतः वह एकान्तवादी होने से मिथ्या दृष्टि है। तथा कर्त्ता से सर्वथा भिन्न भोक्ता को मानता है वह भी मिथ्या दृष्टि है, क्योंकि उसने पर्यायों को तो स्वीकार किया किंतु द्रव्य को गौण न कर उसका निषेध ही एक प्रकार से कर दिया। यह इस प्रकार दोनों एकान्तवादी आर्हत् मत से विरुद्ध होने से मिथ्यादृष्टि हैं।

जैन सिद्धान्त दोनों मतों को स्वीकार करता है–यदि वे कथंचित् रूप स्याद्वाद गर्भित हों—अर्थात् कथंचित् रूप में एक ही कर्त्ता भोक्ता तथा कथंचित् रूप में ही अन्य कर्त्ता और अन्य भोक्ता स्वीकार करते हों। जैसा कि वस्तु स्वरूप द्रव्य गुण पर्यायात्मक होने से अनेकान्तात्मक है।

आगे निश्चय नय से कर्त्ता से कर्म एवं करणों की भिन्नता दरशाते हैं।

(३४९–३५२)

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो विय कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३४९॥
जह सिप्पिउ करणेहिं कुव्वदि णय सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥३५०॥
जह सिप्पउ करणाणि य गिण्हदि ण यसोदुतम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि य गिण्हदि णय तम्मओ होदि ॥३५१॥
जह सिप्पिउ कम्मफलं भुंजदि ण यसोदुतम्मओ होदि।
तह जीवो कम्म फलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि ॥३५२॥

३४९

शिल्पी यथा स्वर्ण से करता
विविध भूषणों का निर्माण।
किन्तु स्वयं भूषण नहिं बनता,
शिल्पी शिल्पी रहे, निदान॥
त्यों कर्मों का कर्त्ता चेतन
स्वयं न परिणमता बन कर्म।
स्वर्णभूषणवत् पुद्गल ही–
परिणमता बन कर्म अकर्म॥

३५०

शिल्पी ज्यों उपकरणों द्वारा–
भूषण का करता निर्माण।
किंतु स्वयं उपकरण रूप नहि
परिणमता है वह मतिमान्॥
तथा करण मन वचन काय से–
जीव कर्म करता निष्पन्न।
किंतु स्वयं नहिं मन वच काया–
बन जाता बन स्वयं विपन्न॥

३५१

शिल्पी ज्यों उपकरण ग्रहण कर
भी न उपकरण बनें, प्रवीण!
त्यों चेतन यद्यपि योगों से–
कर्म ग्रहण कर बनै मलीन,–॥
किंतु स्वयं नहिं मन वच काया
बन परिणमता है चैतन्य।
जड़ की सत्ता चित् स्वरूप से
सदा भिन्न है अन्य हि अन्य॥

भावार्थः— जैसे शिल्पी (स्वर्णकार) स्वर्ण से अनेक आभूषणों का निर्माण करता है; किन्तु स्वयं भूषण नहीं बन जाता वह स्वर्णकार ही बना रहता है वैसे जीव भी अपने भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म करता है; किन्तु स्वयं कर्म नही बन जाता।

जैसे स्वर्णकार उपकरणों द्वारा आभूषणों का निर्माण करता है किन्तु स्वयं उपकरण नहीं बन जाता, उसी प्रकार जीव भी मन, वचन, काय रूपकरर्णो से कर्म करता है; किन्तु स्वयं करणों रूप परिणमन कर करण नहीं बन जाता। और जिस प्रकार शिल्पी उपकरण ग्रहण कर आभूषणों का निर्माण करते हुए भी उपकरण नहीं बन जाता उसी प्रकार जीव भी यद्यपि मन, वचन, काय रूपी उपकरण ग्रहणकर कर्म करता है किन्तु स्वयं उन रूप परिणमन कर मन वचन काय नहीं बनता।

३५२

शिल्पी ज्यों अपनी कृतियों के—
फल स्वरूप धन पाता है।
किंतु कभी परिवर्तित हो वह—
स्वयं न धन बन जाता है॥
तथा जीव भी पुण्य पाप युत्—
कर्म बंध कर नित्य नवीन।
तत्फल पाता; किंतु कभी वह
स्वयं न फल बन जाय, प्रवीण!

भावार्थ— जैसे शिल्पी अपनी कृतियाँ कर उनके फलस्वरूप धन को प्राप्त करता है; किन्तु स्वयं धन नहीं बन जाता—तथैव जीव भी पुण्य पाप मयी कर्म कर उनके फलस्वरूप सुख दुखादि को प्राप्त करता है; किन्तु स्वयं फल (सुख दुख) नहीं बनता।

(३५३)

उपसंहार

एवं ववहारस्सदु वत्तव्वं दंसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणाम कदं तु जं होदि॥३५३॥

एवं यह व्यवहार नयाश्रित–
वर्णन है पर द्रव्याधीन।
जिसमें है निमित्त नैमित्तिक–
भाव दृष्टि प्राधान्य, प्रवीण!
अब निश्चय से कथन सुनो–
जो होता निज परिणामाधीन।
निश्चय स्वाश्रित, किंतु पराश्रित–
वर्णन हो व्यवहाराधीन ।।

भावार्थः— उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन व्यवहार नय से किया गया जानना चाहिए; क्योंकि व्यवहार नय से कर्त्ता कर्म सम्बन्ध पराश्रित होता है अर्थात् पर द्रव्य को कर्म करण आदि कहकर उसका कर्त्ता स्वयं को निरूपित किया जाता है। अब निश्चय नय से स्वाश्रित कर्त्ता कर्म संबंध सुनिए।

(३५४–३५५)

निश्चय नय से भाव कर्म कर्त्ता और उनके फल सुखादि को
जीव स्वयं भोक्ता है।

जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णोसो ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो ।।३५४।।
जह चेट्ठंकुव्वंतो दु सिप्पओ णिच्चदुक्खिदो होदि ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दु हो जीवो ।।३५५।।

शिल्पी कर चेष्टाएँ अगणित–
उनसे रहता सदा अभिन्न।
चेष्टमान रागादिक से त्यों
जीव नहीं रहता है भिन्न ।।
नाना चेष्टा कर शिल्पी ज्यों–
होता व्यग्र स्वयं–नहि अन्य।

त्यों चेतन भी चेष्टमान बन
स्वयं दुखी होता—न तदन्य ॥

भावार्थः— निश्चय नय से शिल्पी जो कुछ भी चेष्टाएँ करता है, वह उन चेष्टाओं से सदा ही अभिन्न रहता है, अतः वह अपनी चेष्टाओं का ही कर्त्ता है। उसी प्रकार जीव भी रागादिक भावों को करता हुआ उन भावों से (उन भाव क्रियाओं से) सदा अभिन्न ही रहता है। अतः निश्चय नय से जीव अपने रागादिक भावों का ही कर्त्ता है। तथा शिल्पी जैसे परिश्रम करता हुआ श्रम जन्य दुखों का स्वयं भोक्ता है वैसे जीव भी मन, वचन, काय की क्रियाओं द्वारा आकुल-व्याकुलता जन्य दुःखों को स्वयं भोक्ता हुआ दुखी होता है। तात्पर्य यह कि निश्चय से जीव अपने भावों का ही कर्त्ता व भोक्ता है।

(३५६-३५७)

निश्चय नय से आत्मा स्वरूप से ज्ञाता दृष्टा है पर के जानने देखने से नहीं

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पस्सगो दु ण परस्स पस्सगो पस्सगो सो दु ॥३५७॥

खडिया स्वयं शुद्ध है, नहि वह
भित्ति कृत हुई शुक्ल नवीन।
त्यों चेतन नहि ज्ञायक पर से
स्वयं ज्ञानमय वह स्वाधीन ॥
पुतने पर ही नहिं खड़िया में
आता शुक्ल पने का भाव।
त्यों पर द्रव्य ज्ञान से ही नहि—
चेतन में है ज्ञायक भाव ॥
ज्यों खड़िया में भित्ति आदि से
शुक्ल पना नहिं हो उत्पन्न।

त्यों पर दर्शन से दर्शक नहि–
दर्शक स्वीय दृष्टि सम्पन्न ।।

भावार्थः—जैसे किसी दीवार पर खड़िया मिट्टी से पुताई होने पर दीवार सफेद दिखने लगी–तब यह कहा नहीं जाएगा कि दीवार पर पुतने से खढ़िया में सफेदी उत्पन्न हुई; क्योंकि खड़िया तो स्वयं सफेद है। वैसे ही आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप होने से ज्ञायक है—वह पर वस्तुओं के जानने से ज्ञायक नहीं बना। खड़िया के पुतने मात्र से जैसे खड़िया में सफेदी नहीं आती उसी प्रकार पर पदार्थों के जानने मात्र से आत्मा में ज्ञायक भाव की उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है।

(३५८–३५९)

निश्चय नय से आत्मा स्वयं स्वभाव से सम्यग्दृष्टि और
संयमी होता है, पराश्रित नहीं

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु ।।३५८।।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ।।३५९।।

खड़िया स्वतः श्वेत, नहि पर कृत–
वह शुक्लत्व भाव को प्राप्त।
त्यों चेतन संयत स्वभाव से–
नहि पर द्रव्य त्याग से प्राप्त ।।
खड़िया में शुक्लत्व स्वयं है–
नहि पर कृत वह शुक्ल, प्रवीण !
त्यों पर श्रद्धाजन्य न दर्शन–
दर्शन की सत्ता स्वाधीन ।।
अभिप्राय यह है कि वस्तुतः
दर्शन ज्ञान चरित्र निधान–।

जीव स्वयं स्वाभाविक ही है—
नहीं पराश्रित दर्शन ज्ञान ।।

भावार्थः— जैसे खड़िया स्वयं ही सफेद है—उसकी सफेदी पर वस्तु कृत या पराश्रित नहीं है उसी प्रकार आत्मा भी स्वभाव से संयमशील है—पर वस्तु (इन्द्रिय विषयों) के त्याग करने मात्र से नहीं। खड़िया की सफेदी (शुक्ल गुण) के समान आत्मा भी स्वभाव से श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) गुण विशिष्ट है न कि पर द्रव्यों या तत्वों की श्रद्धा करने पर वह आश्रित है। तात्पर्य यह कि आत्मा के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि गुण पराश्रित नहीं है—अर्थात् दूसरों को जानने से ज्ञान, भोगों के त्याग से संयम (चारित्र) और तत्वार्थ श्रद्धान (अजीवादि तत्वों की श्रद्धा) पर सम्यग्दर्शन आश्रित न होकर तीनों गुण स्वतः सिद्ध हैं। जिस वस्तु में जो गुण होते हैं वे अन्य वस्तु के आश्रित नहीं हुआ करते। यही नियम आत्मा पर भी चरितार्थ होता है।

(३६०)

एक सूचना

एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ।।३६०।।

यों निश्चय नय से वर्णित हैं
दर्शन ज्ञान चरित स्वाधीन।
अब संक्षिप्त कथन पर—आश्रित—
सुनिये जो व्यवहाराधीन ।।

भावार्थः— हे भव्य ! उक्त सब कथन दर्शन ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध में निश्चय नय से किया गया है। अब संक्षेप में व्यवहार नय की दृष्टि से कथन किया जाता है जो पराश्रित होता है। उसे तू ध्यान से सुन।

पर द्रव्य को जानना, देखना, त्याग करना या श्रद्धान करना—
व्यवहार नय से है

(३६१)

जह पर दव्वं सेडदि सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह पर दव्वं जाणदि णादा वि, सएण भावेण ।।३६१।।

(३६२)

जह पर दव्वं सेडदि सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह पर पस्सदि जीवो वि सएण भावेण ॥३६२॥

(३६३)

जह परदव्वं सेडदि सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहदि णाबा वि सएण भावेण ॥३६३॥

(३६४)

जह पर दव्वं सेडदि सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह पर दव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण ॥३६४॥

यथा भित्ति को निज स्वभाव से
खड़िया करती शुक्ल अशेष—।
त्यों ज्ञानी ज्ञायक स्वभाव कर—
अन्य द्रव्य ज्ञाता निःशेष ॥
खड़िया करती निज स्वभाव से
दीवारें ज्यों श्वेत अशेष—।
जीव तथा दर्शन गुण द्वारा
अवलोकन करना निःशेष ॥
यथा भित्ति को निज स्वभाव से
खड़िया कर देती है श्वेत ।
त्यों ज्ञानी वैराग्य भाव से
बाह्य वस्तु त्यागी अभिप्रेत ॥
खड़िया निज स्वभाव से करती—
दीवारों को श्वेत अशेष—।
त्यों सुदृष्टि श्रद्धा करता है—
तत्वार्थों पर भी सविशेष ॥

भावार्थः— जैसे व्यवहार में कहा जाता है कि खड़िया ने पुतकर दीवारों को सफेद कर दिया उसी प्रकार आत्मा को भी व्यवहार नय से कहा जाता है कि वह अन्य द्रव्यों को जानने से ज्ञाता है, अन्य द्रव्यों (वस्तुओं) को देखने से दृष्टा है। बाह्य वस्तुओं का बिरत भाव से त्याग करने से संयमी है और तत्वार्थों पर श्रद्धान करने से सम्यग्दृष्टि है। कहने का तात्पर्य यह है कि आगम में 'स्वाश्रितो निश्चय: एवं पराश्रितो व्यवहार:' अर्थात् स्वयं के आश्रित कथन करने वाला निश्चय नय होता है और पराश्रित कथन करने वाला व्यवहार नय है ऐसा कहा गया है। यहाँ दर्शन ज्ञान चारित्र का पराश्रित कथन कर व्यवहार नय का दृष्टिकोण स्पष्ट किया है।

(३६५)

उक्त कथन का स्पष्टीकरण

एवं ववहारस्सदु विणिच्छओ णाण दंसण चरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जयेसु एमेव णादव्वो ॥३६५॥

एवं दर्शन ज्ञान चरण में
अन्याश्रित होता व्यवहार।
अन्याश्रित पर्यायों में भी
होता है वह इसी प्रकार॥
निर्मित किया यथागृह मैंने–
अथवा किया दुग्ध का पान।
विष त्यागा, कंटक निकलाया
आदि सकल व्यवहार प्रमाण॥
'मैं पर का ज्ञाता दृष्टा हूँ'
यह कथनी भी है व्यवहार।
निश्चय से चेतन निज का ही
है बस जानन देखन हार॥

भावार्थः— उक्त प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र का पराश्रित कथन निर्णीत है। अन्य पर्यायों में भी यही कथन चरितार्थ होता है—जैसे मैंने

यह घर बनाया, विष का त्याग किया कांटा निकलवाया आदि सब कथन व्यवहार नय की दृष्टि से किए गए वाक्य प्रयोग हैं। निश्चय नय से आत्मा अपने गुणों और पर्यायों का ही जानने देखने वाला और स्वयं में रमण करने वाला कहा गया है।

(३६६)

आत्मा निश्चय से पर का घात नहीं करता

दंसण णाण चरित्तं किं चि वि णत्थि दु अचेदणे विसए ।
तम्हा किं धादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ।।३६६।।

(३६७)

दंसणणाणचरित्तं किं चि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तम्हा किं धादयदे चेदयिदा तम्मि कम्मम्मि ।।३६७।।

(३६८)

दंसणणाणचरित्तं किं चि वि णत्थि दु अचेदणे काये ।
तम्हा किं धादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ।।३६८।।

दर्शन ज्ञान चरित्र नहीं है
जड़ इन्द्रिय विषयों में लेश ।
इनका घात करै क्या चेतन
इसका जब उनमें न प्रवेश ?
जड़ कर्मों में भी ज्ञानादिक
गुण करते हैं नहीं प्रवेश ।
अतः जीव जड़ कर्मों का क्या
घात करेगा कैसे लेश ?
जड़ काया में भी रत्नत्रय
होते नहीं रंच मतिमान् ।
अतः जीव काया का भी नहिं—
घात न कर सके नियम प्रमाण ।।

भावार्थ:— इन्द्रियों के विषयभूत जड़ पदार्थों में चूंकि आत्मा के दर्शन, ज्ञान चारित्रादि गुणों का रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होता अर्थात् आत्मा के गुण आत्मा में ही रहा करते हैं अतः आत्मा उन जड़ पदार्थों का घातक कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार जड़ कर्मों में भी आत्मा के ज्ञानादि गुणों का प्रवेश नहीं होता और न कर्मों के समान शरीर में भी आत्मा के गुणों का प्रवेश होता अत: जीव न कर्मों का और न जड़ शरीर का भी घातक कहा जा सकता ।

(३६९)

अज्ञानी जीव अपने ही गुणों का घात करता है

णाणस्स दंसणास्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
ण वि तम्हि को वि पोग्गल दव्वे धादो दु णिद्दिट्ठो ॥३६९॥

अज्ञानी अज्ञान भाव से
करता रत्नत्रय का ह्रास ।
पुद्गलादि पर द्रव्यों का वह
कर सकता नहिं रंच विनाश ॥

भावार्थ:— अज्ञानी जीव निश्चय से अपने अज्ञान भाव द्वारा अपने रत्नत्रय स्वरूप गुणों का ह्रास या घात करता है; किन्तु पुद्गलादि पर द्रव्यों का विनाश या उनमें परिवर्तन भी नहीं कर सकता ।

(३७०)

सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग क्यों नहीं होता ?

जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु ।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥३७०॥

अन्य द्रव्य के गुण धर्मों का
अन्य द्रव्य में हो न प्रवेश ।
यों न जीव के ज्ञानादिक गुण
पुद्गलादि में करें प्रवेश ॥

इन्द्रिय विषय पुद्गलाश्रित हों
जिनमें ज्ञानादिक नहिं रंच।
सम्यग्दृष्टि अतः विषयों में
करता नहिं रागादि प्रपंच ॥

भावार्थः— जीव के जो ज्ञान दर्शनादि गुण हैं वे पुद्गलादि दूसरे द्रव्यों में नहीं हैं अतः सम्यग्दृष्टि जीव को पञ्चेन्द्रिय के विषयों में—जो अजीव हैं—राग नहीं होता।

(३७१)

जीव के रागादि भाव भी पर द्रव्य में नहीं है।

रागो दोषो मोहो जीवस्स दु अणण्ण परिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥३७१॥

राग द्वेष मोहादि विकारी—
जीवों के परिणाम अनन्य।
शब्दादिक जड़ परणति में भी—
नहिं हैं, द्रय हैं अन्य हि अन्य ॥

भावार्थः— राग, द्वेष, मोह आदि जो विकारी परिणाम है वे जीव से अनन्य हैं अर्थात् भिन्न न होकर अभिन्न हैं ये रागादि परिणाम शब्दादिक पुद्गल द्रव्य की परणतियों में नहीं पाए जाते। अतः सम्यग्दृष्टि उन शब्दादिक में राग नहीं करता।

(३७२)

सुनिश्चित नियम क्या है ?

अण्ण दवियेण अण्ण दवियस्स णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्व दव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्य द्रव्य द्वारा न अन्य में
गुण हो सकते हैं उत्पन्न।
नित स्वकीय गुण पर्यय से ही
द्रव्य हुआ करते निष्पन्न ॥

राग द्वेष परिणाम वस्तुत:
जीव परिणमन है निर्भ्रांत।
शब्दादिक से राग जीव का
होता नहि उत्पन्न नितांत ।।

भावार्थ:— एक किसी भी द्रव्य द्वारा अपने से भिन्न द्रव्य में कोई गुण उत्पन्न नहीं किए जाते । सभी द्रव्य अपने-अपने गुणों से ही निष्पन्न होते हैं । अत: राग-द्वेषादि भाव भी जो जीव के अभिन्न परिणाम हैं वे पुद्‍गल के शब्दादिक परिणामों द्वारा उत्पन्न नहीं किए जा सकते ।

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव जो कर्ण प्रिय शब्दों में राग और अप्रिय शब्दों में द्वेष करता है वे राग द्वेषादि भाव शब्दों ने उत्पन्न नहीं किए हैं; किन्तु शब्दों के निमित्त से अज्ञानी जीव में ही उत्पन्न हुए जीव के ही परिणाम हैं । उनकी शब्दादिक से उत्पत्ति मानना भ्रम है ।

(३७३)

अज्ञानी जीव को सम्बोधन

णिंदिद संथुद वयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि ।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ।।३७३।।

निंदा स्तुति वचनात्मक परिणत—
पुद्‍गल होता विविध प्रकार।
उन वचनों को सुन अज्ञानी—
रुष्ट तुष्ट हो बन सविकार ।।
इष्ट वचन सुन तुष्ट, किंतु
प्रतिकूल सुन बने रुष्ट महान ।
'उसने मुझे कहा' यों मन में
राग द्वेष कर बनता म्लान ।।

भावार्थ:—पुद्‍गल द्रव्य निंदा जनक या स्तुतिपरक वचनों (शब्दों) रूप नाना प्रकार परिणमन करता है; उन वचनों को सुनकर अज्ञानी जीव यदि वचन अनुकूल हों (इष्ट हों) तो सन्तुष्ट और प्रतिकूल हों तो रुष्ट होने लगता है—यह मान कर कि मुझे कहे गए हैं ।

(३७४)

पुनः सम्बोधनात्मक स्पष्टीकरण

पोग्गल दव्वं सद्दत्त परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो ।
तम्हा ण तुम भणिदो किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥

'मुझे यों कहा' यह विचार कर
हर्ष विषाद करे मतिहीन ।
यह न समझता – शब्द –
पौद्गालिक परणति है जड़ ज्ञान विहीन ।
तुझे कुछ नहीं कहा शब्द ने–
तू क्यों रूस रहा नादान ।
शब्द रूप पुद्गल परणति में
तव नहिं है हित अहित, निदान ॥

भावार्थः— अज्ञानी जीव किसी शब्द को सुनकर उसमें इष्ट या अनिष्ट की कल्पना कर विचार करता है कि 'मुझे यों कहा है' तब इष्ट शब्द सुन हर्ष और अनिष्ट में विषाद करने लग जाता है। हे बंधु ! शब्दों ने तुझे कुछ नहीं कहा, तू व्यर्थ क्रोध क्यों करता है ? शब्द तो पुद्गल की पर्याय है। उसे जानकर सुखी-दुखी होना अज्ञान है—जो हेय है ।

(३७५)

उक्त कथन का पुनः समर्थन

असुहो सुहो य सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोद विसयमागदं सद्दं ॥३७५॥

शब्द शुभाशुभ तुम्हें न कहते–
'हमें सुनों तुम देकर ध्यान ।'
और न शब्द श्रवण कर धावे–
तद्विषयों में आतम ज्ञान ॥

भावार्थः— हे बंधु ! शुभ या अशुभ शब्द तुम्हें यह नहीं कहते कि 'तुम हमें सुनों' और न शब्दों और उनके विषयों में आत्मा का ज्ञान ही

प्रविष्ट होता। इसलिए तुम्हारा राग द्वेष करना (शब्दों में) कहाँ तक उचित है?

(३७६)

रूपादि अन्य विषयों का स्पष्टीकरण

असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं त्ति सोचेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं ॥३७६॥

(३७७)

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं त्ति सोचेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घ्राणविसयमागदं गंधं ॥३७७॥

भावार्थ:-- हे बन्धु! रूप भी पुकार कर तुम्हें यह नहीं कहता कि तुम हमें देखो और न आँखों के द्वारा आप में बल पूर्वक प्रवेश करता है। इसी प्रकार सुगन्ध या दुर्गन्ध भी आपको प्रेरणा नहीं करती कि मुझे सूँघो, न बल प्रयोग करके नासिका में ही प्रवेश करती है।

(३७८)

असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसण विसयमागदं तु रसं ॥३७८॥

(३७९)

असुहो सुहो व फासो ण भणदि फास मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं ॥३७९॥

रस भी कब दुनियाँ से कहता--
'मुझे चखो -- मैं हूँ -- स्वादिष्ट।'
और न रसना से आलिंगन--
कर बनता वह इष्ट अनिष्ट॥
स्पर्श अप्रिय प्रिय भी नहिं कहता--
कोई हमें छुए लवलेश।
बरवस लिपट नहीं काया में
वह करता है बंधु! प्रवेश॥

भावार्थ:— हे बन्धु ! भक्ष्य पदार्थों का रस भी किसी से या तुमसे यह नहीं कहता कि मैं स्वादिष्ट हूँ, मुझे तुम चखो और न बलपूर्वक रसना इन्द्रिय से लिपटकर इष्ट अनिष्ट बनता है । इसी प्रकार स्पर्श भी आपसे यह आग्रह नहीं करता कि आप हमें छुएँ और न स्पर्शन इन्द्रिय से आकर बरबस लिपटता है ।

(३८०)

उक्त कथन का उपसंहार

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं ।।३८०।।

(३८१)

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव ।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि विसयमागदं दव्वं ।।३८१।।

(३८२)

एवं तु जाणिदूण य उवसमं णेव गच्छदे मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धि सिवमपत्तो ।।३८२।।

शुभ या अशुभ पौद्‌गलिक गुण नहिं-
हमसे आग्रह करें प्रवीण ।
बुद्धि द्वार भी नहिं प्रवेश कर
गुप्त प्रेरणा करते दीन ।।
द्रव्य शुभाशुभ जिन्हें मान हम
जान रहे प्रतिक्षण सविशेष ।
जानो, त्यागो, भोगो या तुम–
ग्रहण करो – कहते नहिं लेश ।।
यह सुस्पष्ट भासता सबको
फिर भी मूढ़ न होता शांत ।
समता सुधा पान तज विषयों–
में ही रमता चिर चिद्भ्रांत ।।

भावार्थः— इस प्रकार पुद्‌गल के सभी शुभाशुभ गुण तुमसे उन्हें भोगने या त्यागने का न तो आग्रह करते हैं और न बुद्धि पूर्वक अन्तस् में प्रवेश कर उन्हें भोगने की ही प्रेरणा करते हैं। इसी प्रकार शुभाशुभ द्रव्य भी जिन्हें हम इष्टानिष्ट मानते हैं—उन्हें जानने, भोगने या त्याग और ग्रहण करने को कहत हैं। यह सब सभी को स्पष्टतया ज्ञात है फिर भी अज्ञानी बहिरात्मा जीव उनमें समता भाव को धारण न करते हुए उन्हीं में सुख-दुख की कल्पना कर उन्हें ग्रहण करने और उनमें रमण करने की चेष्टा करता हुआ दुखी होता रहता है।

(३८३)

निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप

कम्मं जं पुण्ण कयं सुहासुहमणेयवित्थर विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥

(३८४)

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा ॥३८४॥

पूर्व, शुभाशुभ कर्म किये जो
भूतकाल में बन विभ्रांत।
उनसे हो जाना निवृत्त ही
प्रतिक्रमण है सुखद नितांत॥
कर्म बंध संभावित रहता—
जिन भावों के द्वारा म्लान।
समभावों से उन्हें विसर्जित—
करता ही है प्रत्याख्यान॥

भावार्थः— आत्मा द्वारा भूत काल के किए गए शुभाशुभ कर्मों का समभावों द्वारा नष्ट कर देने को निश्चय प्रतिक्रमण कहते हैं और भविष्य काल मे जिन भावों से कर्मों का बंध हो सकता है उनका त्याग कर देने

वाला आत्मा ही निश्चय प्रत्याख्यान कहलाता है। अर्थात् रागादि भाव रहित आत्मा की परणति ही निश्चय प्रत्याख्यान है।

(३८५)

निश्चय आलोचना

जं सुह असुहमुदिण्णं संपदि य अणेय वित्थर विसेसं ।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा ॥३८५॥

(३८६)

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पि जो पडिक्कमदि ।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा ॥३८६॥

३८६/१

वर्तमान उदयावलि में जो कर्म शुभाशुभ करें प्रवेश।
उनमें राग द्वेष नहिं करना आलोचन है आतम विशेष ॥
पूर्व कर्म के प्रतिक्रमण सह आगामी का प्रत्याख्यान।
वर्तमान में पर्यालोचन करना ही चारित्र महान ॥

भावार्थः— वर्तमान काल में जो शुभाशुभ कर्म उदय में आरहे हैं उनमें और उनके सुख-दुखादि फलों को अपने स्वरूप से भिन्न जानकर उनमें भी राग द्वेष का न करने वाला आत्मा ही निश्चय आलोचना है।

३८६/२

कर्म निवृति हेतु सुन स्वाश्रित उपयोगी संक्षिप्त विधान।
जो निश्चय से आलोचन प्रतिक्रमण और है प्रत्याख्यान ॥
भूत-भविष्यत वर्तमान में जितने पाप जान अनजान।
मन वच तन, कृत कारित मोदन द्वार हुए, हों, होंगे म्लान ॥

३८६/३

उनमें तज ममता समग्रत: करना चिदानंद रस पान।
वही वस्तुतः आलोचन है प्रतिक्रमण वा प्रत्याख्यान ॥
चिदानंद रस पान मगन ही ज्ञान चेतना है स्वाधीन।
राग द्वेष युत परणति ही है कर्म चेतना सतत मलीन ॥

३८६/४

सुख दुख कर्म फलों में हों जो हर्ष विषाद मयी परिणाम ।
वही कर्म फल मयी चेतना अप्रतिबुद्धता का परिणाम ।।
राग द्वेष तज सुख दुख में जब जीव न करता हर्ष विषाद ।
तब कैवल्य प्राप्ति कर पाता चिदानंद का महा प्रसाद ।।

इस प्रकार भूतकालीन कर्मों का प्रतिक्रमण भविष्यकाल में सम्भावित (बँधने योग्य) कर्मों का प्रत्याख्यान और वर्तमान काल में बँधने योग्य कर्मों की आलोचना कर उन्हें बँधने न देने का पुरुषार्थ करने वाला आत्मा ही निश्चय नय से चारित्र कहलाता है ।

यहां पर गुण-गुणी की अभेद दृष्टि से कथन कर आचार्य श्री ने आलोचना प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करने वाले आत्मा को ही निश्चय नय से चारित्र कहा है । सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार चारित्र को आत्मसात् कर बँध न करता हुआ निर्जरा और मोक्ष का पात्र होता है ।

(३८७)

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८७।।

(३८८)

वेदंतो कम्मफलं मये कदं जो दु मुणदि कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८८।।

(३८९)

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ।।३८९।।

३८७–३८८

कर्म फलों को वेदन कर जो
अपनाता उनको अनजान ।
दुःखबीज वसु कर्ममयी वह
पुनः वपन करता है म्लान ।।

कर्म फलों को अनुभव कर जो
उन्हें स्वकृत रहता है मान।
दुःखबीज वसु कर्ममयी वह
भी बो लेता है नादान ।।
जीव कर्म फल वेदन कर जब
सुखी दुखी हो विसर स्वरूप।
तब वसु कर्म बंध करता है
जो होता दुखबीज स्वरूप ।।

भावार्थ:— जो अज्ञानी जीव कर्मों के फलों को अनुभव करता हुआ उन कर्मों को अपना मानता है (यह कर्म चेतना है) उसे दुःखों के बीज मूल आठ प्रकार के कर्मों का बँध होता है। इसी प्रकार जो कर्मों के फलों को जो सुख-दुख रूप है वेदन करता हुआ उन्हें स्वकृत मान उन्हीं में रम जाता है यह कर्म फल चेतना है इससे भी जीव दुःखदायी अष्ट कर्मों का बंध करता है। ऐसे ही कर्मफलों को वेदन करता हुआ जब सुखी दुःखी होता है तब भी अष्ट कर्मो का बँध करता है—जो दुःखों के बीज हैं।

तात्पर्य यह है–यह जीव अज्ञानवश कर्मों और कर्म फलों को अपना मानता है साथ ही कर्म फलों में (कर्मों के उदय में) सुखी दुखी भी होता है। इस प्रकार अपने स्वरूप ज्ञान चेतना से भ्रष्ट होकर कर्म और कर्म फल चेतना स्वरूप परिणत होकर कर्म बंध करता रहता है। और जब यह सकल कर्म संन्यास भावना धारण कर ज्ञान चेतना स्वरूप परिणत होकर समभावी बन आत्म स्वरूप में लीनता को प्राप्त होता है तभी कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है।

(३९०)

ज्ञान की शास्त्रों से भिन्नता

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण जाणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ।।३९०।।

ज्ञान-भाव श्रुत, शास्त्र द्रव्यश्रुत,
दोनों में भिन्नत्व अतीव।

शास्त्र चेतना शून्य वस्तु है
जो न स्वयं जाने निर्जीव ।।
ज्ञान जबकि चैतन्यमयी है –
शास्त्रों से अति भिन्न नितांत ।
यों शास्त्रों से ज्ञान सर्वथा
पृथक् सिद्ध होता निर्भ्रांत ।।

भावार्थ:— आत्मा का ज्ञान भाव श्रुत और शास्त्र द्रव्य श्रुत कहलाते हैं। शास्त्र चेतना शून्य निर्जीव वस्तु है जो स्वयं कुछ नहीं जानता; किंतु ज्ञान चैतन्यमयी आत्मा का गुण है। जो जड़ता रहित है। इस प्रकार दोनों में स्पष्टतया भिन्नता सिद्ध है : शास्त्र स्वयं ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ।

(३९१)

ज्ञान की शब्दों से भिन्नता

सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बिंति ।।३९१।।

शास्त्र समान शब्द भी जड़ हैं
ज्ञान भाव से भिन्न नितांत ।
पुद्गल की व्यञ्जन पर्यायों–
में गर्भित है शब्द नितांत ।।
शब्द जान सकता न तनिक भी
जबकि ज्ञान चैतन्य स्वभाव ।
यों पौद्गलिक शब्द से निश्चित
ज्ञान भिन्न है आत्म स्वभाव ।।

भावार्थ:— शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द कुछ भी जान नहीं सकता। शब्द पुद्गल की व्यंजन पर्याय है—ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। इसलिए जिनेन्द्र देव ने दोनों को भिन्न कहा है ।

(३९२)

ज्ञान की रूप रसादि से भिन्नता

रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ।।३९२।।

(३९३)

वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ।।३९३।।

(३९४)

गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ।।३९४।।

(३९५)

ण रसो दु होदिणाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा विंत ।।३९५।।

(३९६)

फासो णाणं ण हवदि जम्हा फासो ण जाणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ।।३९६।।

जितना भी जो कुछ दिखता है—
वह सब है पुद्गल संस्थान ।
चेतन का अस्तित्व न जिसमें
ज्ञान भिन्न वह सूत्र प्रमाण ।।
आकृति वा रस रूप गंध वा
स्पर्श आदि पुद्गल के वेश ।
ज्ञान सिद्ध नहिं हो सकते ये
जिनमें नहीं चेतना लेश ।।

भावार्थः— पुद्गल की जितनी भी आकृतियाँ दिखती हैं उन सबमें रूप है अतः वह रूप, तथा रस, गंध स्पर्श आदि जो पुद्गल के गुण हैं वे सब

जानने की शक्ति नहीं रखते, अतः पुद्गल और उसके सभी गुण ज्ञान से भिन्न हैं ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने निरूपण किया है।

(३९७)

पुद्गल कर्म, धर्म अधर्म आकाश काल व अध्यवसानों से ज्ञान की भिन्नता

कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥

(३९८)

धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥

(३९९)

णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥

(४००)

कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥

(४०१)

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि ।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥

(४०२)

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥

द्रव्य कर्म भी ज्ञान नहीं है—
जड़ पुद्गल परिणाम मलीन ।
ज्ञान चेतना का स्वभाव है
अतः भिन्न है जीवाधीन ॥

पुद्गल धर्म अधर्म, काल, नभ,
एवं सब ही अध्यवसान।
आत्म ज्ञान से निपट भिन्न हैं
श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण ।।

भावार्थ:—कर्म ज्ञान नहीं हो सकते और धर्म अधर्म आकाश काल एवं अध्यवसानों को भी ज्ञान से भिन्न श्री जिनेन्द्रदेव ने दरशाये हैं; क्योंकि इन सबमें जानने की शक्ति नहीं है अतः इन्हें ज्ञान से भिन्न ही जानना चाहिए।

(४०३)

ज्ञान की महिमा

जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं ।।४०३।।

(४०४)

णाणं सम्मादिट्ठि दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगवं।
धम्माधम्मं च तहा पवज्जं अब्भुवेंति बुहा ।।४०४।।

चेतन ज्ञायक है स्वभावतः
क्योंकि जानता नित सद्सद्रूप।
ज्ञानी जीव इसीसे ज्ञायक—
अव्यतिरिक्त है ज्ञान स्वरूप ।।
सम्यग्दर्शन, शुचि संयम या—
अंग पर्व गत सूत्र विधान।
धर्माधर्म प्रव्रज्या ये सब
ज्ञान समाहित हैं मतिमान् ।।

भावार्थ:— ज्ञान का स्वभाव जानना ही नित्य रहता है इसीसे जानने वाला जीव ज्ञानी या ज्ञायक कहलाता है। यह ज्ञान ज्ञानी से अव्यतिरिक्त अभिन्न ही होता है।

यदि निश्चय दृष्टि से विचार किया जावे तो ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंग पूर्वगत सूत्र है, धर्म, अधर्म प्रव्रज्या (दीक्षा) आदि भी ज्ञान ही है; क्योंकि ज्ञान इन सबमें व्यापक है। जीव ज्ञानमय है और ये सब जीव से संबंध रखते हैं अतः जीव ज्ञान से अभिन्न स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। यदि इनमें से ज्ञान को पृथक् करदें तो वे फिर कुछ भी न रह जावे। ऐसा ज्ञानी जन मानते हैं।

(४०५)

आत्मा निश्चय से अनाहारक है और पर द्रव्य के त्याग ग्रहण से रहित है;

अत्ता जस्स अमुत्तो णहु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु ॥४०५॥

(४०६)

णवि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं चेव जं परं दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाओग्गिय विस्ससो वा वि ॥४०६॥

(४०७)

तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो चेव गिण्हदे किंचि।
णेव विमुञ्चदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

जीव न आहारक बन सकता—
माना जिसने उसे अमूर्त।
यतः सर्व आहार पौद्गलिक
होने से है रूपी—मूर्त्त॥
स्वाभाविक या प्रायोगिक निज
गुण धर्मों से जीव न ज्ञान—।
पर का त्याग ग्रहण करने की
रखता है सामर्थ्य, निदान॥

भावार्थः— जिनकी आत्मा अमूर्त (अरूपी) है वह आहारक अर्थात् आहार (कर्म नोकर्म आदि रूप पुद्गल परमाणुओं) को ग्रहण करने वाला नहीं होता; क्योंकि आहार पुद्गल मयी होने से मूर्तिक होता है।

आत्मा में स्वाभाविक या प्रायोगिक कोई ऐसा गुण है जो पर द्रव्य को न तो ग्रहण कर सकता है और न उसका त्याग ही कर सकता है।

इसलिए जो विशुद्धात्मा है वह जीवाजीवादिक पर द्रव्यों को न तो ग्रहण करता है और न उनका त्याग ही करता है। यह सब कथन निश्चय नय की मुख्यता से ज्ञान स्वरूप आत्मा के सम्बन्ध में किया गया है। पर वस्तु का त्याग या ग्रहण व्यवहार नय से किया गया माना जाता है; क्योंकि व्यवहार पराश्रित होता है ! जैसे मैंने अमुक वस्तु का त्याग किया या ग्रहण किया, यह व्यवहारनय का कथन है, किन्तु निश्चय नय से देखा जाय तो आत्मा पर वस्तु का त्याग ग्रहण नहीं करता—वह अपने भाव ही करता है।

(४०८)

शारीरिक बाह्य लिंग मोक्ष मार्ग नहीं

पासंडिय लिंगाणि य गिहिलिंगाणि य बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्ख मग्गोत्ति ।।४०८।।

(४०९)

ण दु होदि मोक्ख मग्गो लिंगं जं देह णिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते ।।४०९।।

गृह या बन में श्रावक मुनि के—
देहाश्रित होते जो वेश।
मूढ़ उन्हें ही मान मुक्ति पथ—
रत हों – जिसमें तथ्य न लेश ।।
गर्दभसिंह नहीं बन सकता
धारण कर उसका परिवेश।
भाव शुद्धि बिन लिंग मात्र से
मानव मुक्ति न पाता लेश ।।
अर्हत् तज परिपूर्ण देह गत—
अहंकार ममकार विकार।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण में
रत हो पाते शिव पद सार ॥
बाह्याभ्यंतर सकल परिग्रह
त्यागी बन मुनिजन अमलीन ।
आत्म साधना में निमग्न हो—
मुक्ति प्राप्त कर हों स्वाधीन ॥

भावार्थ:— श्रावक के गृह में रहकर या बन में जाकर साधु के नग्नतादि वेश धारण करके उस वेश मात्र को मूढ़ जन मुक्ति मार्ग मानने लगते हैं; किन्तु साधु का वेश धारणकर लेना मात्र मुक्ति मार्ग नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक अंतरंग में भावों की शुद्धि न आए जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता से प्रकट होती है—केवल वेश धारण कर लेने मात्र से मुक्ति प्राप्त होना असंभव है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाव लिंग बिना (आत्म भावों की शुद्धि बिना) केवल द्रव्य लिंग धारण करके मुक्ति प्राप्ति नहीं की जा सकती। जैसे किसी गर्दभ को सिंह की खाल ओढ़ा देने मात्र से वह सिंह नहीं बन जाता वैसे मिथ्या दृष्टि भी मुनि वेश धारण कर लेने मात्र से मुक्त नहीं हो सकता।

(४१०)

उक्त कथन का पुनः समर्थन

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडिय गिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्ख मग्गं जिणा बिंति ॥४१०॥

इस प्रकार श्रीमज्जिनेन्द्र ने—
पाखंडी – मुनि वेश अशेष ।
या गृहस्थ के विविध वेश हैं
उनमें तथ्य न पाकर लेश ॥
दर्शन ज्ञान चरित्रमयी ही
स्वाश्रित मुक्ति मार्ग निर्धार ।

घोषित किया भाव लिंगी को—
समयसार संप्रात्यधिकार ॥

भावार्थः— इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने पाखंडियों के (साधुओं के) या गृहस्थों के देह सम्बन्धी अनेक बाह्य वेशों में भाव शुद्धि के बिना सार न पाकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता को मोक्ष मार्ग निरूपित किया है। इसलिये भाव लिंगी साधु ही समयसार-शुद्धात्म तत्व की प्राप्ति का अधिकारी है—पाखंडी बाह्य वेशी साधु नहीं।

(४११)

उक्त कथन का तात्पर्य

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारिये हि वा गहिदे।
दंसणणाण चरित्ते अप्पाणं जुञ्ज मोक्ख पहे ॥४११॥

अतः संत ! सागार तथा
अनगारों के शारीरिक वेश।
मात्र मुक्ति पथ मात्र न केवल—
मुक्ति मार्ग में करो प्रवेश।
मुक्ति मार्ग-जिन कथित सुनिश्चित
सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान।
सम्यक् चरित नाम से व्यवहृत
स्वात्मस्थिति, रुचि, ज्ञप्ति महान।

भावार्थः— अतः हे बन्धु ! सागार और अनगारों के बाह्य वेश मात्र को मुक्ति मार्ग मानना छोड़कर आत्मा को मोक्ष के मार्ग में लगाइये— जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मयी जिनेन्द्र ने निरूपित किया है।

(४१२)

आत्म संबोधन

मोक्ख पहे अप्पाणं ठवेहि चेदयहि झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण दव्वेसु ॥४१२॥

चेतन ! तू प्रज्ञापराधवश—
कब से बना हुआ दिग्भ्रान्त !
अब भी चेत, स्वात्मसंस्थितिकर
मुक्ति पथिक बन, हो निर्भ्रान्त ॥
केवल उस ही का चिन्तन कर
उसमें कर सानन्द विहार ।
पर द्रव्यों भावों वेशों में
उलझ न भ्रमवश कर ममकार ॥

भावार्थः—हे आत्मन् ! तू अपनी प्रज्ञा (ज्ञान या समझ) के अपराध से दिग्भ्रान्त बना हुआ है ! परन्तु श्री गुरु कहते हैं कि अब तो चेत ! और अन्य द्रव्यों वा भावों में अनुराग का त्याग कर मोक्ष मार्ग में स्वयं को स्थिर कर उसी का चिन्तन और ध्यान करता हुआ नित्य उसी में विहारकर । यदि वास्तव में संसार से मुक्त होना चाहता है तो मुक्ति का उक्त मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा ।

(४१३)

उन्होंने समयसार नहीं जाना

पासंडिय लिंगेसु य गिहि लिंगेसु य बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णादं समयसारं ॥४१३॥

सागारों अनगारों के जो—
बाह्यवेश हैं विविध प्रकार—
उनमें मोहित जन क्या जाने—
पावन समयसार अविकार ?
भावलिंग बिन द्रव्य लिंग में—
अहंभाव धर हुआ विमूढ़ ।
वह परमार्थ शून्य तंदुल तज
तुष संचय करता है मूढ़ ॥

भावार्थः— सागारों (गृहस्थों) अनगारों (गृहत्यागियों) के जो नाना प्रकार के भेष हैं उन्हें ही जो व्यक्ति मुक्ति मार्ग समझकर आत्म शुद्धि से शून्य बना हुआ है उसने समयसार (शुद्धात्म स्वरूप) को नहीं जाना; क्योंकि उन्होंने देह के वेश को ही अपनाकर भ्रमवश उसे शुद्धात्म समझ लिया है। वह ऐसा मूर्ख है जिसने तन्दुल (चावल) को छोड़कर तुष (छिलकों) को ग्रहण करना स्वीकार किया है।

(४१४)

व्यवहार नय मोक्ष मार्ग में दोनों लिंगों को स्वीकार करता है

ववहारिओ पुणणओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्ख पहे।
णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्व लिंगाणि ।।४१४।।

४१४/१

नय व्यवहार किन्तु करता द्रव्य लिंग मुक्ति पथ में स्वीकार।
द्रव्य लिंग को भाव लिंग का सहचारी सम्यक् निर्धार ।।
परमार्थी को मुनि श्रावक के, उभयलिंग पड़ते अनुकूल।
अतः इन्हें स्वीकृत कर भी वह इनमें ही जाता नहिं फूल ।।

भावार्थः— किन्तु व्यवहार नय द्रव्य लिंग (मुनि मुद्रा) को भाव लिंग का सहचारी जान और मान कर मुक्ति मार्ग में दोनों लिंगों को स्वीकार करता है। परमार्थी मुमुक्ष को आत्म साधना में चूंकि मुनि और श्रावक के दोनों लिंग सहायक होते हैं अतः मोक्ष मार्ग में सहायक जान द्रव्य लिंग को स्वीकार करता है। किन्तु परमार्थी साधु द्रव्य लिंग धारण करके ही सन्तुष्ट होकर उसका गर्व नहीं करता; किन्तु निश्चय मोक्ष मार्ग को ही वस्तुतः मुक्ति का मार्ग मानकर उसकी साधना में सदा तत्पर रहता है।

४१४/२

'मैं हूँ श्रमण या कि श्रावक हूँ—' यों कर अहंकार ममकार—
भाव लिंग से शून्य जन कभी पा न सके संसृति का पार ।।
निश्चय नय को नहिं अभीष्ट है किंतु तनिक बहिरंग विचार।
इससे यह न समझना—रहता अर्थ शून्य जिन लिंग, उदार ।।

भावार्थः— 'मैं श्रमण हूँ या श्रावक हूँ' इस प्रकार मन में बाह्य वेश का अहंकार करता हुआ व्यक्ति भाव लिंग की शून्यता में मुक्ति नहीं पा सकता । निश्चय नय की दृष्टि में बाह्य (द्रव्य) लिंग गौण होता है इस कारण वह आन्तरिक भावों की शुद्धि पर बल देता हुआ भाव लिंग को मुख्य करता है । इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जिन लिंग का धारण करना सर्वथा ही व्यर्थ है या अनुपयोगी है ।

४१४/३

तथा दुराशय यह मत लेना—'मुनि बनना है व्यर्थ समान ।'
'हम स्वच्छंद विचरण कर-निश्चय नय से कर लेंगे कल्याण ।'
जो स्वच्छंद विचरण करता वह—मार्ग भ्रष्ट व्यवहार विहीन—
निश्चय पथ से बहुत दूर हैं—स्वैराचारी सतत मलीन ।।

भावार्थः— निश्चय नय की मुख्यता से किए गए कथन से 'यह दुराशय भी न अपना लेना कि मुनि या श्रावक लिंग धारण करना व्यर्थ है । हम तो स्वच्छंद विचरण करते हुए निश्चय नय से अपना कल्याण कर लेंगे । क्योंकि स्वच्छंद विचरण करने वाला व्यवहार चारित्र शून्य व्यक्ति मार्ग भ्रष्ट होकर निश्चय मोक्ष मार्ग से बहुत दूर चला जाता है ।

४१४/४

श्रावक श्रमण वृत्ति या तप व्रत, संयमादि नहिं व्यर्थ, निदान—
निश्चय पथ में परम सहायक—बन करते जो जन कल्याण ।
इन्द्रिय विषयासक्त, पापरत—पाखंडी व्यसनों में चूर—।
शठ से रहती आत्म साधना सत् समाधि सब कोसों दूर ।।

भावार्थः— श्रावक या श्रमण वृत्ति स्वरूप व्रत, तप, संयमादि प्रशस्त क्रियाएँ व्यर्थ न होकर निश्चय मोक्ष मार्ग की साधना में परम सहायक होती हैं जबकि इन्द्रियों के विषय सेवन में आसक्त पापी पाखंडियों से आत्म साधना एवं सत्समाधि बहुत दूर हो जाती है ।

४१४/५

जबकि पाप सह विषय वासना विष का कर सम्यक् परिहार ।
द्रव्यलिंग मुनि श्रावक का गह पाता व्यक्ति समय का सार ।।

अभिप्राय यह है कि समन्वित नय सुदृष्टि द्वारा सविशेष—।
तत्व समझ निष्पक्ष भाव से मुक्ति मार्ग में करो प्रवेश ।।

भावार्थः— जबकि नियमानुसार पापों, कषायों और विषय वासनाओं का परित्याग करते हुए मुनि या श्रावक का द्रव्य लिंग धारण करने वाला व्यक्ति ही भाव लिंगी बन शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त कर पाता है और निर्ग्रन्थ होकर जिन लिंग को धारण किये बिना कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, अतः हे बंधु ! निश्चय और व्यवहार दोनों नयों पर समन्वित दृष्टि रखते हुए वस्तु स्वरूप (मुक्ति मार्ग) को समझ कर तदनुकूल आचरण द्वारा शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त होओ ।

४१४/६

मात्र ज्ञान नय पक्ष ग्रहण कर जो स्वछंद बन कर संभ्रांत ।
क्रिया पक्ष की निन्दा करता, वह डूबेगा गह एकांत ।।
त्यों ही केवल क्रिया कांड में जो रत रहता ज्ञान विहीन—।
वह संसृति में ही भटकेगा भ्रांत पथिक बेचारा दीन ।।

भावार्थः— जो व्यक्ति ज्ञान नय का पक्षपाती बन स्वयं को ज्ञानी मान व्यवहार स्वरूप व्रतशील संयमादि का पालन करना व्यर्थ समझकर स्वछंद विहारी बन जाता है वह पाप करता हुआ नरक निगोदादि गतियों का पात्र बनकर संसार में ही डूबेगा और जो ज्ञान निरपेक्ष केवल क्रिया-कांडों में ही उलझा रहेगा वह भी अज्ञानांधकार में पड़कर मार्ग भ्रष्ट हुआ भटकता ही रहेगा ।

४१४/७

मुक्ति कौन प्राप्त करता है

किंतु वासना पाप कषायों का मन वच तन कर परिहार ।
जो मुनि ज्ञान क्रिया मैत्री गह - समदर्शी बन रहें उदार—।।
स्याद्वाद कौशल कर निश्चल संयम साधन में बन लीन ।
भव सागर से हो जाते हैं पार परम योगीन्द्र प्रवीण ।।

भावार्थ:— किन्तु जो विषय कषायों व पाप वासनाओं का मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनाओं से भली भांति परित्याग पूर्वक मुनि बनकर ज्ञान और क्रिया नय में परस्पर मैत्रीभाव रखते हुए स्याद्वाद नय में कौशल प्राप्त कर निश्चय संयम का पालन कर परम समाधि में लीन हो जाते हैं वही आत्म शुद्धि कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

(४१५)

उपसंहार

जो समयपाहुडमिणं पढिदूण य अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो होहिदि उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

समयसार वैभव असीम है—
झलकमात्र यह ग्रंथ, निदान—।
इसे पठन कर वस्तु तत्व की—
जो यथार्थ कर वर पहिचान—॥
श्रद्धारत रम रहें उसी में
कर वर चिदानंद रस पान।
उन्हें मुक्ति साम्राज्य सहज ही—
हो जाये संप्राप्त महान॥

भावार्थ:— जो सज्जन इस समयसार ग्रंथ को पढ़ कर और अर्थ सहित तत्व को जानकर आत्म स्वरूप में लीन होता है वह उत्तम सुख स्वरूप होता है अर्थात् ज्ञानानन्द स्वरूप परमात्म पद को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

इति सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकारः

अन्तिम प्रशस्ति

(१)

श्री मद्‌भगवत्कुन्दकुन्दने – आत्मविभव प्रकटा अम्लान–
समयसार चिर ज्योति जगायी जगती पर जिन वचन प्रमाण ।
भगवदमृतचन्द्र श्रीमज्जयसेन सूरि गुरुवर्य उदार–
आत्म ख्याति तात्पर्यवृत्ति रच उसी तत्त्व का किया प्रसार ।

(२)

विद्वद्वर जयचन्द्र सुधी ने लिखकर भाषा में भावार्थ–
आत्म ख्याति कृति पुनः सरल कर भव्यजनों को किया कृतार्थ ।
प्रिय ! इन सब पर आधारित यह समयसार वैभव परमार्थ–
जैसा कुछ बन सका गूंथकर प्रस्तावित है लोक हितार्थ ।

(३)

इस कृति का केवल निमित्त बन स्याद्वाद नय गह अभिराम
वस्तु तत्त्व का किया विवेचन अनेकांत मय 'नाथूराम'
गुरु सिद्धान्ताचार्य विज्ञवर जगमोहन ने प्रथम महान–
तद्‌गुरु स्याद्‌वाद वारिधि श्री बंशीधर ने पुनः प्रमाण !

(४)

नय सुदृष्टि से अवलोकन का बृहत् साधु श्रम किया प्रवीण
तदनन्तर यह कृति प्रामाणिक हुई भव्य हित– सार्वजनीन ।
यदि त्रुटियाँ हों सुधी सुधारें – छद्मस्थों से हों बहुभूल ।
शब्द, अर्थ, पद, मात्रा या फिर भाव समझने में अनुकूल ।

मारवाड़ी दि. जैन मन्दिर
शक्कर बाजार, इंदौर
५-८-७०

विनीत :
नाथूराम डोंगरीय जैन
न्यायतीर्थ (अवनीन्द्र)

मूल एवं भावार्थ का संयोजन तृतीयावृत्ति के रूप में
कार्तिक कृष्णा ३० दीपावली
श्री वीर निर्वाण सं. २५१४

अध्यात्म-रहस्य

ले. नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ

(१)

जाने कौन कहाँ से आकर तरु शाखा पर कर विश्राम—
प्रात समय उड़ जायें पंछी अपनी राह पकड़ अविराम
ऐसे ही इस तन तरुवर पर कुछ दिन का है तू महमान।
कब उड़ जाये हंस-भरोसा' इक पल का भी नहिं नादान!

(२)

मेला है दुनिया दो दिन का, इसमें रागद्वेष कर व्यर्थ—
उलझ रहा क्यों मोहपाश में कर संकल्प विकल्प अनर्थ।
कौन यहाँ तव शत्रु मित्र हैं, जीना है जब दिन दो चार—
इस जीवन में अतः ग्राह्य है साम्यभाव सर्वांग उदार ।।

(३)

कितने जन्में वीर अवनि पर, कौन रहा जीवित चिर काल ?
राजा-रंक सभी को निर्दय निगल रहा खल काल कराल।
शरण न देवी और देवता यंत्र मंत्र तंत्रादि नितांत।
मृत्यु किसी की कभी न टलती-कोटि यत्न कर भी दुर्दान्त ।।

(४)

कोई हँसता, कोई रोता विकल हुआ सर्वांग अधीर,
आधि व्याधि पीड़ित, चितातुर, दाम बिना कोई दिलगीर।
भूख प्यास संतप्त त्रसित हैं तृष्णावश कइइक जनदीन,
यह संसार दुखों का सागर, सार न इसमें रंच प्रवीण!

(५)

फिर भी इसमें सुख पाने की, झूठी आश लिये जन भ्रान्त—
हिंसा झूठ, कपट छल छिद्रों में रहता संलग्न नितान्त।
अन्यायी बन दीन जनों पर करता भीषण अत्याचार,
पर द्रव्यापहरण, अति संचय, काम कुचेष्टादिक व्यापार।

(६)
पाकर तुच्छ ज्ञान, धन, यौवन, जाति-प्रतिष्ठा, बल सम्मान—
दुरभिमानवश मत्त हुआ जन औरों का करता अपमान।
मान शिखर चढ़ जबकि हुआ है चक्री का भी पतन महान।
उनका है पासंग न फिर भी करता मूढ़ वृथा अभिमान !

(७)
हैं क्रोधादि विभाव दुखद ही या दुख ही हैं एक प्रकार,
जो करते नित आत्म शान्ति सह विश्वशांति पर तीव्र प्रहार।
जबकि निराकुलता ही सुख है वीतरागता जन्य नितांत।
पर इंद्रिय विषयानुभवन में मुग्ध हुआ सुख माने भ्रांत।

(८)
इंद्रिय विषय जन्य सुख क्या है, सुख का है केवल आभास,
पुण्यकर्म उदयाश्रित, अस्थिर, पराधीन एवं सविनाश।
अमित विघ्न बाधाएँ आकर जिस पर करती सतत प्रहार।
आकुलता वर्द्धक, अतृप्तिकर, कल्पित, पाप बीज, निःसार।

(९)
स्वयं सुदर्शन ज्ञानमयी है—अविनाशी आनन्द स्वरूप।
स्व पर विवेक विहीन हुआ जन भूल रहा अपना ही रूप।
स्वकृत कर्म फल सुख दुखादि पुनि एकहि भोगे स्वयं स्वकाल।
साथी सगा न कोई इसका फिर भी मोह तजै नहिं बाल !

(१०)
जिस तन के कणकण में चेतन व्याप रहा तिल-तैल समान।
वह भी अपना हो न सके तब, हो सकता फिर कौन, अयान !
माता-पिता, पति-पत्नी, वैभव धन धान्यादि राज्य परिवार—
प्रकट भिन्न हैं, किन्तु मूढ़ जन अपना मान भ्रमें संसार।

(११)
रक्त माँस मज्जादि विनिर्मित अस्थि पुंज मल मूत्राक्रांत—
चर्म लपेटी देह मनुज की क्या दिखती है भव्य नितांत !
किन्तु न इस सम अन्य अवनि पर वस्तु अपावन है सर्वान्त।
फिर भी निज शुचि रूप भुलाकर देह-दासता तजै न भ्रांत।

(१२)
है चैतन्य स्वरूप वस्तुतः पावन कर्म कलंक विहीन,
राग द्वेष मद मोह विवर्जित जन्म जरा मरणादिक हीन।
दर्शन ज्ञान-समृद्ध, स्वस्थ, सच्चिदानन्द रस पूर्ण, अक्षीण।
शक्ति पुंज, रस रूप गंध विन, अमल अखंड ज्योति स्वाधीन।

(१३)
मिथ्यादर्शन, अविरति एवं योग प्रमाद कषायों द्वार–
सतत कर्म का आस्रव होता अतः हेय हैं उक्त विकार।
किन्तु मुग्धजन, सविकारी बन कर्मास्रव कर नित्य नवीन–
आकुल व्याकुल हुआ शुभाशुभ कर्म बंध कर बने मलीन।

(१४)
तत्व ज्ञान बल हो जाने पर मोह तिमिर का पर्यवसान।
संवर होता गुप्ति समिति सह धर्माराधन द्वार महान।
कर्म शत्रु के आक्रमणों से तब विमुक्ति पा आतमराम।
शान्ति सुधा रसपान मगन बन अंतस् में पाता विश्राम ॥

(१५)
सत्ता में फिर शेष रहें जो पूर्व बद्ध अरि कर्म अनन्त।
जिनकी संतति का समग्रतः हुआ वस्तुतः कभी न अंत ॥
व्रत तप संयम युत योगी बन पावन शुक्ल ध्यान के द्वार।
कर्म निर्जरा में समर्थ हो–पाने सहज स्वपद अविकार।

(१६)
ऊर्ध्व मध्य, पाताल नाम से संविभक्त यह पुरुषाकार–
है अनन्त आकाश मध्य में लोक स्वतः षड् द्रव्यागार।
जिसमें जीव पुद्गलों में ही है वैभाविक शक्ति विशेष।
जिस बल अभिनय करें उभय मिल विकृत वेश धर अमित अशेष।

(१७)
चक्रवर्ति सम्पत्ति अपरिमित, ऋद्धि सिद्धियाँ अपरम्पार।
अमरपुरी के अद्भुत वैभव पुण्य योग पाये बहु बार।
किन्तु सुदुर्लभ रत्नत्रय निधि एक बार भी हुई न प्राप्त।
हो जायें जिससे भव संतति-जन्य सकल दुख दैन्य समाप्त।

(१८)
रत्नत्रय है सम्यग्दर्शन, ज्ञान, विमल चारित्र स्वरूप।
धर्म यही वा मुक्ति मार्ग है निश्चय सह व्यवहार द्विरूप।

स्व-रुचि, ज्ञप्ति, स्वात्मस्थिति निश्चय, तत्वार्थों पर दृढ़ श्रद्धान।
तत्व ज्ञान पूर्वक व्रत संयम तप व्यवहार धर्म विधि जान।

(१९)

निश्चय धर्म अखंड आत्म है, रत्नत्रय व्यवहार विधान।
स्वपर तत्व श्रद्धा दर्शन है जानपना है सम्यग्ज्ञान।
पाप कषाय निवृत्ति पुरस्सर निज स्वरूप में होना लीन—
है सम्यक्चारित्र-शुद्ध-उपयोगमयी परणति अमलीन।

(२०)

एवं श्रद्धा ज्ञान सुसंयम व्रताचरण युत सूत्र प्रमाण—
स्वानुभूति में सुस्थिर होकर करना चिदानन्द रस पान—
है निश्चय व्यवहार समन्वित धर्म तत्वतः सर्वांगीण।
सकल बंधनों से विमुक्ति पा जिससे आत्म बने स्वाधीन।

(२१)

दुर्लभ नर तन पा अभीष्ट हो यदि शाश्वत सुख प्राप्ति अनूप—
आधि, व्याधि, बाधादि विवर्जित पावन परमाह्लाद स्वरूप।
तदि तज विषय जन्य सुख विभ्रम अन्तर्दृष्टि प्रसार प्रवीण !
वीतरागता आत्मसात् कर अन्तर्लीन बनो भ्रमहीन।

(२२)

वीतरागता है निजात्म के शुद्ध परिणमन का ही नाम।
राग द्वेष मोहादि विकृतियाँ हैं सब वैभाविक परिणाम।
आत्मशुद्धि हित अतः सुदृढ़ बन तज समस्त रागादि विकार—
वीतरागता हेतु निरन्तर यत्नशील बन रहो अवार।

(२३)

वीतरागता हुई न, जब तक जीवन में प्रस्फुरित नितान्त—
करो सतत तावत् उपासना वीतरागता की सर्वान्त।
वीतरागता के प्रतीक हैं त्रिभुवर वीतराग भगवान्।
अतः सुरुचि युत वीतराग जिन भक्ति कार्य है सर्व प्रधान।

(२४)

तत्वाभ्यास, सुगुरु समुपासन व्रत तप संयमादि स्वीकार,
परनिंदा, छल, दुरभिमान तज, भव भोगों में रुचि परिहार।
शठ प्रति साम्य, दीन पर करुणा, गुणिजन सेवा सह सम्मान।
प्राणिमात्र प्रति पावन मैत्री है सम्पादनीय श्रेयान्।

॥इति॥

मंगलकामना

विदुषीरत्न श्रीमती ब्र. कुमारी कौशलजी

'समयसार जैसे आध्यात्मिक गूढ़ विषय को अपने में समेटे है, वहाँ उसमें एक काव्य जैसी सरसता व रोचकता भी अनूठी है। विविध उपमाओं एवं आख्यानों से विषय मंद बुद्धि गम्य सहजता से हो सका है।

श्री नाथूरामजी डोंगरीय जैन ने यद्यपि अनेक ग्रंथों को संजोया व सरलता प्रदान की है, किन्तु समयसार पर रचित हिन्दी पद्यानुवाद 'समयसार-वैभव' के रूप में एक अद्वितीय रचना है। प्रतिपाद्य विषय के विवेचन के साथ-साथ निश्चय-व्यवहार का समन्वय व संतुलन दुर्लभ है। इस वैभव को एक बार प्रारंभ कर लेने पर छोड़ने को मन ही नहीं चाहता। इस वृद्धावस्था में डोंगरीयजी की जिनवाणी के प्रति रुचि, लग्न व श्रम अनुमोदनीय हैं। मेरी शुभकामनाएँ हैं कि वे अंतिम सांस तक वाणी के मंथन में निरत रहें। शुभमस्तु!'

दि. १-११-८८ (जैन कालोनी, इन्दौर)

संहिता सूरि श्री पं. नाथूलालजी शास्त्री, प्रधानाचार्य सर. हु. महाविद्यालय, इन्दौर

"श्री विद्वद्वर पं. नाथूरामजी डोंगरीय न्यायतीर्थ इन्दौर द्वारा प्रस्तुत 'समयसार वैभव' की तृतीय आवृत्ति का संपादन कर मूलगाथा–उसका पद्यानुवाद और उसका भावार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। पूर्व दो आवृत्तियों की पाठकों द्वारा सराहना किये जाने के परिणाम स्वरूप यह आवृत्ति विशेषार्थ सहित लिखी गई है। समयसार को पढ़कर संयम एवं व्रताचरण छोड़कर स्वछंद बन जाने के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। इसका ख्याल रखते हुए इस रचना के संपादकजी ने प्रत्येक स्थान पर निश्चय व्यवहारनय की सापेक्ष दृष्टि स्पष्ट कर दी है। जिसके कारण स्वाध्याय करने वालों का भ्रम निवारण हो जाता है। साथ ही लेखक एवं वक्ता द्वारा प्रदर्शित विषय की आलोचना करते रहना जिनका स्वभाव है, उनका भी इस रचना को पढ़कर कुछ कहने का साहस नहीं हो सकता।"

"भगवान् कुंदकुंददेव के द्विसहस्राब्दी समारोह मनाने के पुण्य प्रसंग पर ऐसी रचना का स्वागत करते हुए आशा है कि इसके स्वाध्याय द्वारा मात्र शब्द संग्रह न कर अपने यथार्थ समयसार वैभव को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जावेगा।"

मोतीमहल, इन्दौर —नाथूलाल शास्त्री,
दि. ११-१०-८६

श्री देवकुमारसिंहजी कासलीवाल (अध्यक्ष दि. जैन समाज), इन्दौर

७-२-९०

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि समयसार वैभव का मुद्रण हो रहा है और आचार्य विद्यानन्दजी महाराज का आशीर्वाद भी प्राप्त हो चुका है। धार्मिक ग्रंथों विशेषकर "समयसार-वैभव" के प्रकाशन में आपका जो योगदान है वह प्रशंसनीय है। आपके इस कार्य की सफलता चाहता हूँ।

धन्यवाद ! आपका

देवकुमारसिंह कासलीवाल

स्याद्वादवारिधि जैन सिद्धांत महोदधि न्यायालंकार पू. स्व. पं. बंशीधरजी शास्त्री, इन्दौर

"समयसार वैभव" भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित समयप्राभृत ग्रंथ का भावानुवाद है। प्रथम तो किसी महान ग्रंथकर्त्ता के अभिप्राय को समझना और फिर उसे छंदोबद्ध पद्यमयी भाषा में प्रकट करना—यह एक कठिन कार्य है। परन्तु समझा जा सकता है कि पंडितजी का इस दिशा में प्रयत्न सफल हुआ है। आपका परिश्रम सराहनीय है।

प्रस्तुत रचना जैन अध्यात्म तत्व के समझने में बहुत कुछ सहायक होगी।"

दि० जैन उदासीआश्रम तुकोगंज, इन्दौर **—बंशीधर जैन**
दि. ८-७-७०

सिद्धान्ताचार्य स्व. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री
(पूर्व प्राचार्य एवं अधिष्ठाता स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी)
संपादक 'जैन संदेश' मथुरा (भाग ४१ संख्या ३७, २१ जनवरी, ७१)

"श्री डोंगरीयजी ने समयसार को हिन्दी पद्य बद्ध किया है। पद्य रचना गाथानुसारी है। जिस गाथा को एक से अधिक पद्यों में बद्ध किया है—पद्यों पर गाथा संख्या के साथ १-२-३-४ आदि अंक डाल दिये हैं—इससे समयसार की गाथाओं को भी इस पद्यानुवाद से समझा जा सकता है। वास्तव में रचयिता अपनी रचना में सफल हुए हैं। उन्होंने रचना का 'समयसार वैभव' नाम उपयुक्त दिया है। प्रारंभ में पं. जगन्मोहनलालजी की विस्तृत भूमिका पठनीय है। हम उक्त वैभव का आनंद उठाने की पाठकों से प्रेरणा करते हैं। यह रचना कण्ठस्थ करके नित्यपाठ करने लायक है।"

न्यायाचार्य डॉ. श्री दरबारीलालजी कोठिया शास्त्राचार्य एम.ए.पी.एच.डी.,
रीडर का.हि. विश्वविद्यालय, चमेलीकुटीर वाराणसी दि. ४-२-७१

"समयसार वैभव" वस्तुतः अद्‌भुत है। जो प्राकृत और संस्कृत नहीं जानते और भगवत्कुंदकुंद तथा उनके ही अवतार आचार्य अमृतचंद्र का वचनामृत पान करना चाहते हैं उनके लिये 'समयसार वैभव' एक अछिद्र ग्लास का काम करेगा। आप निसर्गज कवि हैं। मूलकार के पूरे भाव को पूरे रूप में इस समयसार वैभव में आपने दिया है, यह आपकी निसर्गज प्रतिभा है।"

"वस्तुतः इसे पढ़ने से पाठक को लगेगा कि वह मूलकार आचार्य कुंदकुंद के समयसार को ही पढ़ रहा है। यही रूपान्तरकार का वैशिष्ट्य है। यह ग्रंथ प्रत्येक जिज्ञासु के लिये उपादेय है। आशा है आपका यह प्रयास बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय बनेगा। इस सफल कृति के लिये मेरी हार्दिक बधाई !"

दरबारीलाल कोठिया

डॉ. लालबहादुर शास्त्री (एम.ए.पी.एच.डी. साहित्याचार्य)
संपादक 'जैन गजट' अजमेर (वर्ष ७६ अंक ३९) हाल देहली

प्रस्तुत 'समयसार वैभव' द्वारा लेखक ने समयसार जैसे उपयोगी ग्रंथ की प्राकृत गाथाओं को शुद्ध हिन्दी काव्य में अनूदित कर अध्यात्म के जिज्ञासुओं की जहाँ साध पूरी की है वहाँ मातृभाषा हिन्दी की भी सेवा की है। स्वनाम धन्य स्व. पं. बनारसीदासजी के कवित्तों में अनूदित नाटक समयसार के बाद संभवतः यह पहिली रचना है जो समयसार को लेकर पद्यानुवाद के रूप में की गई है।

श्री डोंगरीयजी अच्छे कवि हैं, आपने समयसार के गूढ़ एवं कठोर विषय को भी सरल हिन्दी में रोचक बना दिया है। इस में कहीं अर्थ की खींचातानी नहीं है और न अपनी मान्यताओं का समावेश है। केवल ग्रंथ के हार्द को प्रारंभ से अंत तक ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की अभिलाषा रही है। उक्त अनुवाद के लिये लेखक बधाई के पात्र हैं।

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालालजी जैन
प्राचार्य, श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, मंत्री जैन विद्वत्परिषद् सागर ८-११-७९

आपके द्वारा अनूदित एवं प्रकाशित रत्नकरंड व द्रव्य संग्रह के प्रेषित पद्यानुवाद सरल और मूलानुगामी हैं। प्रारंभिक पृष्ठ भी महत्वपूर्ण हैं। आपकी अनवरत साहित्य साधना देख बड़ी प्रसन्नता होती है। ये दो ही नहीं आपकी समयसार वैभवादि रचनाएँ भी हृदयस्पर्शी हैं। आपके द्वारा इसी प्रकार साहित्याराधना होती रहे यह भावना है।

न्यायतीर्थ पं. श्री दयाचन्द्रजी सिद्धांत शास्त्री

व्यवस्थापक—ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन, उज्जैन २८-११-७०

"आपने विशेष अध्ययन के पश्चात स्याद्वाद दृष्टि से समयसारीय पद्य रचना करके एकांत के कथन का निरसन करने का जो स्तुत्य प्रयत्न किया है उससे ग्रंथ का महत्व तो बढ़ा ही है—साथ ही मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग के स्वरूप को सही ढंग से समझने का प्रयत्न भी किया है। इसके लिये आप बधाई के पात्र हैं।"

श्री पं. हीरालालजी 'कौशल' साहित्यरत्न, शास्त्री न्यायतीर्थ

(मंत्री अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद, देहली)

'आपके द्वारा किये गये ग्रंथों (समयसार प्रवचनसारादि) के अनुवाद बहुत उत्तम, भावों को स्पष्ट करने वाले तथा आर्ष पद्धति के पूर्णतया अनुकूल हैं। पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। पिछले ५० वर्ष से भी अधिक समय से आप जिनवाणी की जो निष्काम सेवा कर रहे हैं वह वास्तव में प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।'

श्री कुंदकुंद दि. जैन विद्यालय, राजाखाड़ा (धौलपुर) — *दिनांक २१-१-७७*

आपकी 'समयसार वैभव' आदि कृतियों को देखकर हृदय में जो आनंद हुआ वह अवर्णणीय है। तुम्हारी प्रतिभा और अनुभव को देखकर बहुत संतोष एवं हर्ष है। भविष्य इससे भी अधिक उज्ज्वल बने ऐसी मेरी हार्दिक कामना है।

पूर्व प्राचार्य श्री गोपाल दि. जैन सद्धान्त विद्यालय, मोरेना) — हितैषी

(स्व.) **नन्हेलाल शास्त्री**

श्री प्रकाशजी 'हितैषी' शास्त्री

संपादक 'सन्मतिसंदेश' देहली — *(अंक २ फरवरी, ७१)*

'इस समयसार वैभव में मूलग्रंथ एवं अमृतचन्द्राचार्य व जयसेनाचार्य की टीकाओं का भाव लेकर भावानुवाद किया गया है। छंदों में प्रवाह पूर्ण लालित्य है। गाथा और श्लोकों का भाव भरने का सफल प्रयत्न किया गया है। समयसार में आत्मा के स्वभाव का दिग्दर्शन कराया गया है जो मोक्षमार्ग में अत्यन्त उपयोगी व सम्यग्दर्शन का कारण है। सब ग्रंथ आद्योपांत पठनीय हैं।'

श्री (स्व.) पं. परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ — संपादक 'वीर' देहली

(अंक ८, १ अगस्त, १९७१)

श्री डोंगरीयजी ने समयसार जैसे गहन शास्त्र के अर्थ का गाथानुसार हिन्दी पद्य में सरल सुबोध 'समयसार वैभव' नाम से अनुवाद किया है। समयसार के प्रबल विवादमय वातावरण में भी चातुर्य पूर्व ढंग से बचते हुए सफलतापूर्वक समयसारीय पद्य रचना की है। प्रारंभ में पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री की भूमिका पठनीय है। ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी बन गया है।'

श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ (अध्यक्ष दि. जैन विद्वत्परिषद) — सपादक 'वीरवाणी' जयपुर (वर्ष २३, अंक ८)

"समयसार ग्रंथ पर जो पद्यमय रचना डोंगरीयजी ने की है—सचमुच वह बहुत सुन्दर सरल और सुबोध है। इससे पाठक के ज्ञान में वृद्धि हो होगी। लेखक इसके लिये धन्यवादार्ह हैं।"

श्री संपादक 'जैन दर्शन' (वर्ष 22 अंक 43, 19 अप्रेल 71)

"भगवत्कुंदकुंदाचार्य के सुप्रसिद्ध अध्यात्म ग्रंथ समयसार का सरल सुबोध हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद कर विद्वान लेखक ने हिन्दी भाषा भाषियों को समयसार जैसे अत्यन्त दुरूह अध्यात्म विषयक ग्रंथ को समझनेमें बहुत सरलता प्रदान कर दी है। समयसार अध्यात्म विषय का प्रतिपादक एक महान अपूर्व ग्रंथ है। इस ग्रंथ में विशेषतः आत्मा के उस शुद्ध स्वरूप का कथन किया गया है जो निश्चय नय का विषय है। तथापि उस शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की दृष्टि से आवश्यक उस शुभोपयोग का कथन भी इस ग्रंथ में कहीं 2 दिया गया है—जो व्यवहार नय का विषय है। इससे एकांत निश्चयवाद की मिथ्या धारणा भ्रम सिद्ध हो जाती है।

इस दृष्टि से पं. नाथूरामजी डोंगरीय ने समयसार स्तर का यह सुन्दर पद्यानुवाद जनसाधारण के लिये प्रस्तुत किया है वह बहुत ही उपयोगी और निश्चय व्यवहार के समन्वय को साधने वाला तथा निश्चय एकांत की भ्रांति को दूर करने वाला है।"

श्री सम्पादकजी 'सन्मतिवाणी' इन्दौर

समुपलब्ध जैन साहित्य में भगवत्कुंदकुंद विरचित समयसार का एक विशिष्ट एवं निराला ही स्थान है। उसके गूढ़ विषय को यथार्थ रूप में समझने के लिये जन साधारण तो दूर-अनेक विद्वज्जनों को भी कठिनाई का अनुभव होने लगता है। अनेक जन भ्रमित भी हो जाते हैं और नयों की खींचतान कर विवाद भी करने लगते हैं। श्रद्धेय पंडित श्री नाथूराम जी डोंगरीय ने 'समयसार-वैभव' में निश्चय व्यवहार का समन्वय कर विषय को सरल सुबोध भाषा में मूल के साथ पद्यों एवं गद्य में भावार्थ लिख ग्रंथ के गूढ़ रहस्य को समझने हेतु सुन्दर प्रयास कर समाज को एक अद्वितीय उपहार प्रदान किया है।

ग्रंथ के तृतीय संस्करण का प्रकाशित होना इसकी उपयोगिता का प्रमाण है। पंडितजी की इस स्थायी धरोहर के प्रति समाज उनका चिर कृतज्ञ रहेगा। श्रद्धेय पंडित जी के प्रति प्रणाम करते हुए उनके दीर्घ और यशस्वी जीवन की कामनाओं के साथ—

इंदौर — —जयसेन जैन (M.A.)
२५ दिसम्बर ८० — *संपादक-सन्मतिवाणी"*

श्री संपादक 'जैन मित्र' सूरत (जैनमित्र 14 जनवरी 71)

"समयसार-वैभव" इस ग्रंथ में सुप्रसिद्ध अध्यात्म शास्त्र समयसार का पद्यों में सरल और सुबोध अनुवाद है। प्रथम आवृत्ति समाप्त हो जाने से यह दूसरी आवृत्ति प्रकट की गई है। प्रथम बार में तो यह शास्त्र रा. ब. श्रीमंत सेठ हीरालालजी इन्दौर ने अपनी स्व. माताजी को अर्पण किया था यह इसकी विशेषता है। सारांश यह कि समयसार अध्यात्म ग्रंथ की प्राकृत गाथाओं का यह सरल हिन्दी काव्य में अनुवाद अति उपयोगी व शांति से स्वाध्याय करने योग्य है।

ऐसी उत्तम काव्य रचना के लिये पं. डोंगरीयजी अतीव धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री सेठ हीरालालजी (कासलीवाल)

(स्व. रावराजा, रायबहादुर, राज्य रत्न, दानवीर, श्रीमंत सेठ)

कल्याण भवन तुकोगंज, इन्दौर
७ अक्टबर, ७०

"सचमुच ही यह ('समयसार वैभव') एक अद्वितीय ग्रंथ है, जो आधुनिग युग में आत्म जिज्ञासुओं को राष्ट्रभाषा के माध्यम से पूज्य भगवत्कुंदकुंद की अमरवाणी का रसास्वादन कराने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा। मुझे पूर्ण आशा है कि इस उपयोगी रचना का सर्वत्र समादर होगा और इसके द्वारा जनमानस में आध्यात्मिक रुचि एवं निष्ठा में वृद्धि होने के साथ ही अध्यात्म संबंधी अनेक भ्रमों का उन्मूलन होकर जीवन में एक नवीन चेतना का उदय होगा।" —**हीरालाल**

(विशेष—आपने अपनी पूज्य मां. सा. की पुण्य स्मति में ग्रंथ का प्रथम संस्करण प्रकाशित करवा कर समाज को भेंट स्वरूप समर्पित किया था।)

श्री सेठ राजकुमारसिंहजी कासलीवाल

(स्व. श्रीमंत सेठ, दानवीर, रायबहादुर, राज्य रत्न)

इंद्र भवन तुकोगंज, इन्दौर
१२ सितम्बर, ७०

'समयसार वैभव' ग्रंथ में श्री पं. नाथूरामजी डोंगरीय ने समयसार ग्रंथ के गूढ़ अर्थ को बहुत ही सुन्दर और सरल ढंग से निश्चय और व्यवहार का समन्वय करते हुए समझाया है। ऐसे महान ग्रंथ के गूढ़ार्थ को समझाते हुए सुन्दर पद्य रचना करना सचमुच ही प्रशंसनीय है। मुझे आशा है कि इस ग्रंथ को पढ़कर अनेक जिज्ञासु धर्मलाभ प्राप्त करेंगे। —**राजकुमारसिंह**

श्री अभयकुमारजी जैन, पूर्व विधायक *सिहोरा रोड (जबलपुर)*
(प्रचार मंत्री बहोरीबंद क्षेत्र) १-१-८३

"समयसार-वैभव पढ़ा। सचमुच में गूढ़ विषय का सरलभाषा में यह प्रतिपादन बेजोड़ है। भावों की व्यंजना और समझने की सरलता गद्य से भी अधिक सरल रूप में जो पद्य रूप में सामने आई है—प्रशंसनीय है: छः ढाला के बाद यदि कोई रचना सरल और सुपाठ्य है, जन साधारण को तो 'समयसार वैभव' ही है। इसका घर-घर में पहुँचना सचमुच में ज्ञान के लिये हितकारी है। मैं प्रयास करूँगा पहुँचाने का।'

श्री मोतीलालजी बड़कुल
(बड़कुल प्रतिष्ठान) ४७१, जवाहरगंज, जबलपुर २६-१०-७६

"आप द्वारा 'समयसार वैभव' 'रत्नकरण्ड गौरव', 'द्रव्यसंग्रह दीपिका' प्राप्त कर अपार हर्ष हुआ। आपने इन गूढ़ धर्म रत्नों को सरल पद्य एवं गद्य भाषा में लिखकर साधारण प्रवृत्ति के जैन बंधुओं का बहुत बड़ा उपकार किया है। विशेषकर महिला वर्ग जो प्रधानतया गीत और भजनों द्वारा धर्म ज्ञान प्राप्त करती हैं। इस समय जबलपुर में आचार्य सन्मतिसागरजी का मुनि संघ विराजमान हैं। उन्हें ये ग्रंथ बताये तो अत्यन्त प्रसन्न हो उठे, जैसे उनके मन की चीज मिल गयी हो। इन ग्रंथों को मैंने उन्हें भेंट कर दिये हैं।" — **मोतीलाल बड़कुल**

लेखक की कुछ अन्य रचनाओं पर अभिमत

'प्रवचनसार-सौरभ'

श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ (संपादक 'वीरवाणी') जयपुर (18 सितम्बर 82

"आध्यात्मिक महान ग्रंथ समयसारादि के विषय में प्रवेश पाने के पूर्व प्रवचनसार का अध्ययन अपेक्षणीय है, जिससे उन ग्रंथों का मर्म भलीभाँति समझ सकें। श्री डोंगरीयजी ने साधारण जिज्ञासुओं के लिये प्रस्तुत रचना द्वारा बहुत बड़ा कार्य किया है कि सरल हिन्दी पद्य मय रचना (गद्य के साथ) पाठकों को दी है। आज के युग में जब निश्चय व्यवहार अशुभ शुभ शुद्ध सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की चर्चाएँ जोरों पर हैं—लोग अज्ञानवश मिथ्यात्व को ही सम्यक्त्व मान बैठते हैं—ऐसे ग्रंथों के अध्ययन की नितांत आवश्यकता है। इस रचना के लिये लेखक धन्यवादार्ह हैं।"

श्री पं. नाथूलालजी शास्त्री (प्राचार्य सर हुकमचन्द महाविद्यालय इन्दौर)

"प्रस्तुत 'प्रवचनसार सौरभ' प्रवचनसार आध्यात्मिक ग्रंथ का विशद हिन्दी अर्थ सहित पद्यानुवाद है जो विद्वान् लेखक डोंगरीयजी की अनुपम रचना है। इसके अतिरिक्त उनके समयसार रत्नकरण्ड, द्रव्यसंग्रह आदि पद्यानुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। आशा है पाठक रचना से आत्महित की ओर प्रवृत्त होंगे।"

श्री चंदनमलजी 'चांद' (संपादक 'जैन जगत' बम्बई, फरवरी 83)

'विद्वान् लेखक ने प्रवचनसार के भावानुवाद द्वारा एक श्रमसाध्य एवं उपयोगी कार्य किया है। जीव को शुद्धात्मानुभूति हो और वह मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर बनें—इस दृष्टि से प्रवचनसार ग्रंथ अनुपम है। पं. श्री नाथूरामजी डोंगरीय ने इस अनुपम ग्रंथ को हिन्दी भाषा के पद्य और गद्य दोनों में जनजन के उपयोग के लिये अनूदित किया है। आत्म जिज्ञासुओं को ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी और सराहनीय है।

जैन दर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद

डॉ. प्रेमचन्द रांवका
एम.ए., पी.एच.डी., जैनदर्शनाचार्य

राजकीय संस्कृत कालेज
मनोहरपुर (जयपुर) राज.
13-7-84

"अखिल भारत वर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् सागर की ओर से प्रेषित आपकी पुस्तकें द्वय 'जैनदर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद' तथा 'अध्यात्मरहस्य' प्राप्त हुईं। बड़े मनोयोग से मैंने दोनों को आद्योपान्त पढ़ा है। प्रथम पुस्तक तो सामयिक आवश्यकता की सम्पूर्ति में महत्वपूर्ण अपरिहार्य प्रकाशन है। व्यवहार और निश्चय को लेकर तथा कथित एकांतवादी आज समाज में जो बखेड़ा कर रहे हैं—उपासना, पूजन अभिषेक, भक्ति के आयामों में जिस तरीके से सामान्य श्रावक को गुमराह करते हैं—उससे जैन धर्म, संस्कृति कला, विद्या, साहित्य एवं इतिहास पर भी लोग भ्रमित हो रहे हैं।

ऐसे संक्रमण काल में आपने पुनः समयसार, प्रवचनसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के प्रमाण देकर जो आलोक प्रदान किया है, तदर्थ आप साधुवाद के पात्र हैं तथा उक्त श्रेयस्कर कार्य के लिये अभिनंदनीय भी हैं।"

—**प्रेमचन्द रांवका**

प्रोफेसर श्री पं. अक्षयकुमारजी जैन एम.ए.

48/2 रावजी बाजार, इन्दौर
16 मई 84

"जैन दर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद" पुस्तिका मिली, जैन तत्व मीमांसा एवं जैनाचार पर वैज्ञानिक, तर्क पूर्ण, निष्पक्ष, मार्गदर्शक यह पुस्तिका 'गागर में सागर' तो है ही—वर्तमान में दिग्भ्रांत समाज के लिए प्रकाशस्तंभ और मार्गदर्शिका भी है। आवश्यकता है कि इसकी लाखों प्रतियां छपवाकर समाज में वितरण की जावें जिससे जैनागम एवं सिद्धान्त की प्रभावना के साथ ही सत्य तथ्य भी ज्ञात हो सके।

ऐसे सुन्दर सरस विवेचन और विद्वत्तापूर्ण सभी आवश्यक विषयों पर लिखने के लिये साधुवाद और विनम्र प्रणाम स्वीकार करें।

—**अक्षयकुमार जैन**

"पुस्तक मिली, आपने हित मित और प्रिय भाषा में विषय का अच्छा प्रतिपादन किया है। आपका प्रयत्न सराहनीय है। आप आपने कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ हैं और भविष्य में रहें—मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है।'

बीना
1-11-83

बंशीधर शास्त्री (व्याकरणाचार्य)
(भू. पू. अध्यक्ष विद्वत्परिषद्)

'मैंने आपकी यह पुस्तक आद्योपांत पढ़ी है। पुस्तक का विषय सामयिक सुरुचिपूर्ण एवं वर्तमान में बढ़ती हुई भ्रांतियों को निरस्त करने में यथेष्ट सहायक होगा।'

महावीर कीर्ति स्तंभ
नेहरू पार्क कटनी, 6-10-83

धन्यकुमार जैन (सवाईसिंघई)
(पूर्व अध्यक्ष—दि. जैन संघ, मथुरा)

'जैन धर्म'

श्री साहू श्रेयांसप्रसादजी (श्रावक शिरोमणि—जैनधर्म भूषण)

'जैनधर्म पुस्तक प्राप्त हुई। मैंने पुस्तक के पर्याप्त अंश पढ़े हैं और मुझे यह लिखते प्रसन्नता होती है कि पुस्तक सुन्दर है, परिश्रम से लिखी गई है और उपयोगी है। आजकल जिस शैली में पढ़े लिखे जैन व अजैन बंधुओं को शिक्षा देने की आवश्यकता है। आपने उसी शैली का उपयोग किया है और उसमें बहुत सफलता प्राप्त की है। सुविधा होने पर मुझसे इस विषय में जो कुछ हो सकेगा अवश्य करूँगा।'

लाहौर
१४-२-४१

—श्रेयांसप्रसाद जैन (साहू)
(पूर्व अध्यक्ष दि. जन संघ)

संपादक हिन्दुस्तान, न्यू देहली

23 मार्च 41

'इस पुस्तक में सरल हिन्दी भाषा में जैनधर्म के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया गया है। साधारणत: जैनधर्म दार्शनिक धर्म अतएव गूढ़ माना गया है, परन्तु लेखक ने बहुत ही सरल भाषा में इसके सिद्धान्तों का विषद वर्णन करके इस धारणा को निर्मूल करने का प्रयत्न किया है। जैनधर्म के संबंध में जानकारी के लिये यह उत्तम पुस्तक है।'

स्व. रावराजा दानवीर श्रीमंत सेठ सर हुकमचन्दजी इन्दौर

'जैनधर्म' इस पुस्तक की मौलिकता और उसके भाषा प्रयोग को पढ़कर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि जैनधर्म प्रचारार्थ यह उपयुक्त पुस्तक है।"

15-12-41

—स्वरूपचन्द जी हुकमचन्द

श्री संपादक—'जैनमित्र' सूरत

"जैन अजैन में जैनधर्म के सिद्धान्तों का सुलभतया प्रचार करने के लिये इस पुस्तक की रचना की गई है। जिसमें लेखक अच्छी तरह सफल हुए हैं। पुस्तक में जैन धर्म संदेश, विश्वप्रेम, स्याद्वाद, जैनधर्म क्या है? सुख का प्रशस्त मार्ग, देवगुरु धर्म तत्व क्या है? हिंसा और अहिंसा, जैनदर्शन तथा अन्य दर्शनों में अन्तर, जैनधर्म सिद्धान्त, जैनधर्म और ईश्वरवाद, जैनधर्म की प्राचीनतादि 24 विषय हैं। पुस्तक बहुत ही अच्छी हैं।"

द्रव्य संग्रह

श्री पं. सत्यंधरकुमारजी सेठी, उज्जैन

आपके द्रव्य संग्रह व अन्य ग्रंथ मुझे मिले—जिनका पद्यानुवाद आप जैसे विद्वान् द्वारा बड़ी सुन्दर और स्पष्ट भाषा में किया गया है। मुझे द्रव्य संग्रह और उसका प्राक्कथन अत्यधिक रुचिकर मालूम हुआ आपके प्राक्कथन में जो निश्चय और व्यवहार का सही वर्णन किया गया है वह आज के तत्व ज्ञानियों के लिए समझने की चीज है। आपने सही रूप से बतलाया है कि वस्तु के सही स्वरूप को समझने के लिए दोनों ही नय आत्मार्थी को अवसेवनीय हैं।

मोक्ष मार्ग में जितनी उपयोगिता निश्चय की है उसके कम व्यवहार नय की भी नहीं है। नय वस्तु स्वरूप समझने के लिये है। पक्ष पोषण के लिए नहीं। द्रव्य संग्रह इन तथ्यों को समझने के लिये एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसका पद्यानुवाद करके छात्र जगत के लिए आपने एक प्रकाशपुंज दे डाला है।

वास्तव में आपका प्रयास अभिनन्दनीय है आप जैसे निःस्वार्थ विद्वानों की सेवा पर हमें गर्व है।

आपका ही विनम्र
सत्यंधरकुमार सेठी

अध्यात्म रहस्य

'प्रस्तुत पुस्तिका में लेखक ने वास्तव में अध्यात्म रहस्य खोलकर रख दिया है। सांसारिक स्थिति का अच्छा चित्रण करते हुए पुस्तक में आत्महित की ओर प्रेरित किया गया है। आत्मार्थी बंधु इस पुस्तिका का नियमित स्वाध्याय करें। लेखक ने जो भाव पूर्ण अभिव्यक्ति की है उसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।"

'समन्वयवाणी' जून 83
जयपुर

श्रीमती शैलबंसल एम.ए.

□

हार्दिक धन्यवाद !

धर्मप्रभावनार्थ 'जैन साहित्य प्रकाशन' के लिये इस तथा अन्य ग्रंथों के प्रकाशन एवं मुद्रण हेतु अनुदान के रूप में निम्नलिखित धर्मानुरागी महानुभावों ने सहर्ष आर्थिक सहायता प्रदान करने का श्रेय प्राप्त किया है।

—प्रकाशक

२१००१) श्री स्व. मूलचन्द्रजी जैन मायजी एवं परिवार, न्यू पलासिया, इंदौर
५००१) श्री जबरचन्द फूलचंद गोधा, चेरिटेबल फंड शक्कर बाजार, इन्दौर
२५०१) श्री सवाई सिंघई कन्हैयालाल रतनचन्द जैन, पारमार्थिक ट्रस्ट, कटनी
१५०१) श्री स.सिं. धन्यकुमारजी जैन, महावीर कीर्ति स्तंभ नेहरू पार्क, कटनी
१००१) श्री दिगम्बर जैन समाज ट्रस्ट, खातीवाला टैंक, इन्दौर
१००१) श्रीमती सुशीलाबाई जी धर्मपत्नी स्व. डी.सी. जैन, वकील सा. हुकमचंदमार्ग, इन्दौर
१००१) श्री चौधरी कोमलचन्दजी जैन, रेडीमेड वस्त्र व्यवसायी छत्रपतिनगर, इन्दौर
१००१) श्री चौधरी निर्मलकुमारजी जैन, पूर्व प्रिंसिपल, इंद्रपुरी कॉलोनी, इन्दौर
१००१) श्री मोदी पदमचंद सुधीर कुमार एवं समस्त परिवार सुदामानगर, इन्दौर
५०१) श्री गुलाबचदजी अजयकुमारजी बड़कुल, तिलकनगर, इन्दौर
५०१) श्री शांति मेडिकल स्टोर्स, तिलकनगर इन्दौर
५०१) श्री सोनेलालजी जैन, जे.के. गार्मेंट्स मूलचंद मार्केट राजबाड़ा, इन्दौर
५०१) श्री गुलाबचंदजी जैन, के.एस. गार्मेंट्स राजबाड़ा, इन्दौर
५०१) श्री सुखदयालजी जैन केसली वाले, भारिल्ल शर्ट राजबाड़ा, इन्दौर
५०१) श्री तिलोकचन्दजी प्रकाशचंदजी, एम.टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर
५०१) श्री गोकुल चन्द्रजी, परिवेश गार्मेन्ट्स, राजबाड़ा, इन्दौर
५०१) श्री महावीर स्पोर्ट्स साउथ यशवंत गंज, इन्दौर
२५१) श्रीमती सुमन जैन, अमृतलाल जी जैन, रेडीमेड वस्त्र व्यवसायी, इन्दौर
२५१) श्री पूरनचन्दजी जैन देवरीवाले, मैक्सक्रियेशन, राजबाड़ा, इन्दौर
२५१) श्री बाबूलाल जी जैन बुढ़ार वाले, रैनबोक्रियेशन, इन्दौर
२५१) श्री सुरेशचन्द्रजी जैन, नवीन गार्मेंट्स इन्दौर
२५१) श्री गोपीचन्द्रजी सिंघई, दिवाकर गार्मेंट्स, इन्दौर
२५१) न्यू जैन रेडीमेड, १११, सुभाष मार्केट, इन्दौर
२५१) श्री राजेन्द्र कुमार जी जैन, सराफ मोती महल, इन्दौर

२५१) श्री माणिकचंद जी नायक, साउथ यशवंतगंज, इन्दौर

२५१) श्री सुमतिलाल जी जैन, चोपड़ा भंडार शक्कर बाजार, इन्दौर

२५१) श्रीमती यशोदा बाई धर्म पत्नी स्व. सोहनलालजी गुड़ा कंजियावाले, बीना

२०१) श्री शिवरतन जी कोठारी, नंदानगर, इन्दौर

२०१) श्री नेमिचन्द्र गेंदालालजी गुना वाले, एम.टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

१५१) श्री नेमिचंदजी जैन, रामचन्द्र नगर, इन्दौर

१५१) श्री बाबूलालजी सुरेन्द्र कुमार जी, एम टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर

१५१) श्री लक्ष्मीचन्द्र जी आजादकुमारजी ,,

१५१) श्री महेन्द्रकुमारजी पवनकुमारजी ,,

१५१) श्री फूलचंदजी कैलाशचंद जी आरोन वाले ,,

१०१) श्री वैद्यराज कन्हैयालाल जी जैन, विनयनगर इन्दौर

१०१) श्री प्रकाशचन्द्रजी जैन वस्त्र व्यवसायी मदनगंज किशनगढ़ (राज.)

१०१) श्री नाथूलाल जी मोदी, तिलक नगर, इन्दौर

१०१) श्री पं. राजेन्द्रकुमारजी महू (इन्दौर)

१०१) श्री भंवरचन्दजी बंडी ,,

१०१) श्री रूपचन्दजी बर्द्धमान टैक्सटाइल एम.टी.सी. एम., इन्दौर

५१) श्री रतनलालजी पाटोदी, रंगमहल, इन्दौर

५१) श्री खुशालचन्दजी जैन, तिलकनगर ,,

११) श्री हीराचन्दजी जैन ,, ,, ,,

२१) श्री मोतीलालजी वेद ,, ,,

११) श्री सुमतिचन्दजी खासगीवाला ,, ,,

५) गुप्त

लेखक की सर्वोपयोगी अन्य रचनाएँ

रत्नकरण्ड गौरव:—यह पूज्य समन्तभद्र स्वामी के 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' ग्रंथ का हिंदी भाषा में पद्यानुवाद तथा सरल भाषा में भावार्थ सहित सर्वजनोपयोगी स्वाध्याय हेतु सुन्दर रचना है। इसमें सम्यग्दर्शन के आठ अंगों, पंचाणुव्रतों तथा चार दानों में प्रसिद्ध महानुभावों के साथ ही पाँच पापों में प्रसिद्ध हुए पापियों के दुष्परिणामों की तेईस कथाएँ भी दी गई हैं। पृष्ठ संख्या २१२ बड़े साइज में जैन मिशन द्वारा प्रकाशित है। विद्यार्थियों व महिलाओं को अत्यन्त उपयोगी है। न्यौछावर १५) मात्र है।

प्रवचनसार सौरभ:—यह पूज्य भगवत्कुंदकुंद के प्रवचनसार का मूलगथाओं सहित हिंदी में पद्यानुवाद के साथ ही रसल सुबोध भावार्थ सहित स्वाध्याय योग्य आध्यात्मिक सुन्दर सरस रचना है। जैन उदासीनाश्रम तुकोगंज एवं गोधा ग्रंथमाला से प्रकाशित है। न्यौछावर ७) मात्र

द्रव्य संग्रह दीपिका:—श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य विरचित द्रव्य संग्रह का सरल सुबोध हिंदी मे निश्चय व्यवहार नय समन्वित पद्यानुवाद एवं भावार्थ सहित रचना है। मूल गाथाएँ भी संलग्न हैं। समयसार का स्वाध्याय करने से पूर्व इसका अध्ययन करने से अनेक भ्रमों का निवारण हो जाता है। न्यौछावर २)५०

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय पुरुषार्थ:— श्रीमद्मृतचन्द्राचार्य के मूल ग्रंथ के श्लोकों सहित हिंदी कविता के सरस पद्यों और सरल सुबोध भाषा में भावार्थ सहित स्वाध्याय योग्य आध्यात्मिक श्रावकाचार के रूप में सुन्दर रचना है। जो दानी महानुभावों की ओर से अन्य ग्रंथों के साथ बिना मूल्य दी जाती हैं।

जैनधर्म:—इस रचना में जैन धर्म क्या है, उसकी क्या महत्ता और उपयोगिता है? सम्यग्दर्शन, समदर्शिता, सदाचार, अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, अनेकांत, स्याद्वाद, जैन सिद्धांत, अकर्त्तावाद आदि विषयों का नवीन आधुनिक शैली में विवेचन किया गया है—साथ ही जैन धर्म की प्राचीनता का दिग्दर्शन कराते हुए आत्मा में एवं विश्व में शांति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, इसका विवेचन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। विद्यार्थियों तथा सर्वसाधारण जैन अजैन बंधुओं में धर्म-प्रभावनार्थ प्रचार-प्रसार के लिये भी उपयोगी है। सप्तम संस्करण प्रकाशित होने की प्रतीक्षा है। छठा संस्करण समाप्त है।

भक्तामर काव्य:—यह श्रीमानतुंग स्वामी के संस्कृत भक्तामर का हिंदी भाषा में बड़ा ही सरस एवं हृदयस्पर्शी अनुवाद है। भक्त भगवान् के समक्ष स्तुति करते हुए गद्गद् हो जाते हैं। १)

जैनदर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद:-यह ऐसी रचना है जिसे पढ़कर जिन भक्ति, पूजन, वंदना, अभिषेक स्तवन आदि का महत्व और उनसे लाभ सरलता से सहज ही जाने जा सकते हैं साथ ही इन धर्म-साधनों के विरोधियों के कल्पित विरोधों का निराकरण एवं अनेक भ्रमों का उन्मूलन भी हो जाता है। इसमें निश्चयैकांत तथा व्यवहारैकांत के दुराग्रहों का स्याद्वाद द्वारा समयसारादि ग्रंथों के प्रमाण सहित समाधान भी किया गया है। १) रु. पोस्टेज आने पर अन्य रचनाओं के साथ बिना मूल्य भेजी जाती है।

अन्य रचनाएँ:-प्रश्नोत्तर रत्न मालिका, अध्यात्म रहस्य।

आदर्श जैन विभूतियाँ:-यह एक नवीन सर्वजनोपयोगी रचना है। इसमें भगवान् ऋषभदेव भरत, बाहुबली, भगवान् महावीर, अंजनचोर, यमपाल चांडालादि की २५ कथाएँ हैं। जैन मिशन से प्रकाशित है। न्यौछावर ५)।

पता- जैन साहित्य प्रकाशन- एन. आर. जैन एण्ड सन्स

७०, एम.टी. क्लाथ मार्केट इन्दौर, (म.प्र.)-४५२००२.